मराठे और अंग्रेज

लेखक

नरसिंह चिन्तामणि केलकर

द्वारा लिखी मराठी पुस्तक
"मराठे आणि इंग्रेज" का हिन्दी अनुवाद
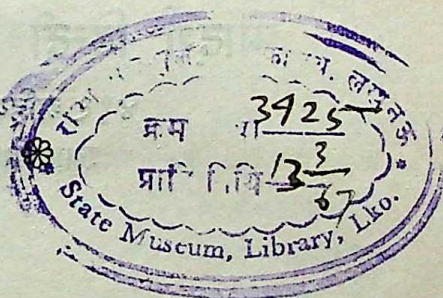
प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन संस्थान

४६२ मालवीय नगर

इलाहाबाद

पहला संस्करण] नवम्बर १९६३ [मूल्य १०)

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
इतिहास प्रकाशन संस्थान
४९२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

प्रधान वितरक
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१९ अहियापुर
इलाहाबाद

मुद्रक
गोपालदास जायसवाल
राज प्रिंटिंग प्रेस
इलाहाबाद

भूमिका

महाराष्ट्र के इतिहास को समझाने वाली बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं; परन्तु विशेष रूप से किसी मुख्य ऐतिहासिक विषय पर टीकात्मक ग्रन्थ का निर्माण करना बहुत अधिक महत्व का कार्य है। ऐसे महत्वपूर्ण कार्य को श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने पूरा किया है, अतः पाठकगण आपके कृतज्ञ हैं। ऐसे ग्रन्थों में यदि स्थल, काल और व्यक्ति-निर्देश में कुछ भूल हो जाय, तो भी उसमें कोई दोष नहीं समझा जाता, क्योंकि वे बातें ऐसे ग्रन्थों में अधिक महत्व की नहीं मानी जातीं। इनमें तो केवल यही देखना चाहिये कि लेखक ने साधक-बाधक प्रमाणों द्वारा अपना कथन कहाँ तक सिद्ध किया है। और इस दृष्टि से देखने वालों को श्रीयुत केलकर महोदय का प्रयास कहाँ तक सार्थक हुआ है, यह मानना पड़ेगा। ग्रन्थकार के इस उद्देश्य का तात्पर्य यही है कि मराठों का राज्य अंग्रेजों ने क्यों और कैसे लिया। वर्तमान काल में इस विषय का महत्व शुद्ध ऐतिहासिक है; परन्तु इसका विचार करने से यह हमें बहुत कुछ बोध देने वाला भी है। ऐसे विषय पर, मुझसे चार शब्द लिखाने की ग्रन्थकार की इच्छा होने पर, मैं उनके इच्छानुसार इस पुस्तक की भूमिका लिख रहा हूँ।

इस पुस्तक के देखने पर जो पहली बात मन में आती है वह यह है कि यह जो वाङ्मय रूप से शतवर्षीय श्राद्ध किया गया है वह अन्तिम श्राद्ध है। क्योंकि शतवर्षीय श्राद्ध की तिथि (अर्थात् तारीख) ३१ दिसम्बर सन १९०२ है। इसी तारीख को मराठा साम्राज्य की स्वतन्त्रता को लोप हुए सौ वर्ष हुए हैं। सन १८०२ के अन्तिम दिनों में मराठाशाही ने अपनी स्वतन्त्रता का अन्त देखा। सर्व-स्वतन्त्र मराठाशाही का नाम पहले से "शिवशाही" चला आता था। यह शब्द कैसा ही साधारण क्यों न हो; पर अर्थ-पूर्ण और व्यापक अवश्य है। इस "शिवशाही" के आज्ञानुसार चलकर उसकी सार-संभाल करने का जिसका अधिकार परम्परागत था, उस बाजीराव पेशवा ने सन १८०२ के दिसम्बर मास की ३१वीं तारीख को अंग्रेजों से बसई की संधि कर उनका आश्रय और अधीनता स्वीकार की और इस प्रकार शिवशाही के स्वातन्त्र्य-सौभाग्य का कुंकुम-तिलक उसी के नादान पुत्र ने सन्धि की बिन्दी से पोंछ डाला।

सन १८१८ में मराठा राज्य नष्ट हुआ, ऐसा कहना ठीक नहीं हैं; क्योंकि यों तो अभी तक दो-ढाई करोड़ की आमदनी का मराठा राज्य मौजूद है, परन्तु इस राज्य को अब कोई भी शिवशाही का भाग नहीं मानता बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य का ही अंग

मानता है। पेशवाई नष्ट होने के कारण बहुत से श्रीमन्त घराने भी उसके साथ-साथ नष्ट हुए और हजारों लोगों की जीविका मारी गयी। यद्यपि यह बात ठीक नहीं हुई तथापि नागपुर का राज्य नष्ट होने की अपेक्षा पेशवाई नष्ट होने की बात का अधिक मूल्य नहीं है। बाजीराव ने यदि अंग्रेजों से सरलतापूर्वक व्यवहार किया होता तो इतर मराठा राज्यों के समान उसका राज्य शायद आज तक बना रहता; परन्तु शिवशाही की दृष्टि से तो उसका मूल्य कुछ भी न होता।

शिवशाही का संस्मरण १६०२ में हो या १६१८ में हो और वह शत सांवत्सरिक हो या वार्षिक अथवा दैनिक हो; पर जब-जब यह स्मरण, महाराष्ट्र में उत्पन्न किसी भी मनुष्य को होता है तब-तब वह खेद और आश्चर्य से अपने मन में यह प्रश्न करता है कि यह शतकालीन राज-वैभव इतने थोड़े समय में कैसे नष्ट हो गया? विशाल-बुद्धि-सम्पन्न और महापराक्रमी बड़े-बड़े योग्य पुरुष शिवशाही में थे, क्या वे सब अदूर-दर्शी ही थे? अंग्रेजों के आक्रमण से स्वराज्य बचाने का उपाय किसी ने पहले से क्यों न योजित कर रखा? परद्वीप से मुट्ठी-भर अंग्रेजों ने आकर शिवशाही को किस तरह पादाक्रान्त कर डाली?

इन प्रश्नों के उत्तर आज तक अनेक लोगों ने दिये हैं। उनमें सब ही ठीक नहीं कहे जा सकते। कुछ तो बिल्कुल ही अप्रयोजनीय हैं। हाँ, बहुत उत्तरों में सत्य का थोड़ा-बहुत अंश अवश्य निर्विवाद रूप से है। ऐसे उत्तरों की इस ग्रंथ में सविस्तार टीका की गई हैं, परन्तु इस विषय का स्वरूप पाठकों के ध्यान में और भी अच्छी तरह से लाने के लिये उनका वर्णन यदि भिन्न रीति से यहाँ किया जाय तो उससे श्रीयुत केलकर महोदय की टीका की पुष्टि और भी अधिक होगी।

जिन मराठों की कर्त्तव्यशीलता से एक दिन महाराष्ट्र महत्तर राष्ट्र बन गया था, और मराठे लोग सम्पूर्ण भारत के लिए अजेय थे उन्हीं मराठों को, जब कि अंग्रेजों ने जीत लिया, तो स्पष्ट है कि अंग्रेजों में जो राजकीय दुर्गुण नहीं थे वे मराठों में जन्म-सिद्ध थे और वे असुविधा की परिस्थिति से भी जकड़े हुए थे। अब देखना है कि मराठों के दुर्गुण और वह परिस्थिति कौन सी थी।

मराठों में यदि कोई प्रमुख दुर्गुण कहा जा सकता है तो वह यह है कि उनमें प्रायः देशाभिमान का अभाव था। भारत में ही इस सद्गुण की उत्पत्ति बहुत कम होती है, तो वह महाराष्ट्रों के हिस्से में कहाँ से अधिक आ सकती है। सम्पूर्ण जगत को प्राचीन काल से मालूम है कि हम भारतवासी गरीब और भोले होते हैं। चाहे कोई भी विदेशी हम पर चढ़ाई करे या हमारा राज्य छीने, पर जब तक वह हमारी ग्राम संस्था, धार्मिक विश्वास, रीतिरिवाज और देश के अधिकारों में हाथ नहीं

डालता तब तक वह कौन है, क्या करता है, इस झगड़े में हम नहीं पड़ते। हमें यह तो मालूम है कि धार्मिक जगत में पर-मत-असहिष्णुता एक दुर्गुण है, पर हम नहीं जानते कि राजनीतिक संसार में पर-चक्र-असहिष्णुता एक अमूल्य सद्गुण है। बहुत लोग समझते हैं कि शिवाजी से लेकर शाहू के शासन के प्रारम्भ तक मराठों में देशाभिमान की वायु संचार करती थी, परन्तु हम इसे ठीक नहीं मानते। हमारी समझ में तो मराठों की उस वृत्ति को देशाभिमान के बदले राज्याभिमान कहना उचित होगा। क्योंकि महाराजा की सेना के जो मराठे मुसलमानों से लड़ते, उन्हीं के भाई-बन्धु मुसलमानों की गुलामी में रहकर, एक निष्ठा से, महाराज की सेना से लड़ते थे। शाहू के समय में राज्य के दो विभाग हो जाने पर इस राज्याभिमान के भी दो भाग हो गये। शाहू महाराज के मरण के पश्चात् मराठा राज्य के और भी टुकड़े हुए और पेशवे, भोंसले, गायकवाड़, आंग्रे, प्रतिनिधि, सचिव, कोल्हापुर आदि राज्य उत्पन्न हुये और इन संस्थानों से सिंधिया, होलकर, पटवर्धन, रास्ते आदि अनेक राज्यों का निर्माण हुआ जिससे उक्त राज्याभिमान के और भी छोटे-छोटे टुकड़े होते-होते अन्त में वह भी अदृश्य हो गया। यदि कहा जाय कि पेशवा के समय में मराठों में राज्याभिमान था तो उस समय पेशवाई के शत्रु निज़ामअली और हैदरअली के आश्रय में हजारों मराठे सरदार और जिलेदार थे जो पेशवा से लड़ने और उनकी हानि करने में जरा भी कसर नहीं करते थे। यदि कहा जाय कि पेशवाई के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को अभिमान था तो हम देखते हैं कि वे भी पेशवा से द्वेष करने वाले जाट, रूहेले, राजपूत, अंग्रेज, फ्रेंच आदि लोगों के आश्रय में रहकर पेशवा का अकल्याण करने में प्रवृत्त थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की बम्बई की पैदल सेनाओं में पेशवाई की प्रजा कहलाने वाले मराठे ही थे और उनमें से हजारों ने पेशवा से युद्ध करते हुए प्राण दिये थे। इसके विरुद्ध अंग्रेजों का देशाभिमान कितना प्रखर एवं जागृत था, यह किसी से छिपा नहीं है। एक अंग्रेज डाक्टर ने बादशाह की लड़की को औषधि देकर अच्छा किया। वह यदि चाहता तो बादशाह से लाख-दो लाख रुपये-पारितोषिक में ले लेता; परन्तु डाक्टर ने अपने स्वयं के लिये कुछ न माँगकर यही माँगा कि मेरे देश के लोगों को व्यापारिक सुभीते दिये जायँ। इसी प्रकार मीरजाफर के मृत्यु-पत्र के कारण क्लाइव को जो धन मिला था उसका उपयोग उसने अपने देश के सैनिक-अफसरों के लाभ के ही अर्थ में किया, परन्तु हमारे देश में इसके विरुद्ध होता है। खरडा की लड़ाई के बाद संधि ठहराने के समय निजामअली ने नाना फड़नवीस को जो तीस हजार की आमदनी के गाँव दिये वे उन्होंने अपनी निज सम्पत्ति में शामिल कर लिये।

चार जनों का मिलकर एकाध संस्था चलाना या किसी काम को पूरा करना हमारे स्वभाव के बाहर है। इसलिये काम यदि कोई ऐसा आ पड़ता है तो उसे एक

चित्त से हम नहीं चला सकते । मतभेद और दलबन्दी होकर अन्त में झगड़े खड़े हो जाते हैं और कभी-कभी ये झगड़े बढ़कर कुछ का कुछ अनर्थ कर डालते हैं । यह बात जिस तरह आज के व्यवहार में दिखलायी पड़ती है, पहले के राज्य-कार्य में भी उसी प्रकार दिखलायी पड़ती थी । जिस समय शिवाजी महाराज दिल्ली गये थे उस समय मोरोपंत पेशवा और अन्नाजी दत्तो सचिव को राज्य का कुल अधिकार सौंप गये थे । परन्तु उन दोनों में परस्पर विरोध और द्वेष उत्पन्न हो गया था । जिसके कारण राज्य का सुव्यवस्थित रूप से चलना कठिन हो गया था । शिवाजी महाराज के दिल्ली से शीघ्र आ जाने के कारण उस समय इन दोनों के झगड़े का कुछ अधिक बुरा परिणाम नहीं हुआ; परन्तु आगे चलकर संभाजी के समय में उसका बुरा फल प्रकट हुए बिना न रहा । राजाराम महाराज ने संताजी को मुख्य और धनाजी को द्वितीय सेनापति नियत कर सेना का सब कारभार उनके सुपुर्द किया था; परन्तु उनमें परस्पर अनबन हो गई और सन्ताजी मारा गया । इसी प्रकार शाहू के समय में एक चढ़ाई पर सैन्यकर्त्ता और सेनापति भेजे गये थे । बस दोनों में झगड़ा हुआ और सैन्यकर्त्ता पर भयानक संकट आ पड़ा । प्रत्येक चढ़ाई के समय का पत्र-व्यवहार देखने से पता चलता है कि शायद ही कोई ऐसा विरला प्रसंग मिले जिसमें नीचे के अधिकारी या सरदार अपने मुख्य अधिकारी या सरदार से न झगड़े हों और छेड़-छाड़ न की हो । बारह भाई के कार्यों का किस प्रकार शोर हुआ ? नाना, बापू, मोरोबा और चिन्तो विट्ठल आपस में किस प्रकार लड़े ? और अन्त में दोनों ने अपना बदला चुकाने की हठ पकड़कर पेशवा का राज्य अंग्रेजों के हाथ में देने के फरेब किस तरह से रचे यह किसी से छिपा नहीं है । यह बात नहीं है कि अंग्रेजों में ऐसे झगड़े नहीं होते हैं; परन्तु उन्हें समूह रूप से अभ्यास होने के कारण उनके झगड़ों से यह भय नहीं होता कि वे बढ़कर बने-बनाये कार्य का नाश कर देंगे ।

हमारे द्वारा समूह-रूप से किये गये कार्य सफल न होने के कारण हमारा राजतंत्र पाश्चात्यों के समान संस्था-प्रधान नहीं हो सकता और इसलिये वह व्यक्ति-प्रधान ही होता है अर्थात् हमारी प्रकृति को यही सुहाता है कि कोई बुद्धिमान, उत्साही, निग्रही और प्रबल व्यक्ति आगे बढ़कर मुख्याधिकारी बने और शेष सब उसकी प्रेरणा से काम करें । परन्तु जब कोई ऐसा प्रबल व्यक्ति अधिकारी होता है तब वह इस बात का प्रबन्ध करता है कि यह अधिकारी उसके घराने में सदा बना रहे । यदि इस प्रकार एक कुल के अधिकारी एक के बाद एक उत्तम उत्पन्न हों तो राजतंत्र अच्छी तरह चलता है; परन्तु यदि ऐसा नहीं होता है और एकाध व्यक्ति खराब निकल जाता है तो सब बना-बनाया काम बिगड़ जाता है । शिवाजी ने मनुष्य तैयार किये, किले बाँधे, सेना और जहाजी बेड़ा निर्माण किया तथा प्रत्येक विभाग की व्यवस्था कर

दो; परन्तु उनके बाद संभाजी महाराज के गद्दी पर बैठते ही तीस-पैंतीस वर्षों की मेहनत धूल में मिल गयी। बालाजीपन्त नाना से लेकर माधवराव तक चारों पेशवे उत्तम उत्पन्न हुये जिनके कारण पेशवाई का राज्य-तंत्र, अच्छी तरह से चला, परन्तु उनके बाद रघुनाथराव की मूर्ति आगे आते ही झगड़े खड़े हुये और राज्य की गिरती दशा का प्रारम्भ हो गया। यह ठीक है कि नाना फड़नवीस एक कुशल राजनीतिज्ञ थे और महादजी सिंधिया एक अद्वितीय सेनानायक थे; परन्तु इनके बाद हुआ क्या? पूर्ण अन्धकार! उनकी बुद्धि और कार्य-कुशलता उन्हीं के साथ चली गयी!

ईस्ट इंडिया-कम्पनी के समान संस्थाओं में इस प्रकार की घटना कभी नहीं हो सकती। पहले तो उनका प्रमुख अधिकार अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में नहीं जा पाता, अगर जाता भी है तो वह संस्थाओं के कायदे-कानूनों से इतना बँध जाता है कि वह संभाजी या बाजीराव के समान स्वच्छन्द व्यवहार नहीं कर सकता। संस्थाओं के कारो-बार में सदा समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। उनमें नवीन उत्साह, नवीन कल्पनायें और नवीन माँगों की वृद्धि होती रहती है। इस कारण उनका जोश और व्यापकता स्थायी रहकर क्रियाशील रहता है। यहाँ पर इस प्रकार के विवाद की आवश्यकता नहीं है कि एक सत्तात्मक राज्य अच्छा होता है या अनेक सत्तात्मक। हमें यह दिखलाना है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्यतंत्र संस्था-प्रधान था और पेशवाई का व्यक्ति-प्रधान। व्यक्ति-प्रधान राज्य उत्साह-हीन होता जा रहा था और कम्पनी का राज्य-तंत्र सुव्यवस्थित और उन्नति पर था।

हम लोगों में ज्ञानार्जन की तीव्र इच्छा भी नहीं है। हमें नवीन आविष्कारों और कल्पनाओं की चाह भी नहीं है। यदि कोई आविष्कारक अथवा शोधक उत्पन्न हो जाता है तो पास का पैसा खर्च कर उसकी कल्पना या खोज को व्यवहार में लाने की आवश्यकता हमें नहीं मालूम पड़ती। हाँ, हममें केवल दूसरों का अनुकरण करने की बुद्धि है। तोपखाने ही की बात लीजिये। जब पहले-पहल यूरोपियनों का जहाजी बेड़ा हमारे यहाँ आया, तब हमने जाना कि यूरोपियन लोग तोप चलाने में बहुत चतुर हैं और तोपों के बल पर ये लोग आश्चर्यजनक काम कर सकते हैं। हमने इस बात में उनका अनुकरण किया और गोरे लोगों से तोपें खरीदी और कुछ तोपें अपने यहाँ भी बनवाया तथा गोला-बारूद भी गोरों के कहे अनुसार बनवाया। परन्तु हम आगे चल कर इस काम में उत्तरोत्तर सुधार न कर सके। इसीलिये इस कार्य में हम अंग्रेजों और फ्रेंचों की बराबरी न कर सके। वे लोग बराबर सुधार करते गये और हमने सोलहवीं शताब्दी के फिरंगी लोगों के उदाहरण को जो पकड़ा सो फिर न छोड़ा। उस समय अंग्रेजों ने विजय दुर्ग और दस वर्ष बाद मालवाड़ ले लिया; पर हमने क्या किया? हमने सिर्फ मन ही मन जले हुए दिल से, "आज अंग्रेजों ने अमुक ले लिया,

कल अमुक छीन लिया," आदि उदगार प्रकट करने और उनसे वापिस लेने के कार्य को असाध्य समझने के सिवा और कुछ नहीं किया। अंग्रेजों ने दस वर्ष के बाद फिर साष्टी ले ली, पर हम तब भी सावधान न हुए और तोपों के बल पर अपने किले की रक्षा किस प्रकार की जाय, यह हमने नहीं सीखा। ऐसी दशा में सिंहगढ़, पुरन्दर, रायगढ़, वासोटा आदि किले अंग्रेजों ने हमसे छीन लिये तो इसमें दोष किसका? और यह बात भी नहीं है कि उस समय हमारे यहाँ तोपें ढालने वाले, गोला बारूद तैयार करने वाले अथवा चांप की बन्दूक बनाने वाले कारीगर लोग नहीं थे। पूने के तोपखाने में चाहे जैसी तोप अथवा बन्दूक—देशी अथवा विदेशी—कारीगर ढाल लेते थे। इसके अलावा मिरज के समान छोटे से किले में भी इच्छानुसार तोपें ढाली जाती थी। कुलपी आदि गोले, एक घंटे-पौन घन्टे तक लगातार जलने वाली चन्द्र ज्योति, बाण और बारूद भी हमारे यहाँ तैयार होती थी। उस समय पाँच धातु की तोप ढालने की मजदूरी प्रति सेर सौ रुपये निश्चित थी। यह विवरण पुराने कागज पत्रों में मिलता है। परन्तु अंग्रेजी तोपें हमारी तोपों से सस्ती होती थीं। अतः हमारी गरजमन्द सरकार वक्त पड़ने पर अंग्रेजों से तोपों को खरीदती थी। हानि सहकर भी स्वदेशी वस्तु खरीदने और देशी कारीगरी को बढ़ावा देने का तत्त्व उस समय भी हमें मंजूर नहीं था।

उस समय के लेखों से यह सिद्ध नहीं होता कि पेशवाई के समय में तोपखाने की व्यवस्था प्रशंसा योग्य थी। पानसा ने कहीं कभी तलवार (अथवा उस समय की भाषा में तोप) चलायी थी, बस इसी कीर्ति पर वे पेशवाई के अन्त समय तक तोपखाने के दरोगा के पद पर बने रहे। तोपों की कीर्ति, पहले किसी समय की तोप, उन तोपों की मार पर अवलम्बित रहती थी। वर्तमान में भले ही उससे कुछ काम न निकलता हो। किसी भी लड़ाई में मराठी तोपों को मार का अधिक भय नहीं रहता था; क्योंकि एक तो गोला-बारूद के खर्च पर दरोगा की सदा काक-दृष्टि लगी रहती थी, दूसरे अधिक फायर करने से तोपों के फूटने अथवा बिगड़ने का भय रहता था। हमारी सेना का घेरा यदि किसी किले पर होता तो सेना के गोलंदाज तोप से एक फायर करके चिलम पीने बैठ जाते, घड़ी-दो घड़ी गप्पें मारते, फिर उठते और फायर करते और फिर वही धन्धा चालू। इस तरह दिन में दस-पाँच फायर करके तोप को मोर्चे पर से उतार देते और समझते कि हमने आज बहुत बड़ा काम किया। ये जो कुछ लिखा गया है, उसमें बिल्कुल अतिशयोक्ति नहीं है। अंग्रेज प्रेक्षकों ने जो कुछ लिखा है उसी के आधार पर हमने लिखने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त उस समय का पत्र व्यवहार देखने से इस प्रकार की कार्य पद्धति अक्षरशः सत्य मालूम होती है। सन १७७४ से १७८१ तक पेशवाई सेना और अंग्रेजों का जो छः वर्ष तक रह-रहकर

युद्ध होता रहा उसमें पानसा ने कहने लायक शायद ही दस पाँच बार तोपों से फायर किये होंगे। इस युद्ध में हरिपन्त तात्या की तोप मारने की एक भिन्न पद्धति ही होती थी। वे लम्बे पल्लों की बहुत बड़ी तोपों की मार डेढ़-दो कोस की दूरी से अंग्रेजों पर करते थे। उनके इस तरह करने का कारण केवल इतना था कि यदि भाग्य से टोपी वालों को एक दो गोले लग गये तो उनके सौ-पचास आदमी मर जावेंगे, यदि ऐसा नहीं हुआ और उन्होंने आक्रमण कर दिया तो आक्रमण होने के पहले ही तोपें लेकर भाग सकेंगे।

कोई कह सकता है कि तोपखाने के सम्बन्ध में जो इस प्रकार की लापरवाही का वर्णन किया गया है, वह दौलतराव सिंधिया के ऊपर नहीं लागू हो सकता, क्योंकि अंग्रेज़ों ने भी यह बात मानी है कि उसका तोपखाना अँगरेजों की बराबरी पर था। हम भी यह स्वीकार करते हैं, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारे भारतवासी तोप चलाने में अंग्रेजों की बराबरी पर थे। चूँकि सिंधिया का तोपखाना फ्रेंच और अंग्रेज दोनों ने तैयार किया था इसलिए वह तोपखाना उत्पादन क्षमता में अधिक था और साथ ही साथ उस तोपखाने के वे ही व्यवस्थापक थे। अतः इस प्रकार की पराधीनता से अन्त में सिंधिया का लाभ न होकर प्रत्युत घात ही हुआ, क्योंकि इन विदेशी लोगों में से बहुत से आदमी ठीक मौके पर सिंधिया को धोखा देकर अंग्रेजों से जा मिले। स्वयं सिंधिया की सेना का प्रमुख मुसा पिरू सबसे पहले जा मिला और विलायत चला गया। अतः उसने जो तोप और बन्दूक बनाने का कारखाना खोल रखा था वह गोला-बारूद सहित बिना परिश्रम के अंग्रेजों के हाथ लग गया।

युद्ध में सवारों की अपेक्षा तोपों का सम्बन्ध पैदल सेना से बहुत अधिक रहता था। शत्रु का आक्रमण होने पर तोपों की रक्षा पैदल सेना ही कर सकती है। अतः यदि आक्रमण करने वाली सेना कवायदी हो तो बचाव करने वाली सेना का भी कवायदी होना आवश्यक है। हैदरअली की सेना कवायदी थी, फिर भी, माधवराव पेशवा के अन्त तक, अपनी सेना को कवायदी रखने की आवश्यकता पूना दरबार को मालूम नहीं हुई, क्योंकि एक तो हैदरअली की सेना नाम मात्र को कवायदी थी, दूसरे इस प्रकार अधिक सेना रखने का सुभीता पेशवा को भी नहीं था। उनका सम्पूर्ण राज्य प्रायः अनेक हिस्सों में बँटा हुआ था और यह हिस्सा सिर्फ घुड़सवारों का था। जो कुछ हिस्सा सरकार के आधीन था उसकी आय से खर्च निकाल कर अंग्रेजों से लड़ने के लिये सेना तैयार रखना आवश्यक था। यदि सवार सेना घटाकर पैदल सेना बढ़ाने का विचार किया जाता तो महाराजा के किये हुए प्रबन्ध में बिना कारण हस्तक्षेप करने का अधिकार पेशवा को भी नहीं था। फिर नाना फड़नवीस को

तो ऐसा अधिकार होता ही कहाँ से ? बसई, प्रभृति, कोंकण प्रान्त की रक्षा अंग्रेजों से करने के लिये नाना ने जो दो-चार वर्षों तक दस-पन्द्रह हजार सामयिक सेना रखी थी वह सब अशिक्षित थी। उस पैदल सेना में सिंधी, रुहेले, अरबी, पुरबिया आदि सब परदेशी लोग थे।

अश्वारोही सैनिक, पैदल सेना को सदा से तुच्छ समझते आये हैं। अंग्रेजों से सालवाई की सन्धि तक मराठों ने जो लड़ाइयाँ लड़ीं, उनमें परोक्षरीति से लड़ने में मराठों का बहुत-कुछ बचाव हुआ। प्रत्येक अवसर पर, एक अंग्रेज का सामना करने के लिये दस-दस-बीस-बीस मराठों के होने से, रघुनाथराव को पेशवा बनाने का अंगरेजों का षड़यंत्र सफल न हो सका। अत: नवीन पैदल सेना रखकर अंग्रेजों की विद्या प्राप्त करने की अपेक्षा अपनी पुरानी पद्धति को बनाये रखना नाना, सिंधिया, पटवर्धन, फड़के आदि ने उचित समझा। परन्तु कुछ समय पश्चात्, टीपू से युद्ध करने का अवसर आया और उसकी कवायदी सेना की तैयारी के समाचार मराठे राजाओं और सरदारों ने सुन ही रखे थे। अत: उनका विश्वास फिर डगमगाने लगा। सन १७८६ में टीपू पर मुगल और मराठी सेना ने मिलकर चढ़ाई कर दी। हरिपन्त तात्या मराठी सेना के संचालक थे। उस समय टीपू ने मराठी और मुगल सेना को तोपों की मार से बहुत परेशान किया और उन पर बार-बार छापा मार कर उनकी बहुत दुर्दशा की। उस समय सिंधिया ने उत्तर भारत में डिवाइन नामक फ्रेंच सरदार के द्वारा दो पलटनें तैयार करवाई जो केवल आस-पास के जमींदारों के डराने के लिये ही थी। सिंधिया ज्यों-ज्यों टीपू-मराठा युद्ध की असफलता के समाचार सुनता त्यों-त्यों उसे निश्चय होता गया कि इस अपयश का परिमार्जन करने के लिये टीपू पर चढ़ाई करने की बारी कभी न कभी अपने पर भी आवेगी। उस समय दिल्ली के बादशाह की राज्य-व्यवस्था सिंधिया करते थे। अत: बादशाह के नाम पर वे काफी कवायदी सेना रख सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी, अर्थात् दो-तीन वर्षों में बहुत सी पलटनें और उसके लायक तोपों का सारा सामान उन्होंने तैयार करवा लिया। सन १७९१ में जब महादजी सिंधिया देश में आये तब श्री रंगपट्टन की चढ़ाई में शामिल होने की उनकी इच्छा थी, परन्तु उनके पूना आने के पहले ही सुलह हो गयी थी और सेना लौटने के समाचार आ चुके थे। अत: उनका वह निश्चय जहाँ का तहाँ ही रह गया। यह नहीं कहा जा सकता कि कवायदी सेना के द्वारा अंग्रेजों पर प्रभाव जमाने की इच्छा सिंधिया की नहीं रही होगी; परन्तु इन पलटनों को रखने का कुछ दूसरा उद्देश्य था; यही यहाँ दिखलाने का अभिप्राय है।

सिंधिया की इस नवीन कवायदी फौज के प्रबन्धक अंग्रेज और फ्रेंच थे। उन्होंने यह नवीन फौज बहुत अच्छी तरह से तैयार की थी; परन्तु अंग्रेजों से युद्ध

करते समय सिंधिया को इस फौज से बहुत कम लाभ मिला। युद्ध के समय दौलतराव सिंधिया कहते थे कि हम अपनी सेना द्वारा युद्ध करेंगे और रघूजी भोंसले का कहना थ' कि मेरे पास सेना नहीं है अत: मैं तो छिपकर युद्ध (गुरिल्ला-लड़ाई) लड़ना चाहता हूँ। दौलतराव सिंधिया की सवार सेना भी यही इच्छा रखती थी। इस तरह आपसी भेद-भाव के कारण कहा-सुनी ही होती रही और युद्ध की व्यवस्था कुछ न हो सकी। फल यह हुआ कि भोंसले का छिपकर लड़ना जैसा का तैसा रखा रह गया, दौलतराव सिंधिया की सवार सेना ठंडी पड़ गयी और अंग्रेजों की सब मार नई पैदल सेना पर आ पड़ी। इसके अतिरिक्त कुछ सरदार भी ठीक उसी मौके पर अंग्रेजों से मिल गये और इस प्रकार युद्ध की व्यवस्था को नष्ट हो जाना पड़ा। इस समय जो भी रही-सही पलटनें थी, वे भी इसी कारण से एक जगह पर एकत्रित न हो सकीं। जो कुछ थोड़ी सेना थी उसके साथ असाई, अलीगढ़, लासबारी, प्रभृति स्थानों पर अंग्रेजों से युद्ध हुए जिसका नतीजा पराभव के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था?

जब अंग्रेजों से लड़ने का समय सिंधिया और भोंसले का आया, तब उन्होंने होलकर को भी अपने में शामिल करने के बहुत प्रयत्न किये; परन्तु उस समय होलकर उनसे नहीं मिले और दूर से युद्ध का तमाशा देखते रहे। इस युद्ध के बाद जब होलकर और अंग्रेजों में युद्ध हुआ तब होलकर अकेला पड़ गया। अत: वह संकट में पड़ गया। उस समय होलकर ने मराठा राज्य के सम्पूर्ण सरदारों को सहायता-पत्र भेजा। परशुराम पंत प्रतिनिधि को जो पत्र भेजा था उसका आशय इस प्रकार है।

"आजतक मिलकर सब लोगों ने एक दिल से हिंदू-राज्य चलाया; परन्तु कुछ समय से सबके राज्यों में गृह-कलह होने से राज्य अलग-अलग होते जा रहे हैं। इसे नष्ट करने के लिये सबको एक-दिल होकर मिलना उचित है। तभी यह बुराई नष्ट होगी और पहले के अनुसार धर्माचार और हिन्दूपन स्थिर रह सकेगा। हमने जो मार्ग ग्रहण किया है उसे आजन्म चलाने का निश्चय है। अब परमेश्वर इसके अनुकूल होकर जो करें सो ठीक है। परन्तु यह काम केवल एक करे और बाकी बैठे तमाशा देखें और अपना राज्य संभाले, तो इसका परिणाम क्या होगा? इस पर आप मन में विचार करें और जिससे हिन्दू धर्म की स्थिरता और परिणाम में लाभ हो वह करें। इसका विचार यदि आप-जैसे नहीं करेंगे तो कौन करेगा?" कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पत्र में प्रकट हुए विचार उचित हैं; पर यही विचार एक वर्ष पहले होलकर के मन में उठे होते और उसने सिंधिया और भोंसले को सहायता दी होती तो आज यह नौबत न पैदा होती।

यहाँ तक हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि मराठों ने विदेशी लोगों के तोपखाने से और विदेशी कवायदी पलटन अथवा अरबों की अशिक्षित सेना से तथा विदेशी अधिकारियों को नौकर रखकर उनसे जो राज्य-रक्षा की आशा की थी वह किस प्रकार निराशा की बेदी पर बलि चढ़ गयी ? इतना ही धन खर्च कर यदि उनकी पैदल सेना बनाकर और उस पर देशी अधिकारी नियुक्त कर दिया होता, तो क्या उसका कुछ उपयोग न हुआ होता ? परन्तु ये ठहरे देशी, ये किसकी नजर में आ सकते थे ? पठान, अरब, रुहेले आदि सैनिकों का वेतन सात रुपया से दस रुपया तक था, परन्तु मावलों को तीन-चार रुपया ही दिया जाता था। परदेशी लोग मराठों की ओर से चढ़ाइयों पर जाते थे और मावले बेचारे घर-द्वार, देव-मन्दिर, स्त्री-पुत्र आदि सँभालने का काम करते थे। महाराज शिवाजी के समय में जो 'मावले' ईरान, काबुल, कन्दहार आदि के ऊँचे-पूरे और कठोर हृदय वाले पुरुषों को काल के समान दीखते थे, पेशवा के समय में वे ही 'मावले' अयोग्य बना दिये गये। वर्तमान समय में भी ये मावले प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अंग्रेज और फ्रेंच सैनिकों के कंधे से कंधा भिड़ाकर पिछले महायुद्ध में बराबरी से लड़ते थे और जर्मनों के होश गुम कर देते थे। योग्यता को बढ़ावा और शिक्षण देने से ये लोग कैसे होंगे, यह बात पेशवाई जमाने में किसी के दिमाग में न आयी। इस पर अंग्रेज अधिकारी कहते रहे कि यह लड़ने की खूबी मावलों की मर्दानगी की नहीं थी और न उनके शिक्षण की थी, किन्तु हमारी थी, क्योंकि हम उन्हें अपने हुक्म से युद्ध-क्षेत्र में भेजते थे और अपने अनुकूल काम-काज करवाते थे और उनको शिक्षित करते थे। परन्तु मेरे दिमाग में यह बात नहीं जमती। जब हम भारतवासियों को पलटन का मुख्य अधिकारी ही नहीं बनाया जाता था तब हम अंग्रेजों का कथन किस प्रकार सत्य मान सकते हैं ?

First Maratha War यानी "मराठों से अंग्रेजों का पहला युद्ध" परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ईस्ट-इंडिया कम्पनी का युद्ध सभी मराठों से अर्थात् सम्पूर्ण मराठा राज्यों से हुआ हो। हम यह कैसे भूल सकते हैं कि पेशवाई पूर्णतया मराठा राज्य अथवा शिवशाही नहीं थी। वह शिवशाही का एक बड़ा अंश था। यद्यपि यह ठीक है कि शाहू महाराजा ने सम्पूर्ण मराठा राज्य पर पेशवा की आज्ञा चलाना स्वीकार कर लिया था, परन्तु उस आज्ञा को भी उन्होंने कुछ नियमों से मर्यादित कर रखा था, जिसके उल्लंघन करने की क्षमता पेशवा में भी नहीं थी। शाहू की मृत्यु के समय में राज्य में पेशवा, भोंसले, गायकवाड़, आंग्रे, सावंत, प्रतिनिधि, सचिव, अक्कलकोटवाले आदि कितने ही सरदार थे और इन सब के छोटे-बड़े राज्य थे। मृत्यु के समय शाहू का विचार था कि मेरी मृत्यु के बाद ये सरदार लोग कोई बन्धन न रहने के कारण स्वतन्त्र हो जावेंगे और सरकारी नौकरी नहीं करेंगे, अतः

राज्य की वृद्धि और उत्कर्ष होना बन्द हो जावेगा, और यह भी सम्भव है कि ये लोग आपस में लड़कर राज्य को ही नष्ट कर दें। इसलिये शाहू ने निश्चय किया कि इन पर देख-रेख करने वाला कोई न कोई अधिकारी मेरी मृत्यु के बाद होना ही चाहिये। भोंसले और गायकवाड़ शाहू की ही जाति के थे। अतः इन दो में से किसी एक को यह काम सौंपने का विचार शाहू ने किया। परन्तु दोनों ने यह विचार करके कि हम पेशवा की स्पर्धा में टिक न सकेंगे, उसे अस्वीकार कर कर दिया। जिससे इस अधिकार को शाहू ने पेशवा को दिया और सनद दी कि "तुम सरकारी फौज और उसके सब सरदारों पर शासन करके राज्य सम्भालो और दूसरे देशों पर भी आक्रमण करो। प्रबन्धकों की भीतरी बातों में तुम कदापि दखल न देना और जब तक वे ईमानदारी से सरकारी नौकरी करें तब तक उन्हें प्रबन्ध के लिये जो प्रान्त दिया गया है वह उन्हीं के अधिकार में रहने देना। मैंने अपने चचेरे भाई संभाजी को कोल्हापुर का राज्य देकर स्वतंत्र कर दिया है। वह उन्हीं के पास रहने दिया जाय और इनाम, वार्षिक वृत्तियाँ, जागीरें आदि जो मैंने और मेरे पूर्वजों ने दे रखी हैं, वे नियमानुसार चलाई जावें।"

इस सनद से यह बात ध्यान में आवेगी कि पर-चक्र के निवारण करने और राज्य-वृद्धि के लिये दूसरे राज्यों पर चढ़ाई करने के लिये गायकवाड़, भोंसले आदि सरदारों की सेना को, नौकरी के लिये बुलाने का, पेशवा को अधिकार था और जो सरदार उनके इस अधिकार को नहीं मानते या पर-चक्र से मिलकर विद्रोह करते, तो उनके शासन का अधिकार छीन लेने का भी अधिकार पेशवा को था। शाहू की सनद के अनुसार यह अधिकार नाना साहब और माधवराव पेशवा ने यथाशक्ति चलाया; परन्तु जब यही कार्य कार्य-आधिक्य के कारण नाना फड़नवीस के लिये आया तब कोई भी उनके इस अधिकार को मानने के लिये तैयार न था। ऊपर कहा जा चुका है कि मराठा राज्यों का कारबार व्यक्ति प्रधान रहा है और इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य उसी के साथ जुड़ा था। अतः शाहू का सा प्रभाव नाना साहब में और नाना साहब का माधवराव में नहीं था। फिर माधवराव का सा प्रभाव नाना फड़नवीस में कहाँ से हो सकता था?

ऐसी दशा में जब अंग्रेजों से लड़ाई छिड़ी तब गायकवाड़ ने अंग्रेजों से अलग संधि करके अपना बचाव किया। आंग्रे और सावंत इस लड़ाई के प्रति उदासीन ही थे। भोंसले तो ऊपर से मीठी-मीठी बातें करते थे पर आन्तरिक रूप से वे अंग्रेजों के साथ थे। अतः उन्होंने भी पेशवा को सहायता नहीं दी। कोल्हापुर वाले सामन्त तो जान बूझकर भी पेशवा के विरुद्ध थे। सचिव सरकारी नौकरी पर थे ही नहीं, हाँ

अक्कलकोट वाले और प्रतिनिधि ये दो सरदार डाँट-डपट के कारण दरबार में हाजिर रहते थे, परन्तु उनकी सेना नहीं के बराबर थी। अतः उसका उपयोग भी नाम-मात्र को था।

यह तो पहले के सरदारों की दशा थी। अब पेशवा ने जो विन्चुर, राजेबहादुर, रास्ते, पटवर्धन, धायगुड़े, वितीवाले आदि सरदार बनाये थे उन सब की सेना मिलकर पन्द्रह-बीस हजार थी। इसके सिवा हुजराती के जो पुराने मानकरी, सरदार, थोरात, घोरपड़े, पाटनकर आदि थे उनकी कुल पाँच-छः हजार फुटकर सेना नौकरी पर थी। यह हुई पेशवा की दक्षिण की फौज। उत्तर-भारत में सिन्धिया और होलकर मुख्य थे। इन दोनों के पास चालीस-पैंतालिस हजार सेना थी जिसमें से आधी उनके प्रदेश के रक्षार्थ छोड़कर आधी सेना दक्षिण में लायी जाने योग्य थी। इसके अलावा पेशवा सरकार की फौज पूना के आस-पास थीं। उनमें तीन-चार हजार घुड़सवार थे। बस यही सब पेशवा की तैयार रहने वाली सेना थी। इतनी सेना के बल पर भी पेशवा अंगरेजी सेना को क्षत-विक्षत कर सकते थे; परन्तु नाना फड़नवीस के समय में इतनी बड़ी फौज की भी हिम्मत अंगरेजों से युद्ध करते-करते पस्त हो गयी। इसका कारण यह था कि नाना साहब पेशवा के समय में जो हिम्मत बीस हजार सेना में थी वह इस समय की पचास हजार सेना में नहीं थी।

पहले-पहले पुरन्दर की सुलह होने तक डेढ़-दो वर्ष तक सिंधिया और होलकर ने तटस्थ होकर अलग रहने के सिवा और कुछ नहीं किया। वे पूना दरबार से न केवल विरुद्ध थे बल्कि रघुनाथराव की हर तरह से सहायता करने को तैयार थे। पुरन्दर की संधि होने के बाद महादजी सिंधिया ने पेशवाई की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और वह उसे अंतिम समय तक पूर्ण करने में लगा रहा। बड़गाँव की लड़ाई में गुजरात की चढ़ाई में और मालवा के युद्ध में सिंधिया ने बहुत ही अच्छी तरह अपने पौरुष का प्रदर्शन किया और अंग्रेजों पर अपना दबदबा जमाये रखने में सफल रहा। यह ठीक है कि नाना फड़नवीस को उस समय सिंधिया की बात को मानना पड़ता था और वह जो चीज की इच्छा करता था वह उसको सुलभ थी; परन्तु सिंधिया ने मन लगाकर सरकार की सेवा की, इसमें कोई संदेह नहीं। देखा जाय तो होलकर ने वीरघाट की लड़ाई में सहायता देने के अलावा और कोई काम नाम लेने योग्य नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्होंने तो मोरोबा दादा से मिलकर पेशवाई को संकट की स्थिति में डुबोने के लिये एक षडयन्त्र भी रचा था। दक्षिण की सेना में पटवर्धन और हुजरात वालों की फौज उत्तम थी और उन्होंने पेशवा का साथ भी खूब दिया। विशेष सेना तो अड़ियल टट्टू के समान बेगार के अलावा और कुछ करने में असमर्थ थी। उस समय इस बात का

बहुत अधिक शोर था कि दक्षिण की बहुत सी सेना में और होलकर की सेना में बहुत सी निकृष्ट श्रेणी के सवारों की भरती अधिक है। रिश्वत खाने वाले सरकारी क्लर्क ही घुड़सवारों की हाजिरी लिया करते थे। उस हाजिरी का वर्णन एक मसखरे ने इस तरह किया है कि घोड़े के चार और आदमी के दो पाँव दिख जाने पर सवार समझ लिया जाता और उसकी हाजिरी मान ली जाती थी। गिनती करने वाले क्लर्क की मुट्ठी गर्म की और बस फिर क्या बात है? उनको इससे कोई वास्ता नहीं कि घोड़ा दस रुपये का है या बीस का। सवार भड़भूंजा है या भिश्ती। यह वर्णन है हास्यजनक अवश्य, पर यह ध्रुव तारे की तरह सत्य है। इस तरह की चीजों से सिवा सेना की संख्या बढ़ाने के अलावा और क्या हो सकता था? छाती बढ़ाकर तलवार मारने, अंग्रेजों की पलटनों को काटने, उनकी तोपें छीनने और उनकी रसद बन्द कर देने की हिम्मत इतनी सेना में कुछेक सरदारों में ही थी। जिसे देखो उसे अपने आदमी और घोड़े को बचाने की फिक्र रहती थी।

मराठी सेना की यह स्थिति ध्यान में रखते हुए यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम पड़ती कि अंग्रेजों की इतनी जल्दी प्रगति क्यों कर सम्भव हुई? वे मराठी फौज की परवाह किये बिना पूना पर कैसे चढ़ आये? मराठों पर आक्रमण कर किस बुरी तरह से उन्हें भगाया और उनकी तनिक भी परवाह न कर किस तरह डभोई अहमदाबाद, बसई आदि के किले ले लिये? बड़गाँव की लड़ाई में अंग्रेजों का जो पराभव हुआ, जनरल गोडर्ड की सेना को लूटकर और सैनिकों को मारकर मराठों ने जो हैरानी पैदा की और नापार की लड़ाई में मराठों ने जिस वीरता के साथ अंग्रेजी सेना में घुसकर मार-काट की थी यह सब उनकी संख्या और पूर्वकाल की कीर्ति के परिमाण में कुछ नहीं था।

प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रान्ट डफ़ साहब ने जो यह लिखा है कि माधवराव पेशवा की असामयिक मृत्यु मराठों के लिये पानीपत के युद्ध के समान ही घातक हुई, सो अक्षरशः सत्य है। क्योंकि माधवराव पेशवा की मृत्यु के बाद राज्य में जो अव्यवस्था, सैनिक-कारबार में ढिलाई और दुर्व्यवस्था शुरू हुई, वह इतिहास-प्रसिद्ध है और वह मराठा राज्य के अन्त तक, दूर न हो सकी। सवाई माधवराव यदि प्रौढ़ अवस्था के होते और माधवराव के समान ही तीक्ष्ण-बुद्धि और साहसी होते तो इस प्रकार की अव्यवस्था कभी न उत्पन्न होती। परन्तु सवाई माधवराव को बालक समझकर उनके घर में गृह-कलह का सूत्रपात होते देखकर और अंग्रेजों के द्वारा राज्य हड़पने की क्रिया को देखकर सारे विद्रोही सर उठाने लगे थे। ये विद्रोही कोई भुखमरे या चोर नहीं थे। इनमें से कुछ तो राजा थे और उनके पास हजार-पाँच सौ सवार और किले थे। बारह

भाइयों के द्वारा रघुनाथराव का उच्चाटन होने के समय से और सालवाई की सन्धि होने तक सात-आठ वर्षों के बीच में इन विद्रोहियों ने प्रजा में त्राहि-त्राहि मचा दी थी। कृष्णा नदी की तरफ कोल्हापुर राजमंडल के दंगे, कित्तूर, शिरहट्टी, डंबल में देसाइयों के दंगे, पूर्व की ओर सुरापुर का दंगा, सतारा प्रान्त में रामोशियों का दंगा, पूना, जुन्नर की ओर कोलियों का दंगा, नासिक और खानदेश में भीलों का दंगा, आदि एक नहीं अनेक स्थानों में उत्पन्न हुए थे। इन झगड़ों के वातावरण में पटवर्धन रास्ते, बिंचुरकर, राजेबहादुर, होलकर आदि सबों का प्रबन्ध ठीक नहीं था और इस कारण इन सरदारों की दशा अत्यधिक खराब थी। राज्य के कर की वसूली नहीं हो पाती थी। सेना के लिये खर्च की आवश्यकता पड़ती थी। ऐसी दशा में प्रबन्ध करने वाले सरदार किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे। अंग्रेजों से युद्ध करने के समय प्रत्येक सरदार यही विचार करता था कि यदि मैं अंग्रेजी सेना पर आक्रमण करूँगा तो मेरी सेना का नाश होगा या वे पीछे भाग आवेंगी। यदि इस घड़ी भर के खेल में मेरे पाँच सौ घोड़े मारे गये तो क्या होगा ? पाँच सौ घोड़ों का मूल्य तीन लाख होता है। इस एक घड़ी के जुए के खेल में यदि अपने तीन लाख रुपये इस तरह नष्ट करूँ तो फिर मैं क्या करूँगा ? सरकार तो मुझे देने से रही, क्योंकि उसकी दशा आप ही शोचनीय है और दंगे के कारण कर वसूल हो नहीं पाता, फिर यह मूल्य हम कहाँ से पावेंगे ? कल जिलेदार आकर दरवाजा खटखटायेगा कि या तो घोड़ा दो या दाम, तो फिर उसको हम कहाँ से देवेंगे ? उस समय प्राण देने की बारी आवेगी। अतः यह अत्युत्तम है कि साहस दिखलाने के झगड़े में न पड़कर पीछे ही रहें। जिन लड़ाई-झगड़ों के कारण, क्षात्र-वृत्ति को कालिमा लगाने वाला वह अवसर सरदारों पर आया, उन्हीं लड़ाई-झगड़ों की उत्पत्ति भी दूसरी पद्धति से हुई थी।

शाहू महाराज और पेशवा ने सरदारों को बड़े-बड़े प्रांत और ताल्लुके जागीर में देने की जो प्रथा शुरू की, उससे सरदारों का ध्यान सरकारी नौकरी से खिंचकर अपनी-अपनी जागीरों पर चला गया और वे अभिमानी होकर अपने मालिकों को ही सिखाने और स्वयं स्वतन्त्र होने का अवसर देखने लगे और इन्हीं सब कारणों से राज्य का ऐक्य तथा राज्य भी नष्ट हो गया। यह बहुत से लोगों का कहना है, परन्तु यह कथन सम्पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। जमींदारी पद्धति शुरू करने का दोष केवल शाहू महाराज या पेशवा पर लादना ठीक नहीं है। स्वयं शिवाजी महाराज ने ही इस पद्धति के अनुसार देशमुखी की जागीरें दी थीं और उनके बदले में जागीरदारों को सैनिक नौकरी करनी पड़ती थी। क्या इनको सैनिक व्यवस्था कहना अनुचित होगा ? दूसरे उस समय

थोड़ी बहुत ऐसी पद्धति प्रचलित भी थी। गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड के राजा लोग स्वयं दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार करते थे। रुहेले, पठान और सिक्खों के सरदार भी अधीन ही थे। ऐसी दशा में शाहू या पेशवा ने पैसे की कमी से अपने सरदारों को जागीर प्रदान की तो इसमें क्या बुराई आ गई? बात यह है कि यदि मध्यवर्ती सत्ता शक्तिमान होती है, तो क्या जागीरदार और क्या दूसरे, सब कर्मचारी नम्र और कर्त्तव्य-पालक होते हैं। पर यही सत्ता अगर कमजोर हुई तो नौकर आस्तीन के साँप सिद्ध होते हैं।

मेरा भी यही कहना है कि जागीरदारी पद्धित के जोर पकड़ने पर भी राज्य में जो शक्ति होनी चाहिये थी वह नहीं हुई, प्रत्युत दुर्बलता ही बढ़ी; परन्तु मेरे इस कथन का आशय कुछ और है। सन १७२०-२५ से १७६० तक मराठों ने दूसरे प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ की। जिस प्रदेश को जो सरदार अधिकृत करता था, वह प्रदेश महाराज उसे ही प्रबंध के लिये दे देते थे। इसलिये प्रत्येक शूर और साहसी सरदार में भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर चढ़ाई करने, युद्ध जीतने, लूटकर पेट भरने और प्रदेश को जीतकर उसे महाराज से अपने अधीन में लेने के लिये, अपनी सरदारी कायम करने तथा अपने घराने को प्रतिष्ठित और वैभव सम्पन्न बनाने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न होने लगी और वे भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर चढ़ाई करने लगे। शाहू महाराज ने अपने समय में जिन चढ़ाइयों का कार्य प्रारम्भ कर दिया था, नाना साहब पेशवा ने उसको चालू रखा। जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण में मैसूर, अर्काट, चित्रनापल्ली तक और उत्तर में दिल्ली, पंजाब, आगरा, अयोध्या, रुहेलखंड तक अर्थात सम्पूर्ण देश में मराठे फैल गये। इस तरह मराठों ने इतने बड़े राज्य का भार १७२० से १७६० तक सँभाला और फिर चालीस वर्षों में खो भी दिया। ईस्ट-इंडिया कम्पनी ने जितना राज्य सन १६०० से सन १७०० तक में प्राप्त किया उतना राज्य मराठों ने ४० वर्षों में ही ले लिया। लेकिन मराठा राज्य थोड़े ही समय में बिलुप्त हो गया और अंग्रेजों के राज्य का विस्तार उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। जिस तरह बढ़ी हुई नदी का पानी आस-पास चार-पांच कोस तक फैल जाता है उसी प्रकार मराठों की दशा हुई। शुरू में मराठे खूब उन्नत हुए और अंत में गर्मी के दिनों में नदी के पानी के समान बिल्कुल ही विलुप्त हो गये।

यदि अधिकार प्राप्त की इच्छा से प्रदेशों पर प्रदेश जीतकर राज्य बढ़ाने की महत्वाकांक्षा सरदारों को न हुई होती अथवा ऐसा करने के लिये महाराज छत्रपति ने उत्तेजना न दी होती और कहा होता कि "पहले जितना राज्य है उसकी व्यवस्था कर लो, उसकी आन्तरिक गृह-कलह दूर करके कायदे-कानून का विस्तार करो और

उसकी उन्नति की ओर अभिमुख होओ" तो राज्य तो उतना न बढ़ता, परन्तु जितना था वह शक्तिशाली और स्थायी अवश्य हो गया होता। जिधर मन में आई उधर चढ़ाई करने और अपनी तलवारबाजी प्रगट करने के चक्कर में पड़कर मराठे सरदारों को लाहौर पर चढ़ाई करने का तो अवसर मिल गया; पर बालाघाट का प्रदेश जो साधु संतों की जन्म भूमि और वास्तविक रूप से प्राचीन महाराष्ट्र था तथा पैठन, औरंगाबाद नांदेड, जालना, बीड़ आदि प्रदेश को अधिकृत करने का समय मराठों को नहीं मिला। शान्ति के समय मराठों का राज्य सब ओर था; पर अशांति के समय कहीं भी नहीं था। यह तो आश्चर्यजनक है; पर है सत्यता से पूर्ण। ऐसी दशा का मूल कारण यही था कि मराठों के अधिकार में कोई प्रांत पूर्णतया नहीं था।

मुसलमानों के समय में हकदारों और जागीरदारों का बहुत प्राबल्य था। इसलिये सरकारी वसूली के काम में वे सरकार के वश में न होकर सरकार को वश में किये थे। ये लोग अर्थात् देशमुख, देशपांडे, देसाई, सरदेसाई, सरदेश, पांडे, प्रभृति आदि मुल्की अधिकारी प्रत्येक प्रान्त में गाँव, किले और गढ़ी हड़प बैठे थे और सरकार को सूचित किये बिना अपने-अपने देश का कर खुद ही वसूल करते थे। जब कर्नाटक पर मराठों ने चढ़ाई की और उस पर अपना अधिकार कर लिया, तब उन्होंने इन लोगों का कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया और गोड़वाने में गोड़ों के, भीलों के प्रान्त में भीलों के तथा बुन्देलखंड में बुन्देलों के राज्य ज्यों के त्यों बने रहने दिये। जो अशांति का मुख्य कारण था और अन्त तक रहा। तुङ्गभद्रा के उस ओर टीपू का राज्य था। वहाँ भी इन देसाई प्रभृति लोगों की पहले प्रबलता थी, परन्तु टीपू ने इन लोगों का पराभव कर अपना सब राज्य निष्कटक कर लिया। इसलिये मराठे, मुगल और अंग्रेजों से वर्षों तक युद्ध होते रहने पर भी उसके राज्य में कोई दुर्व्यवस्था न आ पाई। इस प्रकार का निष्कंटक राज्य होने के कारण उसके एकतन्त्री और एकसूत्री राज्य की शक्ति इतनी बढ़ी कि वह उन तीनों शत्रुओं—मराठे, मुगल और अंग्रेजों के लिये काफी भारी हो गया।

मराठा राज्य में बार-बार झगड़े खड़े होने का एक और मुख्य कारण था। वह यह कि, उसमें राजकीय जायदाद के सम्बन्ध में, वह चाहे एक पटेल की हो अथवा एक सरदार की, वारिस का हक निश्चित नहीं होता था। और तो और स्वयं महाराज छत्रपति का सिंहासन भी इस दोष से मुक्त नहीं था। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत उस समय चरितार्थ होती थी। चार भाइयों में अधिक शक्तिशाली भाई ही संपत्ति उपार्जित कर अधिकार प्राप्त करता है। पहले-पहल तो सरकार के द्वारा योग्य-

व्यक्ति का ही राज्य के लिये चुनाव होता था, पर यदि छोटा भाई सरकार को गद्दी के लिये अधिक नजराना दे देता तो सरकार भी लोभ में पड़कर अधिकृत भाई की जगह पर अनधिकृत भाई को गद्दी पर बिठाल देती। शाहू महाराज और ताराबाई के पुत्र शिवाजी में इन दोनों में योग्य कौन था, इस बारे में हम लोग चाहे कितनी ही चर्चा करें पर उस समय इस प्रकार की चर्चा बिल्कुल ही नहीं होती थी। वे कहते थे कि बड़े शिवाजी महाराज के शाहू और शिवाजी दोनों ही योग्य वारिस हैं। जो इस राज्य को अधिकृत करने में सफल होगा उसको ही हम अपना राजा स्वीकार कर लेंगे। पेशवा के जमाने में जब नाना साहब और भाऊ साहब में झगड़ा हुआ तो कोल्हापुर के संभाजी महाराज ने भाऊ साहब को पेशवाई के वस्त्र दिये थे। वास्तव में देखा जाय तो संभाजी को देने का और भाऊ साहब को लेने का कोई अधिकार नहीं था। इस पर भी किसी ने चूँ न की। अब हम भाऊ साहब के इस व्यवहार को भले ही पेशवाई के विरुद्ध विद्रोह समझें, पर उस समय नाना साहब पेशवा ने भी इसको विद्रोह नहीं माना था। सरदारी के लिये झगड़ा खड़ा होने पर उस समय लोगों का ध्यान इस पर रहता था कि वादी और प्रतिवादी, सरदारी के लिये वास्तविक रूप से उत्तराधिकारी हैं या नहीं। यदि वे वास्तविक रूप से उत्तराधिकारी हुए तो वे बिना कारण दखलन्दाजी नहीं करते थे। गायकवाड़ घराने में झगड़ा हुआ और वह सरकार के सामने पेश हुआ। इसका फल यह हुआ कि फतहसिंह राव और गोविन्द राव दोनों को नजराने के तौर पर हजारों रुपये व्यर्थ देने पड़े। भोंसले अपने घरेलू झगड़ों को सरकार के सन्मुख नहीं लाये अतः सरकार ने भी उस ओर ध्यान न दिया। भोंसले के झगड़े में सरकार का कहना था कि तुम्हारे आपस के झगड़े खतम होने पर जो सरदार सर्वमान्य ठहरेगा, उसी को हम सरदारी के वस्त्र प्रदान करेंगे। सवाई माधवराव और रघुनाथ राव का झगड़ा शुरू होने पर गायकवाड़, भोंसले, प्रभृति पेशवाई के सरदार जो बीच में नहीं पड़े उसका भी मूल कारण उपर्युक्त कथन ही है।

जो लोग यह कहते कि जाति-द्वेष के कारण मराठा-साम्राज्य नष्ट हुआ वे यह नहीं कह सकते कि किसके जाति-द्वेष से किसका राज्य नष्ट हुआ। मराठों के राज्य के कार्य-भार में भिन्न-भिन्न जाति के लोगों का सम्बन्ध हमेशा ही रहता था और अगर इस दृष्टि से उपर्युक्त कथन का मूल्यांकन करते हैं तो जाति-अभिमान का परिणाम राज्य कार्यों पर सदा होना चाहिये था; परन्तु इतिहास इस उदाहरण से शून्यवत ही है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि राज्य-पतन से जाति का कोई सम्बन्ध न था और न वह राज्य-कार्यों में ही काँटे का काम करता था। बहुत हुआ तो मराठा-इतिहास की एक दो बातें ही जाति-गत हैं। इनमें से पहली बात तो कल्पित और सन्देह जनक है।

२

वह नारायण राव पेशवा के कत्ल से सम्बन्धित है। बात यह है कि नारायण राव पेशवा प्रभू लोगों को बहुत कष्ट देते थे। अतः उन लोगों ने नारायण राव को धोखे से मर डाला। यह बात कुछेक प्रभू लोगों के द्वारा कही गयी है। इसकी सत्यता के लिये कोई दूसरा मनुष्य प्राप्य नहीं है। हाँ, दूसरी बात अनुमान करने से सत्य प्रतीत होती है। वह यह कि शाहू महाराज ने मरते समय पेशवा को जो सनद प्रदान की थी, उससे तुलाजी आंग्रे अप्रसन्न हो गया था और उसने पेशवा से अपने सम्बन्ध को भंग कर लिया था। वह अपने जहाजी सैनिक बेड़े और किले के बल पर पेशवा को तुच्छ समझता था। इसीलिये पेशवा ने चार-पाँच वर्षों तक निरन्तर प्रयत्न करते हुए अंत में बम्बई के अंगरेजों की सहायता से उसका राज्य छीन लिया और उसे सकुटुम्ब कैद कर लिया। परन्तु इस बात में एक आन्तरिक रहस्य और है जो लोगों को नहीं मालूम है। वह यह है कि तुलाजी आंग्रे चितपावन ब्राह्मणों का कट्टर-द्वेषी था और उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाता था। तुलाजी के राज्य की सीमा वाणकोट से विजयदुर्ग तक थी और यही द्वीप चितपावन ब्राह्मणों की जन्मभूमि थी। पेठे, फड़के, परचुरे, रास्ते, भावें, देशमुख, घोरपड़े, जोशी, बारामती वाले, जोशी शोलापुर, वाले, जोशी बर्वे, पटवर्धन, मेहेंदले, भानु, लागू आदि पेशवाई दरबारी और सरदार लोगों का मूल निवास-स्थान यही था। जब कि अपने अधिकारों को न मानने वाले प्रतिनिधि और दामाजी गायकवाड़ को तो पेशवा ने बिना सरंजाम छीने ही उनको यों ही छोड़ दिया और तुलाजी आंग्रे का समूल नाश किया तो हमारा यह विचार असंगत न होगा कि इसके भीतर पेशवा का जाति-अभिमान छिपा था। चितपावन ब्राह्मणों का वह द्वेष तुलाजी की मृत्यु के साथ ही विलुप्त हो गया। फिर उसके राज्य को चलाने वाला कोई पुरुष न हुआ। हाँ, इस जमाने में यदा-कदा किसी देशी-विदेशी मनुष्य के भीतर तुलाजी का कानून दृष्टिगोचर हो जाता है।

अब तक हमने इस बात को प्रदर्शित किया है कि किस गुण के अभाव से मराठे यूरोपियन के हाथों में आये प्रान्तों को जीत न सके और उनकी टक्कर को सहन करने की सामर्थ्य मराठों में क्योंकर न थी। इसी के साथ-साथ षडयंत्रों के सम्बन्ध में अंग्रेजों-को मराठों के ऊपर कैसे सफलता मिली, इस पर भी विचार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। सर्वप्रथम बम्बई और सूरत बन्दर के बाहर अंग्रेजों का प्रवेश नहीं था। अतः कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि उसी समय ही शिवाजी महाराज ने इन्हें क्यों न निष्कासित कर दिया और भविष्य में यही हमारे ऊपर राज्य करेंगे, यह समझ कर राजाओं ने इन्हें अपने दबाव में क्यों नहीं रखा? परन्तु इन प्रश्नों को करने वाले उस समय की वस्तु-स्थिति भूल जाते हैं। उस समय राजनीति की मर्यादा हमारे देश में बहुत कम थी। अतः व्यापारी के रूप में आये गोरों का वास्तविक स्वरूप ध्यान में

न आने के ही कारण किसी को इस बारे में दोष नहीं दिया जा सकता। उस समय शासकों से अपने व्यापार के लिये गोरों का जगह माँगना, रूमाल से हाँथ बाँधकर दरबार में आना और चरणों में मस्तक झुकाना देख शासकों ने ठीक समझा। वे इनके व्यवहार से यह कैसे जान सकते थे कि इन्हें रहने देने की जगह देने पर ये ही एक दिन सारे देश को अपने कब्जे में कर लेंगे। इस समय ये लोग अपने रूमाल से हमारा हाथ बाँधते हैं, आगे भविष्य में ये ही हमारी मुश्कें कसायेंगे। और आज तो ये हमारे पैरों में सर को झुकाते हैं तो कल ये ही हमारे सिर पर पैरों को रखेंगे। उस समय हमारे अधिकारियों के मन में इस प्रकार की कल्पना कैसे उठ सकती थी जिस प्रकार से यह सब बातें हो गयी हैं।

यदि इन अंग्रेजों ने यूरोप के किसी भी कोने में व्यापार के बहाने पैर रखा होता तो इस बात की तत्काल ही वहाँ जाँच होती कि ये लोग कौन हैं, यहाँ किसलिये आये हैं, इनका वहाँ से निष्कासन हो गया होता। परन्तु इसी हिन्दुस्तान में समुद्र के किनारे किले बनाकर रहने पर भी सौ-पचास वर्षों तक किसी ने इन अंग्रेजों की ओर दृष्टिपात तक नहीं किया कि ये कौन हैं और क्यों आये हैं। इसका मुख्य कारण है इस भारत प्रदेश की विशालता। यहाँ हिन्दुओं में ही पचासों जातियाँ है और उसमें भी मुसलमान, पारसी, ईसाई यहूदी आदि विधर्मियों की मिलावट तथा देश में सैकड़ों राज्य और हजारों संस्थानों का होना था। ऐसी दशा में यदि यहाँ अंग्रेजों और फ्रेंच लोगों का आगमन हुआ और वे बस गये तो वे यहाँ वास्तव में व्यापार के लिये आये हैं या इनके आने का कुछ दूसरा उद्देश्य है इसकी जाँच कसे हो सकती थी ? यदि कोई इन अंग्रेजों की ओर मुखातिब हुआ भी तो उनके उस समय के वर्तमान व्यवहार तक। वे अपने को व्यापारी कहते है तो चलो उनसे व्यापार करें इसमें अधिक पंचायत करने की आवश्यकता ही क्या ? यदि कहा जाय कि इन्होंने किले बनवाये थे, अतः इन पर संदेह करके जाँच की जानी चाहिए थी तो जिस प्रकार कोई लुच्चा या लफंगा अपनी सीमोलंघन करके बदमाशी करता है और उस पर फिर कोई ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार उस समय अंग्रेजों की भी कोई परवाह नहीं की गयी। इसका मुख्य कारण यही था कि मराठे लोग समझते थे कि इस लोगों के व्यापार करने के कारण राज्य की आमदनी अधिक बढ़ती पर है, इन लोगों से मनचाही विदेशी वस्तुयें भी प्राप्त होती हैं और अधिक अच्छी बात तो यह है कि ये लोग अच्छे लड़ाके और गोलन्दाज हैं। इसके अलावा संकटकालीन परिस्थिति में इनका और इनके गोला बारूद का उपयोग करने में हम लोगों को सहूलियत होगी।

सन १७३७ में जब मराठों ने पुर्तगालियों से साष्टी का बन्दरगाह लिया तब से साष्टी पर बम्बई वाले अंग्रेजों की घात-दृष्टि लगी हुई थी। किलेदारों को रिश्वत देकर

अथवा किसी दूसरी युक्ति से, और यदि इससे भी न मिले तो बलात साष्टी लेने का निश्चय उन्होंने किया और इसके लिये वे किसी उपयुक्त अवसर की तलाश में थे। इसी बीच जब माधव राव और रघुनाथ राव का झगड़ा उठ खड़ा हुआ तो इन्हें अपना दृष्टिकोण सफल होता दीख पड़ा; लेकिन उनकी वह आशा निराशा के बादलों में छिप गई। अन्त में नारायण राव पेशवा का खून होने पर पेशवाई में जब कोलाहल मचा तब बम्बई वाले अंग्रेजों ने इस मौके का फायदा उठाकर साष्टी को घेरकर किले पर अधिकार कर लिया।

विपत्ति के समय ही अंग्रेजों ने मराठों को घेरा और अपना कार्य सिद्ध किया। इसकी अपेक्षा यदि पेशवाई के समय में ही अंग्रेजों और मराठों का युद्ध हुआ होता तो मराठों के भाग्य की अनुकूलता होती। पानीपत का युद्ध न हुआ होता तो बिहार और बंगाल प्रांत पर पेशवा की रण-भेरी जरूर बजती। क्योंकि दोनों प्रांत के सिवा सभी प्रांत मराठों के अधिकार में आ चुके थे। यदि दैववशात् ऐसा हो गया होता तो प्लासी के युद्ध में क्लाइव की प्राप्त सफलता धूल में मिल जाती और आगे के दस वर्षों में अंग्रेजों ने अपना उन दोनों प्रान्तों में जो विस्तार किया था वह कदापि संभव न था। इसी तरह यदि हैदरअली, बीच में कबाब में हड्डी बनकर न आ गया होता तो उपर्युक्त बातों के अनुसार माधवराव पेशवा की विजय-दुन्दुभी अर्काट, त्रिचनापल्ली, प्रभृति स्थानों पर सुनाई पड़ी होती और मद्रास के अंग्रेजों को अपने बिस्तर-बोरिया सहित वहाँ से कूच कर देना पड़ता। सन् १७६५ में बम्बई वाले अंग्रेजों ने मालवण प्राप्त किया और बंगाल के अंग्रेजों ने मल्हारराव होलकर पर आक्रमण करके उन्हें पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। उस समय अंग्रेज-मराठा युद्ध होने का संयोग प्रबल था; मल्हार-राव होल्कर की असामयिक मृत्यु से वह संयोग आ न सका। फिर सन १७६६ में मद्रास के अंग्रेजों ने निजाम अली को मार कर पहले हैदरअली पर और फिर पेशवा पर आक्रमण करने का प्रस्ताव किया; परन्तु माधवराव की कार्य-कुशलता के कारण उनका वह प्रयत्न निष्फल हो गया। इसके बाद सन १७७२ में दोआब प्रान्त में मराठों और अंग्रेजों की खटक गयी; परन्तु उसी समय माधवराव काल-ग्रसना के शिकार हो गये और वर्ष युद्ध रुक गया। इसी तरह टलते-टलते जब पेशवा की सेना रघुनाथराव का पीछा कर रही थी; अड़चनों के ही समय मराठों को अंग्रेजों से युद्ध करने का अवसर मिला। इस युद्ध के सम्बन्ध में हमको यही कहना है कि इस सर्वप्रथम युद्ध का सूत्रपात अंग्रेजों की इच्छा के अनुकूल हुआ। इस युद्ध में मराठों की न तो कोई दिलचस्पी ही थी और न कोई अवसर।

मराठों से पहला युद्ध शुरू होने के बाद के वर्ष के छः महीनों में जो लेख मिलते हैं उनमें बतलाया गया है कि मराठों का कितना राज्य था, उनकी सेना की क्या दशा

थी, छत्रपति, पेशवा, भोंसले, गायकवाड़, सिंधिया, होलकर आदि का कितना महत्त्व था और इनका आन्तरिक सम्बन्ध क्या था ? इनका आपसी झगड़ा किन-किन बातों पर आधारित था और प्रान्तों के देने की प्रतिकूलता पर क्या परिस्थितियाँ पैदा हुई ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर उन लेखों में पूर्णतया विशद रूप में उद्धृत है और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि अंग्रेजों ने भारत के कुछेक राज्य मिलने के स्वप्न को देखना प्रारम्भ कर दिया था। कर्त्तव्यशील अंग्रेजों के चिन्तन-योग्य विषय की ये बातें एक मुख्य अंग थीं। अठारहवीं शताब्दी में लिखी एक अंग्रेजी पुस्तक में यह लिखा गया है, "भारत का राज्य अपने हाथों में किस प्रकार लिया जाय।" इसी चीज का उसमें विशद वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि उस समय के और भी प्रलेख इसी तरह के होंगे। उस समय इस देश में पादरियों का अभाव था। उनकी जगह दूत और व्यापारी अंग्रेज ही सैकड़ों की संख्या में नजर आते थे। वे अपनी डायरी में शहर, किले, मार्ग, रीति-रिवाज स्थानीय राज आदि के बारे में हरेक चीज लिखते थे, जिनका संग्रह कम्पनी सरकार के लिये बहुत उपयोगी होता था। किसी न किसी बहाने से वे लोग सैनिक-विभाग के काम-काज को रह कर देखते और अपने फायदे में आने वाली बातों को संग्रह करते रहते थे। इसके सिवा बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ जो अंग्रेज वकील होते थे, वे राज्य-कार्य से सम्बन्धित सभी बातें अपने मुख्याधिकारियों के पास पहुँचा देते थे। अंग्रेज लोगों की प्रवृत्ति हमेशा शोध की ओर ही रहती है। उनमें विद्योपार्जन की इच्छा अत्यधिक प्रबल रहती है। उन्होंने हमारे राज्य लेने के पहिले ही अपने यहाँ के वेद, पुराण, स्मृति, आदि शास्त्रों का खूब अध्ययन किया था। पेशवाई के अन्त तक वे लोग चारों ओर का ज्ञान इकट्ठा करने में लगे रहे। सन १८०३ में नाक्स नामक अंग्रेज मैसूर से पूना जा रहा था। रास्ते में वह कुछ दिन मिरज राज्य में ठहरा। बस उसने तुरन्त ही मिरज के जागीरदार को एक पत्र लिखा और यह जानने की कोशिश की कि "आपके यहाँ जागीर किस प्रकार से और कब मिलती है, उसकी आमदनी कितनी होती है, आपके घराने के लोगों ने पेशवा सरकार के हित में क्या-क्या सेवायें की है, आदि सभी बातों का समाधान यदि आप कर दें तो मैं आपका अत्यंत अनुगृहीत होऊँगा।"

ऐसे थे ये अँग्रेज, चपलता और हमेशा सावधानी से रहने वाले, इन्हीं से टक्कर लेने की परिस्थिति आ गयी थी। मराठों को अंग्रेजों के बारे में ज्ञानशून्यता ही थी। इन लोगों का मूल देश कौन सा है, बाद में इन्होंने कौन से उपनिवेश बसाये, इनके स्वाभाविक गुण-दोष कौन-कौन से हैं, इस सब की राज्य-व्यवस्था का प्रबन्ध कैसा है, इनका सैन्य-बल और द्रव्य-बल कितना है आदि मुख्य-मुख्य बातों का पता मराठे राज-

नीतिज्ञों और अधिकारियों को अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये था। परन्तु हमारी उदासीनता और आलस्य से राजनीति का यह अंग हमेशा ही अपूर्ण रहा। केवल नाना फड़नवीस ने अवश्य ही कुछ बातों का पता लगवाया था और उन सब बातों को क्रम से लिख रखा था। ये बातें उनके प्रलेखों से साफ जाहिर है, नहीं तो इसके अतिरिक्त अन्य साम्राज्य अपनी प्रगाढ़ निद्रा के आंचल में बँधे थे। अंग्रेजों की संख्या कितनी है और ये लोग किस द्वीप से आते हैं, इनका ज्ञान न होने के कारण मराठे बहुत भयग्रस्त थे। अंग्रेजों से युद्ध होते समय ये समाचार बराबर सुनाई देते थे कि अंग्रेज बम्बई से आ रहे हैं, गुजरात में भी उनका आगमन हो गया है, कुछ जलमार्ग के द्वारा मद्रास से आ रहे हैं और कुछ अंग्रेज हैदरअली से युद्ध कर रहे हैं तथा इधर उत्तर भारत में अंग्रेजों ने यमुना नदी को पारकर कालपी पर चढ़ाई कर दी है। इस प्रकार के समाचारों से घबड़ाकर एक मराठा सरदार लिखता है, "ये चतुर अंग्रेज ऐसे कितने हैं? जहाँ देखो वहाँ ये ही दिखलायी पड़ते है, आखिर बात है क्या?" ऐसी स्थिति में भी नाना फड़नवीस ने अंग्रेजों की कूटनीति का नाशकर उन्हें घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया और सन्धि की प्रार्थना मराठों से करने के लिये विवश कर दिया था। इसीलिये नाना फड़नवीस की प्रशंसा उचित ही है। सालवाई की सन्धि में अंग्रेजों को जो साष्ठी बन्दरगाह मिला वह उनकी उस हानि की उचित पूर्ति नहीं थी जो उन्होंने पाँच-सात वर्षों तक युद्ध करके सहा था।

सालवाई की सन्धि के वाद, पेशवाई के अन्त तक, अंग्रेजों और मराठों के बहुत से राजनीतिक झगड़े और युद्ध भी हुए। इसमें मराठों के लिये यह बात खटकने वाली थी कि उनको अंग्रेजों की चाल का पता मिल ही नहीं पाता था। घर में विभीषणों की संख्या होती ही है; परन्तु पेशवाई में इनकी संख्या अत्यधिक थी। मराठी सेना के समाचार और रणनीति हमेशा अंग्रेजों को मालूम हो जाती थी, परन्तु मराठों को अंग्रेजों की स्थिति का समाचार सूँघने तक को नहीं मिलता था। यह महान आश्चर्य की बात है कि हमको अंग्रेजों के एक भी विभीषण न मिल सके।

अंग्रेजों के समाचार मराठों को न मिलने का मुख्य कारण यह है कि उनका रहन-सहन, भाषा और रीति-रिवाज हम लोगों से भिन्न था। जब कि बिना प्रयोजन के वे हमसे बात नहीं करते थे तो हमारे साथ रहने की तो बात ही क्या? उनमें जाति-अभिमान की भावना कूट-कूटकर भरी थी, इसीलिये वे हम लोगों से दूर-दूर रहते थे। यही कारण था कि उनके विचार और समाचार बाहर नहीं उड़ने पाते थे और झूठी अफवाहों के न उड़ने का मुख्य कारण भी यही था। अंग्रेजों से युद्ध करने में सिंधिया

ओर होलकर की पराजय हो जाने पर, मराठों को यशवंतराय होलकर पर विश्वास था कि यह कभी भी नहीं हार सकता। अतः जब होलकर और अंग्रेजों का युद्ध छिड़ा, तब होलकर की विजय के समाचार पूना के बाजारों में बार-बार उड़ता था। इन समाचारों में अतिशयोक्ति और असंगतता का अंश अधिक रहता था। ये सब उत्तर भारत से आये पत्रों में लिखी गई हैं। और जो समाचार पूने में हीं हवाबाजी दिखाते तो अत्यधिक ही विचित्र होते थे। जैसे, एक समाचार फैला था कि "होलकर ने तीन सो अंग्रेजों को पकड़ा और उनकी नाक काटकर उनको छोड़ दिया है, जिनमें से दो सौ यहाँ आये हैं। उन्हें यहाँ के अंग्रेजों ने विलायत जाने के लिये बम्बई भेजा। परन्तु वहाँ के अंग्रेजों ने इस भय से कि यदि ये विलायत गये तो अत्यधिक बदनामी का कारण होगा, अतः उनको समुद्र में ही डुबो दिया।"

यद्यपि इन समाचारों पर विद्वान लोगों को विश्वास नहीं होता था, परन्तु सामान्य के लिये तो ये बातें बिल्कुल ही सच प्रतीत होती रही होंगी, इसमें सन्देह नहीं। पटवर्धन का पूना दरबार में रहने वाला वकील अपने मालिकों को होलकर की विजय और अंग्रेजों की पराजय के ही समाचार सदा लिखता था। एक पत्र में वह लिखता है कि "डाक में समाचार आये हैं कि होलकर की प्रबलता है। जलचर (अंग्रेज) पेंच में पड़ गये हैं और सिन्धिया का पत्र आया, उसमें लिखा है कि होलकर बहुत प्रबल है। उन्होंने लार्ड लेक की पलटनों को डुबो दिया है। वह दस-बारह पलटनों को लेकर यमुना नदी को पार करके लखनऊ की ओर जा रहा था। उसे होलकर ने चारों ओर से घेर लिया।" इतना लिखकर वह अंग्रेजों के घर का गुप्त समाचार जो उसने बड़ी खोज से प्राप्त किया होगा, इस प्रकार लिखता है:—"ता० १६ रमजान को अंग्रेजों के समाचार मिले कि अंग्रेज (पूना वाले) भोजन करने जा रहे थे। इतने में डाक आयी। अतः तीन-चार आदमी कुर्सी पर बैठकर पत्र पढ़ने लगे। तीन पत्र देखने के बाद सिर की टोपी जमीन पर फेंक दी; आँखों में से आँसू गिरने लगे। जो चौकीदार लोग थे उन्हें दूर-दूर खड़ा कर दिया गया और फिर सब लोग कुर्सी पर बैठकर कौंसिल करने लगे। फिर एक अंग्रेज ने एक अधिकारी का हाथ पकड़कर उठाया।" वकील ने यह समाचार किसी बटलर से सौ-पचास रुपये में खरीद लिया होगा और अपने स्वामी को लिख भेजा। इस समाचार से उसके मालिक को क्या समाधान हुआ होगा, यह सब आप लोग सोच ही सकते हैं।

यहाँ तक संक्षेप में हमने इस बात का विचार किया कि अंग्रेजों ने मराठों का पूना-सतारा क्यों ले लिया और मराठे लोग अंग्रेजों का कलकत्ता मद्रास लेने में क्यों

असफल रहे। देशाभिमान-शून्यता, एक समूह में रहकर कार्य करने की अयोग्यता, स्वार्थ-साधन की अपरिमित अभिलाषा, दूसरे के हाथों से पानी पीने की आदत आदि दुर्गुण ही, जो मराठों के खून में मिल गये थे, उनके राज्यों के विनाश के मुख्य कारण हुए। इन दुर्गुणों से युक्त कोई भी पूर्वी राष्ट्र, सुधरे हुए पाश्चात्य राष्ट्र के आगे, विरोध में भी कभी भी न टिक सकेगा। हिन्दुस्तान पर यदि अंग्रेज शासक न होते, तो फ्रेंचों का ही शासन हुआ होता। प्रवाह में पड़े हुए बर्तन यदि आपस में टकरावें तो यह निश्चय है कि उनमें से मिट्टी का बर्तन ही टूटेगा, लोहे का नहीं। अब आज हम लोग स्वतन्त्र हैं, हमारा देश स्वतन्त्र है। हमारा हर दृष्टिकोण अपना एक महत्व रखता है। अब भी हमारे बीच जो दुर्गुण हों उन्हें नष्ट कर देना चाहिए और मराठों के इतिहास को देखते हुए अपनी मिली स्वराज्य की रक्षा एक होकर करनी चाहिए।

—बासुदेव वामन खरे

प्रस्तावना

आज से ठीक सौ वर्ष पहले पूना की मराठाशाही का अन्त हो गया था। यह पुस्तक उसी का प्रथम शत-सांवत्सरिक वाङ्मय श्राद्ध है।

मराठाशाही का वास्तविक अन्त किस दिन हुआ, इसके विषय में मतभेद होने की सम्भावना है। कितने ही लोग इस दिन को १२ फरवरी सन् १७६४ मानते हैं, क्योंकि उस दिन प्रसिद्ध मराठा वीर महादजी सिंधिया की मृत्यु हुई थी। महादजी सैनिक-दृष्टि से मराठाशाही के प्रधान आधार-स्तम्भ थे, इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है।

कितने ही लोग मराठाशाही के अंतिम दिन को १३ मार्च सन् १८०० मानते हैं, क्योंकि उस दिन विख्यात मराठा राजनीतिज्ञ नानाफड़नवीस काल-चक्र के शिकार हुए थे। नाना के सम्बन्ध में अंग्रेज इतिहासकारों ने यह लिख रखा है कि नाना के साथ ही मराठों की बुद्धिमता भी चली गई।

कितने ही लोग इस दिन को ३१ दिसम्बर सन् १८०२ मानते हैं, क्योंकि उस दिन बसई की सन्धि हुई थी और बाजीराव अंग्रेजों का गुलाम बन गया था। इसके अलावा अंग्रेजों की मध्यस्थता से मराठी राज्य के केन्द्र (हृदय) के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे।

कुछ लोग इस दिन को २३ सितम्बर सन् १८०३ मानते हैं, क्योंकि उस दिन बसई के संग्राम में सिंधिया का प्रत्यक्ष पराभव हो गया था और मराठे सरदारों का संघ छिन्न-भिन्न हो गया था। इससे संसार में प्रसिद्ध हो गया कि अब मराठाशाही के प्रबल होने का कोई उपाय नहीं है।

कितने ही इस दिन को १७ नवम्बर सन् १८१७ मानते हैं। उसका कारण यह है कि उस दिन पूना में पेशवाओं के राज प्रसाद पर अंगरेजों के झंडे फहराये गये थे।

कुछेक विद्वानों ने ३ जून सन १८१८ को ही इसकी मान्यता दी है, क्योंकि उस दिन बाजीराव ने असीरगढ़ के निकट ढोलकोट में जनरल मैलकम को आत्म-समर्पण कर दिया था और उनके हाथ में राज्य-दान का अधिकार छोड़ दिया था।

कितने ही लोग उस दिन को ता० २६ मई सन् १८४९ मानते हैं क्योंकि उस दिन मराठाशाही की जड़, सतारा का राज्य अंग्रेजों ने अपने कब्जे में कर लिया था।

ऊपर की छ: सात तारीखों में से कौन सी तिथि सही है, यह अपने-अपने विचार है। साधारणत: सन १८१७-९८ के बीच का ही वर्ष मराठाशाही के अन्त का संवत्सर माना जाता है और यही हमको भी उचित प्रतीत होता है।

प्रति सांवत्सरिक श्राद्ध एक निश्चित तिथि को ही किया जात है किन्तु शत-सांवत्सरिक श्राद्ध वर्ष भर में किसी भी दिन करने से काम चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक ठीक ता० ३ जून, १९१८ को प्रकाशित करने का विचार था। उसको पूर्ण करने का कार्य शिथिल पड़ गया। परन्तु कुछ समय के बाद यह निर्णय होने पर कि हम लोगों को मार्च मास में भारत के बाहर जाना पड़ेगा और कदाचित हम सन् १९१९ के पहले यहाँ पहुँच न सकेंगे, इसलिये पुस्तक को प्रकाशित करने का काम यथा सम्भव शीघ्र समाप्त कर लेना चाहिए।

जब से मराठे और अंग्रेजों में सम्पर्क स्थापित हुआ, उस समय से लेकर पेशवाई के अन्त होने के समय तक—केवल इन दोनों के विषय ही का—संक्षिप्त इतिहास इस पुस्तक के प्रारम्भ में दे दिया गया है। अन्त के अध्यायों में कुछ प्रधान-प्रधान बातों का ही वर्णन है। इस पर भी यदि अंग्रेज और मराठों के सम्बन्ध में पूर्ण और अपनी इच्छा के अनुकूल विवेचना करना हो तो इतनी ही बड़ी एक और पुस्तक लिखनी पड़ेगी। हमने जो मसाला एकत्रित किया है उससे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है और सम्भव है कि यदि पूरा समय मिल गया तो कदाचित् ऐसा भी हो जायेगा। यह हमें मालूम है कि वर्तमान पुस्तक में विचार किये हुए अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सका है जिससे कुछ भाग केवल याददाश्त के समान बन गये हैं।

वास्तव में वर्तमान पुस्तक के समान पुस्तक ऐसे मनुष्य द्वारा लिखी जाने की आवश्यकता थी, जिसने अपनी सारी जिन्दगी में इतिहास का अध्ययन किया हो। फिर भी हमारी प्रार्थना पर, इस पुस्तक की भूमिका लिखना गुरू रा० रा० बासुदेव वामन शास्त्री खरे महोदय ने स्वीकार किया। इसके लिये हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

पूना
१ मार्च सन् १९१८ } नरसिंह चिन्तामणि केलकर

विषय-सूची

आठवाँ अध्याय

मराठाशाही की सैनिक व्यवस्था

नवाँ अध्याय

मराठा राज्य की विभागीय व्यवस्था

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

—०—

मराठे और अंग्रेज

— ० —

पहला अध्याय

अंग्रेजों के पहले का महाराष्ट्र

मराठों और अंग्रेजों की सबसे पहली भेंट कहाँ और कब हुई इसका विश्वस्त लिखित प्रमाण नहीं मिलता और न परिश्रमी एवं सूक्ष्म-दृष्टि इतिहास-संशोधक ही इसका अनुमान बाँध सकते हैं। जब इन दोनों की पहली भेंट हुई होगी, तब ये दोनों एक दूसरे को पहिचानते भी न रहे होंगे। जिस समय अंग्रेज पहले-पहल यहाँ आये थे उस समय इस देश पर मुसलमानों का राज्य था और इसलिए उनकी दृष्टि में मुसलमानों का महत्व जमना स्वाभाविक था। फिर मराठों की ओर उनका लक्ष्य क्यों जाता। सूरत अथवा कोकण के अन्य बन्दरों पर जहाज से उतर कर अंग्रेज लोग सीधा दिल्ली का रास्ता पकड़ते थे। इधर मराठों ने उन दिनों अंग्रेजों का नाम भी न सुना रहा हो तो आश्चर्य क्या! क्योंकि उस समय भारत में डच और पोर्तगीज व्यापारी ही प्राय: आते-जाते थे। इसलिए टोपीवालों में टोपावालों के मिल जाने से मराठों का भी इनकी ओर विशेष रीति के ध्यान जाने का कोई कारण नहीं था। मराठों को देखकर अंग्रेजों ने भी समझा होगा कि नीचे सूतना जिस पर पैरों तक लटकने वाला अङ्गरखा और सिर पर विचित्र पगड़ी पहिनने वाले ये लोग किसी आधी जंगली जाति के मनुष्य हैं। इसी तरह टोकनी के समान अंग्रेजों की टोपी, उनके गले में बड़ा लम्बा चौड़ा गलपट्टा और उनका गोरा रंग देखकर मराठे कहते रहे होंगे कि ये कैसे विचित्र प्राणी हैं? अभी भी गावों में कैंची, चाकू आदि बेचने वाले काबुलियों के आने पर जिस तरह बालक उनके आसपास इकट्ठे हो जाते हैं, उसी तरह अंग्रेज व्यापारियों को देख

कर उस समय भी ऐसे भी इकट्ठे होते रहे होंगे। पहले पहल के अंग्रेज प्रवासियों ने भारत-वासियों का जो वर्णन लिखा है उसमें भी बस्ती के लड़कों की कौतूहल पूर्ण दृष्टि की झलक दिखाई देती है, और यह ठीक भी है; क्योंकि दो विदेशियों की पहिली भेंट एक दूसरे को आश्चर्य में डालने वाली होती है।

पहली भट के समय अङ्गरेजों को, यह कल्पना भी न हुई होगी कि किसी दिन इनका राज्य जीत कर हम लोग इनके स्वामी बन बैठेंगे और न मराठों ने ही सोचा होगा कि हमारे सामने सिर नीचा करने वाले, विनय एवं शिष्टाचार पूर्वक बोलने वाले तथा ग्राहकों को प्रसन्न करने की चेष्टा करने वाले ये नये नये व्यापारी एक दिन हमारे राजा होंगे; परन्तु दैव की लीला विचित्र है। उसके योग से जगत् में अनेक चमत्कारिक घटनायें हुआ करती हैं जिनमें से छः हजार मील के समुद्रीय मार्ग को पार करते हुए व्यापारी बनकर अङ्गरेजों का यहाँ आना और फिर इस देश के स्वामी बन जाना एक है। इतिहास में इतनी दूर पर रहने वाली जातियों में इतना निकट सम्बन्ध हो जाने का शायद यह पहला ही उदाहरण है। अब जगत् में कोई भी मनुष्य ऐसे नहीं दिखाई देते जो अनादिकाल से किसी एक ही देश के निवासी हों। हजारों वर्ष पहले वर्तमान मनुष्य समाज के पूर्वज अपना निज स्थान छोड़ कर भिन्न-भिन्न देशों में जा बसे थे जिसका पता भी अब उनके वंशजों को नहीं है। इसलिए मानव-वंश का उत्पत्ति-स्थान शोधने की दिव्य-दृष्टि प्राप्त होने पर भी उसका स्थानीय देशाभिमान शायद ही नष्ट हो और उस देशाभिमान के बदले विश्व-बन्धुत्व वा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना उसके हृदय में जागृत हो सके। यदि हम लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक महोदय के लिखित प्रमाणों के अनुसार यह भी मान लें कि आर्य-जाति उत्तरी-ध्रुव से क्रमशः नीचे-नीचे भूमध्य-रेखा पर्यन्त आई है तो भी भारतवर्ष में उन लोगों का निवास इतने दीर्घकाल से है कि उन्हें इस बात का मान अथवा विश्वास ही नहीं हो सकता कि हम यहाँ विदेशी हैं। अङ्गरेजों के और हमारे पूर्वज उत्तरी-ध्रुव के पास किसी एक ही स्थान में चाहे भले ही रहे हों, पर यह बात मनुष्य-समाज की स्मृति-पलट पर अब नहीं रही और साहित्योत्पत्ति से भी पहले की होने के कारण अब उस पर अधिक जोर देने की आवश्यकता भी नहीं है। अब तो यही मानना उचित है कि अनादिकाल से हम हिन्दू-आर्य भारत के और अङ्गरेज यूरोप के निवासी हैं। कुछ भी हो, मराठे और अङ्गरेज चाहे आदिकाल के भाई-बन्धु हों अथवा न हों; पर अब इस प्रकार उनका निकट सम्बन्ध हो जाना एक महान आश्चर्य की बात अवश्य है।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, हिन्दुस्तान में, एक ही समय पर दो राज सत्तायें उदयोन्मुख हुईं, जिनमें से एक तो अङ्गरेजों की थी जो यहाँ पहले पहल नवीन अस्तित्व में आने वाली थी और दूसरी मराठों की थी जिसका कि पुनरुज्जीवन हो रहा

था। तेराहवीं शताब्दि के पहले यहाँ प्रायः हिन्दुओं का ही राज्य था; पर उनमें पहले के समान एक भी ऐसा सम्राट नहीं था जिसका शासनाधिकार सम्पूर्ण भारत में रहा हो। उस समय सम्पूर्ण देश में दस-बीस स्वतन्त्र राजा थे और शेष इनके जीते हुए, अथवा इनके आश्रय में रहने वाले उपराजा, माण्डलिक नायक, जागीरदार, मालगुजार, पटेल आदि थे। हिन्दुस्तान में स्थानीय स्वतन्त्रता की परिपाटी बहुत प्राचीन है। पहले के विजयी राजा अधिक यदि कुछ करते तो केवल इतना कि अपना राज लेकर लौट जाते थे। विजयेच्छा चाहे कितनी ही प्रबल क्यों न रही हो; पर वे आजकल के समान जीते हुए देश से गोह के समान चिपट नहीं जाते थे और न जोंक के समान देश का रक्त पी पीकर पेट भर जाने पर ही उसे छोड़ते थे। भारत में देश-विजय, केवल कीर्ति और शौक के लिए की जाती थी, पेट के लिए नहीं। महाभारत अथवा रामायण में द्विग्विजयों का जो वर्णन है उससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में द्विग्विजय के लिए निकला हुआ वीर अपने प्रति-पक्षी के नमन करने अथवा सम्मानपूर्वक आश्रित हो जाने पर लौट जाता था। यदि कोई राजा किसी दूसरे राजा को जीतता तो उसके राज्य में अपने प्रतिनिधि को सदा के लिए नहीं रखता था और यदि रखता भी था तो इन प्रतिनिधियों का अधिकार उसकी अन्तर-राज्य-व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का नहीं होता था। उस समय "उत्तर-दायित्व" का अर्थ कुछ दूसरा माना जाता था। यदि किसी स्वाभिमानी राजा को अपनी सभ्यता श्रेष्ठ मालूम होती थी तो भी वह उसे दूसरों पर लादने या बलात् दूसरे के मुँह में ठूँसने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेता था। अशोक आदि राजाओं ने भी दूसरे देशों को जीता था; पर पराजित लोगों की अन्तर्व्यवस्था में हस्तक्षेप करने की आकांक्षा कभी नहीं की। धर्म, रीति-व्यवहार, न्याय, शिक्षा, प्रबन्ध, ग्राम-व्यवस्था, व्यापार, उद्यम आदि बातें सनातन-पद्धति के अनुसार करने की स्वतन्त्रता लोगों को पूर्णरूप से थी, और राज्याधिकारी तथा प्रजा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कभी कभी ही हुआ करता था। प्रत्येक जाति की पँचायत रहा करती थी। इन्हीं पंचायतों के द्वारा राजाज्ञा का पालन कराया जाता था। विजित राष्ट्र कर देते थे और उस कर का भार ग्राम्य संस्था पर हुआ करता था। ग्राम्य संस्था के सिवा दूसरा कोई अधिकारी नहीं माना जाता था।

मुसलमान लोग हिन्दुस्तान में तेरहवीं शताब्दी के अन्त में आए। उनके समय में उक्त स्थिति में कुछ थोड़ा सा अन्तर पड़ा। ये लोग विदेशी थे; अतः इनकी विजय केवल कीर्ति के लिए नहीं हुआ करती थी। पश्चिम के समान पूर्व में भी जहाँ जहाँ ये लोग गये वहाँ वहाँ इन्होंने सदा के लिए अपना डेरा डाला और अपना तथा अपने अनुयायियों के पेट भरने का भार विजित देश की प्रजा के मत्थे मढ़ा। केवल कर

लगाने से इन्हें सन्तोष नहीं होता था। अपनी आजीविका चलाने और आमोद-प्रमोद के लिए इन्हें वार्षिक वसूली की आवश्यकता दीखने लगी; इसलिए प्रजा पर कर का बोझ स्थायी रूप से शासक रखते थे तो भी उन्होंने ग्राम-संस्था की व्यवस्था में कभी हाथ नहीं डाला। धर्म का प्रसार करने की ओर उनका पूरा लक्ष्य था; पर उसका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेषों से ही था। ये लोग यहाँ परदेश से तो आये थे; पर इन्होंने मूल-देश से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ लिया और भारत को अपना देश मान लिया था। यहाँ पर स्थायी-निवास करने के कारण उन्होंने अपने घर-द्वार यहीं बनवाये। यहीं खेती-बाड़ी की और व्यापार-उद्यम भी यहीं प्रारम्भ किया। मस्जिद आदि पवित्र भवन भी यहीं बनवाये। यहाँ का पैसा यहाँ ही खर्च किया। सारांश यह कि मुसलमान विजेताओं ने हिन्दुस्तान को ही अपना देश माना और यहीं का देशाभिमान रक्खा। दूसरी बात यह है कि मुसलमानों ने हिन्दुओं को विजित होने के कारण अधिकार-भ्रष्ट नहीं किया। गाँवों की दफतरदारी, परगनों और महालों के ताल्लुकेदारी, प्रान्त की सूबेदारी और सेना की सरदारी मुसलमानी जमाने में हिन्दुओ को भी मिला करती थी, और उनमें से यदि कोई हिन्दू मुसलमान हो जाता था तो फिर पूछना ही क्या था? विलायती अथवा देशी मुसलमान का भेद बादशाह की दृष्टि में कुछ भी नहीं होता था। लेकिन मुसलमानों का हिन्दू स्त्रियों से सम्बन्ध करने में आपत्ति न होने के कारण हिन्दुओं को बादशाहजादों तक के अधिकार मिलना शक्य था। कहा जाता है कि अहमदनगर की बादशाही, बरार की इमादशाही के पहले दोनों राजा, जन्म से ब्राह्मण थे। मुसलमान लोग आलसी, आराम-तलब और अभिमानी होने के कारण स्वत: कभी कोई राज-काज नहीं करते थे, यहाँ तक कि अपनी जवाबदारी के काम को भी जहाँ तक बनता वहाँ तक दूसरों अर्थात् हिन्दुओं पर ही डाल देते थे और उन्हीं से वे काम लेते थे। इन सब कारणों से हिन्दुओं को यह भान नहीं होता था कि हम स्वदेशी होने पर भी विदेशियों के अधीन हैं। इसलिये वे यही समझते थे कि मुसलमान राज्य हमारे ही भरोसे राज करता है और इसीलिए वे बादशाही नौकरी करना बड़े सम्मान और प्रतिष्ठा की बात मानते थे। उस समय अभिजात वर्ग को नेतृत्व ग्रहण करने में प्राचीन प्रतिष्ठा के साथ साथ नवीन सम्मान प्राप्त करने का भी अवसर था। मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दुओं की प्राचीन जागीरें भी कायम रहीं और नवीन भी मिलीं। मुसलमान राजा उत्तर हिन्दुस्तान में केवल उदयपुर को छोड़ अन्य सब राजपूत राज्यों को विजित कर उनके स्नेह-भाजन बने। सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण में भी मुसलमान राजाओं का स्वामित्व न मानने वाला और उनसे विरोध करने वाला विजयनगर के राजा के सिवा और कोई नहीं रह गया था। दक्षिण-समुद्र के समीप

मुसलमानों का राज्य अन्त तक स्थापित न हो सका, जिससे भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार हिन्दू और द्रविड़, अर्थात् अनार्य राजा वहाँ स्वतन्त्र राज्य करते रहे।

तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का राज्य अबाधित रीति से चला। उत्तर हिन्दुस्तान में इनका जितना विशेष प्रभाव था दक्षिण में उतना ही कम था। यद्यपि उत्तर-भारत की अपेक्षा दक्षिण में मुसलमानी स्वतन्त्र राज्य पहले स्थापित हो गये थे और वे दिल्ली के बादशाह की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे, तो भी इन राज्यों के छोटे होने के कारण इन्हें हिन्दू अधिकारी तथा हिन्दू प्रजा के प्रेम पर अवलम्बित रहना पड़ता था। दक्षिण में मुसलमान राजाओं के आश्रित हिन्दू सरदार ही, उनके राज्य के स्तम्भ थे; दिल्ली के पास से ही मुसलमानी स्वतन्त्र राज्यों की सीमा लग जाती है और वह ठेठ कास्टण्टिनौपल पर्यन्त पहुँच जाती है। अधिक क्या, हिन्दुस्तान के मुसलमानी राज्य-वृक्ष की शाखा कही जाय तो भी अनुचित न होगा। इसलिए दिल्ली के दरबार में प्राय: अन्य मुसलमानी देशों से आये हुए असल मुसलमानों का आगमन सदा होता रहता था और उनके यहाँ निवास तथा धर्म-प्रचार करने के कारण दिल्ली के आसपास मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी; परन्तु दक्षिण देश में यह बात नहीं थी। दक्षिण में आने के लिए इनके मार्ग में दो बातें विघ्न रूप थी—एक तो दक्षिण देश बहुत दूरी पर था; दूसरे, दक्षिण के मुसलमानी राज्य आरम्भ से ही ब्राह्मर्णा अर्थात् ब्राह्मणों की कृपा से स्थापित होने वाले राज्य थे; इसलिए इन लोगों का झुकाव स्वभावत: न्यूनाधिक रूप में हिन्दुओं की ही ओर था। जिस तरह जफर खाँ को एक ब्राह्मण ने दासत्व से छुड़ाया उसी तरह दिल्ली के बादशाह के विरुद्ध विद्रोह कर अपने राज्य को उससे स्वतन्त्र कर लेने में भी उसके सहायक हिन्दू ही हुए। फिर दक्षिण में मुसलमानों की बस्ती कम थी, इसलिए उनकी रीति-रिवाजों का प्रभाव भी हिन्दुओं पर न पड़ सका; प्रत्युत हिन्दुओं का अधिकांश में उन पर पड़ा। किसी भी ओर से देखा जाय, यही विदित होगा कि दक्षिण में मुसलमानी राज्य स्थापित हो जाने पर भी हिन्दुओं को अपने अधिकार और प्रभाव के कम होने की शिकायतें करने के कारण अधिक नहीं थे।

दक्षिण में, मुसलमानी शासन, मराठों को अधिक असह्य नहीं मालूम हुआ। इसका कारण यह है कि राजा के मुसलमान होने पर भी देश-प्रबन्ध और सेना-सम्बन्धी कारबार प्राय: हिन्दुओं के ही हाथ में रहता था। उनके साथ धर्म-छल सहसा नहीं किया जाता था और राज्य की ओर से फकीरों के समान ब्राह्मणों को भी वंश-परम्परा के लिए धर्मार्थ दान दिया जाता था। यह प्रसिद्ध ही है कि बीजापुर का एक बादशाह दत्तात्रय का भक्त था। किलों की सनदें मुसलमान सूबेदारों के नाम पर भले ही दी जाती रही हों, पर वास्तव में देखा जाय, तो सत्ता का काम-काज करने वाले हिन्दू

कर्मचारियों के हाथ में रहती थी। सरदार मुरारराव गोवलकोंडा के एक बादशाह के दीवान थे। इसी तरह वहाँ के अन्तिम बादशाह पर मदन पण्डित नामक एक ब्राह्मण का इतना प्रभाव था कि उसके कारण बादशाह की और शिवाजी की मैत्री अबाधित रूप से सदा रही। दादो-नरसू काले, मलिक अम्बर के समान ही प्रसिद्ध थे और उन्होंने बादशाह की रियासत में जमीन के लगान की व्यवस्था बहुत अच्छी की थी। अहमदनगर के दरबार की ओर से मुगल दरबार में जाने वाले वकील प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। बुरहानशाह का प्रधानमन्त्री ब्राह्मण था। बीजापुर के दरबार में एसू पण्डित नाम का एक ब्राह्मण 'मुस्तहफ़ा' का काम करता था गोवलकोण्डा दरबार के आकण्णा और मादण्णा नामक दो मन्त्री प्रसिद्ध ही हैं। मराठे सरदारों को भी बड़ी बड़ी मनसबदारियाँ दी जाती थीं। एक बहमनी बादशाह ने २०० मराठों को अपना शरीर-रक्षक नियत किया था। बाधोजी जाधव राव नामक एक मराठा सरदार ने बादशाहों को गद्दी पर बैठाने और पदच्युत करने के खेल कई बार खेले। इससे उसे यदि ब्राह्मणी बादशाही का 'किङ्ग-मेकर'—राजा गढ़ने वाला कहा जाय तो अनुचित न होगा। मुरारराव जाधव ने एक बार बीजापुर दरबार की इज्जत बचाई थी। शाहजी ने बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में बहुत ऐश्वर्य प्राप्त किया था और अहमदनगर के बालक बादशाह को अपनी गोदी में बिठला कर अनेक वर्षों तक बादशाही शासन किया था। शिरके, जाधव, निम्बालकर, घाटगे, मोरे, महाडीक, गूजर, मोहिते आदि सरदार स्वयं बड़े बलवान थे और अपने पास दस-दस बीस-बीस हजार सेना रखते थे। ये सब मुसलमानी राजाओं के ही आश्रित थे। इन "ब्राह्मणी मुसलमानी" राज्यों से इस प्रकार स्नेहभाव रखने वाले मराठे, जब दक्षिण मुगलों के आक्रमण होते, तब उग्र रूप दिखाने लगते थे। मराठों ने मुगलों के साथ करीब दो सौ वर्षों तक युद्ध किया और अपनी सम्पूर्ण सत्ता उनके हाथों में कभी नहीं जाने दी। मुगलों के आक्रमण के दो सौ वर्ष पहले से तैयार होने वाली क्षात्र कर्तृत्व-भूमि में जो स्वातन्त्र्य बीज डाला गया था। उसमें मुगलों के हिन्दू-धर्म-नाशक-नीति की तथा हिन्दुओं की स्वतन्त्रता अपहरण करने की गर्मी पाकर अंकुर फूट निकला और समय पाकर वह वृक्ष बन गया जिसमें कि छत्रपति शिवाजी के समय में स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य का मिष्ठ और उत्तम फल लगा।

हिन्दू लोगों का एक ऐसा भी समुदाय था जिसने मुसलमानी शासन के आगे कभी सिर नहीं झुकाया था, यद्यपि वह इस शासन में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं था, तो भी स्वतन्त्रप्राय अवश्य था। चौदहवीं शताब्दी में जब मुसलमानी सत्ता का प्रवाह महाराष्ट्र देश में पहुँचा, तो क्षण भर के लिए उसने मराठों को अवश्य झुका दिया; परन्तु शीघ्र ही इन लोगों ने समुद्र में डुबकी लगाने वालों के समान उस प्रवाह पर आक्रमण किया

और जैसे वे, प्रवाह का पानी मुँह में लेकर उसे उस प्रवाह पर ही थूक देते हैं उसी प्रकार मराठों ने किया। सारे हिन्दुस्तान में यदि कोई थे जिन्हें मुसलमानों ने पूर्ण रीति से कभी जीता न हो, तो वे केवल मराठे थे। युद्ध-वीर राजपूत भी अन्त में मुसलमानों के शरण में गये; पर मराठों ने कभी ऐसा नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कदाचित् महाराष्ट्र-भूमि का ही यह प्रताप हो कि वहाँ सदा स्वातन्त्र्य युद्ध की ही फसल होती रही हो। यह कहना कि महाराष्ट्र देश की नदियों का जल भी ऐसा ही स्वातन्त्र्य-बुद्धि-वर्द्धक है शायद भाषालंकार कहलाये; परन्तु महाराष्ट्र की भौगोलिक रचना, उसके आसपास की पर्वत-श्रेणियाँ, खोंहें, वहाँ की पर्वतीय समशीतोष्ण वायु आदि बातों का असर मराठों पर पड़ा हो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। यदि महाराष्ट्र के पहाड़ी किलों को ही देखा जाय, तो उनमें से एक आध किले के मस्तक पर खड़े होकर चारों ओर नजर फेंकने वाले को यह भान हुए बिना नहीं रहेगा कि जिनके अधिकार में ये किले थे वे यदि जगत् को तुच्छ समझते रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जब कि पल्लेदार तोपों का अविष्कार नहीं हुआ था और उनके द्वारा कोस आधा कोस की दूरी पर से किले की तटबन्दी धराशायी नही की जा सकती थी, तब तक ये किले स्वतन्त्रता-निधि के संरक्षण के लिए मजबूत फौलादी सन्दूकों के समान थे। इन किलों के आश्रय में रहने वाले लोग, साहसी, चपल और कष्ट-सहिष्णु होते थे; अतः उन्हें दूसरों के आश्रय में पराधीन होकर रहना संकट-रूप प्रतीत होता था। प्रत्येक महाराष्ट्र-निवासी, मुसलमानों के आने के पहले से चली आई हुई पद्धति के अनुसार अपनी पूर्वजोपार्जित मौरुसी जमीन में खेती करता था और उसे रूखा-सूखा जो कुछ मिलता उसी में सन्तुष्ट रहकर अपने स्वाभिमान की रक्षा करता था। यही कारण है जो महाराष्ट्र की पचास-साठ हजार वर्गमील भूमि का पट्टा मुसलमान पूर्णतया कभी अधिकृत न कर सके। मराठों की व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य-प्रियता यद्यपि ग्राम्य संस्था के आड़े कभी नहीं आती थी तथापि एक छत्र-शासन से उन्हें घृणा होने के कारण उन पर ऐसा शासन—विशेषकर परकीयों का—कभी भी बहुत दिनों तक न टिक सका। जब कोई शत्रु उन पर चढ़कर आता था तब वे कुछ काल तक एक हो जाते थे, परन्तु शान्ति के समय में अपनी स्वातन्त्र्य-प्रियता के कारण परस्पर कलह किया करते थे। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि मराठों ने परकीय सीथियन लोगों को दो बार पराजित कर भगाया था। परन्तु, चालुक्य, गुप्त, शिलाहार और यादवों ने अनेक बार परस्पर रण-सङ्गम किये। मराठों में अकेले रहने और दूसरों से झगड़े करने का स्वभाव अत्यधिक हैं; परन्तु है वह स्वातन्त्र्य-प्रियता के कारण। उत्तर-भारत में बारहवीं शताब्दि से ही मुसलमानी शासन थोड़ा बहुत शुरू हो गया था; परन्तु दक्षिण में आने के लिए उसे दो

ढाई सौ वर्षों का समय लग गया और फिर भी वह अधिक समय तक न टिक सका और उस पर भी मावला प्रान्त तथा सह्याद्रि पर्वतमाला के ऊपर के प्रदेश में तो मुसलमानों को कभी स्थान ही नहीं मिला। इतना ही नहीं, दिल्ली की बादशाहत के कमजोर होते ही मावले-मराठों ने उस बादशाहत-रूपी भव्यभवन के पत्थरों को एक के बाद एक निकालना प्रारम्भ कर दिया और अन्त में उन्होंने दिल्ली तथा दिल्ली की बादशाही को हस्तगत कर ५० वर्षों के लगभग साम्राज्य-सत्ता के सुख का अनुभव किया। यद्यपि यह ठीक है कि वे अपनी महत्वाकांक्षा के अनुसार दिल्ली में हिन्दू-साम्राज्य स्थापित न कर सके, तो भी जब अङ्गरेज लोग अपनी साम्राज्य-सत्ता स्थापित करने लगे तब उनके काम में मराठों की ही ओर से वास्तविक रोक-टोक हुई। एलफिन्स्टन, सर विलियम हण्टर, सर अलफ्रेड लायल आदि अङ्गरेज इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि "हमने भारत की साम्राज्य-सत्ता मुसलमानों से नहीं, मराठों से ली है। मुसलमानों के हाथों से तो यह सत्ता कभी की निकल गई थी और अन्त में, हमसे (अङ्गरेजों से) जो लड़ाइयाँ हुई वे मुसलमानों से नहीं मराठों से हुई"। सारांश यह है कि अङ्गरेज साम्राज्य-सत्ता के सम्बन्ध में, मराठों के उत्तराधिकारी हैं, मुसलमानों के नहीं। दक्षिण पर होने वाले मुगलों के आक्रमण पहले पहल मराठों पर नहीं, विद्रोही मुसलमानी राज्यों पर हुए; इसलिए मुसलमान और मराठे दोनों ने कंधे से कन्धा मिला कर उनका सामना किया; परन्तु जब मराठों ने देखा कि मुसलमानी राज्यों की दाल मुगलों के आगे नहीं गलती, तब उन्होंने स्वयं आत्म-रक्षण की तैयारी की। अहमदनगर का राज्य बचाने के लिए चाँदबीबी, मलिक-अम्बर और शाहजी भोंसले ने बहुत प्रयत्न किये; परन्तु जब वे सफल नहीं हुए और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में अहमदनगर का राज्य मुगलों ने ले ही लिया तब कितने ही मराठे सरदारों ने मुगलों के आश्रित हो कर उनकी मनसबदारी स्वीकार कर ली और कई बीजापुर दरबार में चले गये; परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो पूर्ण स्वतन्त्र होने का विचार करने लगे। मुगलों के आक्रमण यदि दक्षिण पर न होते तो मराठा-साम्राज्य की स्थापना भी इतनी शीघ्र न होती। बहमनी राजाओं के आश्रित रह कर मराठों ने जो महत्व प्राप्त किया था वही उनके स्वतन्त्र होने में कारणीभूत हुआ। उससे मराठों में यह भावना होने लगी कि युद्ध मुसलमानों के लिए क्यों किया जाय? हम अपने लिए ही क्यों न करें जिससे कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो? इन लोगों ने महाराष्ट्र के किलों की मरम्मत कराना पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था और अकबर ने जो दक्षिण पर आक्रमण किया, उसने दक्षिण में मुसलमानी राज्य को नष्ट करने के साथ साथ मराठा राज्य की स्थापना के कार्य में सहायता दी। इस प्रकार जब कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेज लोग व्यापारी कम्पनी की स्थापना कर हिन्दुस्तान में व्यापार करने के उद्योग में लगे हुए थे, उसी समय मराठे हिन्दुस्तान में स्वराज्य-

स्थापना के प्रयत्न में व्यस्त थे। वे केवल मुगलों की आज्ञा से अपने जहाज हिन्दुस्तान के बन्दरों पर लाकर व्यापारी माल का सौदा करना चाहते थे। इसी प्रकार मराठे भी अंग्रेज लोगों को नहीं पहिचानते थे और भारत में—कम से कम महाराष्ट्र में—तो नष्टप्राय हिन्दू साम्राज्य की प्राण-प्रतिष्ठा अवश्य ही पुन: करना चाहते थे और इसके लिए मुगल सदृश बलवान शत्रु से भी भिड़ने को तैयार थे। इस समय अङ्गरेजों ने अपने हाथ में तराजू और मराठों ने तलवार धारण की थी। दोनों को मुगलों के अंतरङ्ग में भिन्न-भिन्न रीति से प्रवेश करना था। शिवाजी के जन्म लेने के समय सूरत भर में अंगरेजों की व्यापारी कोठी को स्थापित हुए केवल पन्द्रह वर्ष हुए थे। इस प्रकार दोनों—मराठे और अंगरेज—उदयोन्मुख थे। आगे इनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हुआ और उसका अन्तिम परिणाम क्या हुआ यह हम आगे के प्रकरणों में बतलावेंगे। परन्तु जिस प्रकार यहाँ मराठों का संक्षिप्त वर्णन हमने दिया है उसी प्रकार हिन्दुस्तान में अंगरेजों के आने का कारण बतलाना आवश्यक होने के कारण आगे के प्रकरण में इसी का वर्णन किया जाता है।

———

दूसरा अध्याय

अंग्रेज हिन्दुस्तान में क्यों और कैसे आये ?

अंगरेज लोग हिन्दुस्तान में पहले व्यापार के लिए आये। इनके पहले प्राचीन काल से यूरोप में जिन-जिन राष्ट्रों का उदय हुआ उनमें से बहुतों का व्यापारी सम्बन्ध हिन्दुस्तान से रहा है। इसलिये यह अनुमान भी अनुचित न होगा कि एशिया और उसमें भी भारत का व्यापार जिस राष्ट्र के हाथ में होता था वह राष्ट्र बहुत ऊँचे दर्जे का माना जाता था। कहा जाता है कि ईसवी सन के दो हजार वर्ष पहले से अर्थात् खाल्डियन लोगों के समय से यह व्यापार यूरोपियन लोग करते आ रहे हैं। यह कहना ठीक हो या न हो; पर इसमें तो सन्देह नहीं कि यूनानी सत्ता के समय से लेकर यूरोप और भारत का सम्बन्ध इतिहास द्वारा पूर्णतया सिद्ध हो चुका है। इस सम्बन्ध का प्रारम्भ ईस्वी सन के ३२७ वर्ष पहले भारत पर सिकन्दर बादशाह की चढ़ाई के समय से हुआ। इस चढ़ाई के साथ आये हुए इतिहासकार और वकीलों ने हिन्दुस्तान का परिचय यूरोप-निवासियों को कराया। सिकन्दर को भी इस पहली चढ़ाई के बाद यह मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान देश सम्पत्ति की अटूट निधि है। चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज नामक जो यूनानी वकील रहता था उसने हिन्दू लोगों के चरित्र के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रगट किया है—"स्त्रियों के अत्युच्च पातिव्रत और गुलामी के अभाव आदि बातों में हिन्दुस्तान की समता करने वाला शायद ही कोई देश होगा। सम्पूर्ण एशिया-खण्ड में हिन्दू लोगों की अपेक्षा अधिक पराक्रमी कोई दूसरे नहीं है। हिन्दुओं को अपने दरवाजे पर ताले लगाने की कोई कभी जरूरत नहीं पड़ती। वे स्वप्न में भी झूठ बोलना नहीं जानते और न वे अदालतों की सीढ़ियाँ चढ़ना ही जानते हैं। ये लोग उत्तम किसान और कुशल कारीगर तथा परिश्रमी होते हैं। इन्हें किसी प्रकार का व्यसन नहीं है"। यूनानी सत्ता के नष्ट हो जाने के बाद रूमी सत्ता का उदय हुआ। रोम वालों का व्यापारिक सम्बन्ध हिन्दुस्तान से बहुत रहा। रेशमी और अन्य ऊंचे दर्जे का कपड़ा, जवाहरात, मोती, सुगन्धित पदार्थ, मसाले, हाँथी दाँत, आदि सामान रूमी लोग भारतवर्ष से ले जाते थे। इसी प्रकार अनेक तरह के रंग और औषधियाँ भी यहाँ से जाती थीं। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि उस समय हिन्दुस्तान से यूरोप को कच्चा माल नहीं जाता था। हिन्दुस्तान से जो रत्न, मोती आदि जाया करते थे उन्हीं पर रोमन लोगों का आमोद-प्रमोद अवलम्बित रहता था।

रूमियों के पतनान्तर व्हेनिशियन लोग वैभव-शिखर पर आरूढ़ हुए । इनका लक्ष्य व्यापार की ओर विशेष था । हिन्दुस्तान में यूरोप का व्यापार इन्होंने पूर्ण रीति से अधिकृत कर लिया था । जिस समय इनकी कला खूब चढ़ती हुई थी उसी समय एक बात ऐसी हुई जिससे वह क्षीण होने लगी और अन्त में लुप्त हो गई । वह बात यह थी कि अफ्रीका के दक्षिणीय समुद्र से हिन्दुस्तान को आने-जाने के एक नवीन मार्ग का पता लगा । पहले ऐसे तीन मार्ग थे और इन्हीं मार्गों से हिन्दुस्तान का व्यापार होता था । स्वेज डमरूमध्य के बीच में पड़ जाने से, पूर्व-समुद्र से भूमध्य समुद्र में माल आने के दो मार्ग थे । एक तो ईरान की खाड़ी में से होकर, जमीन पर यूफ्रेटिस नदी के तीर तीर, एशिया माइनर (एशिया कोचक) में से था और दूसरा लाल समुद्र के उत्तरी किनारे पर उतरकर मिश्र देश में से भूमध्य समुद्र तक था । इनके सिवा केवल उत्तर की ओर का एक तीसरा मार्ग था । यह हिन्दुस्तान के उत्तर के मध्य एशिया के आक्सस वा आमू-दरिया के किनारे किनारे जाता हुआ कास्पियन समुद्र पर से काले समुद्र तक था । इस मार्ग की दो शाखायें थीं—एक कास्पियन समुद्र के उत्तर से और दूसरा दक्षिण से । ये दोनों शाखायें जाकर काले समुद्र में मिल जाती थीं । अफ्रिका के दक्षिण सिरे की प्रदक्षिणा देकर हिन्दुस्तान में आने-जाने के नवीन मार्ग का पता चलने के पहले तीनों मार्गों का उपयोग किया जाता था । इन तीनों मार्गों के जाने में अड़चनें बहुत थीं और खर्च, श्रम तथा भय भी बहुत अधिक था । नवीन मार्ग का पता चलने के बाद उसका बहुत भारी उपयोग हुआ । यह मार्ग सन् १४९८ में वास्कोडिगामा नामक एक पुर्तगीज ने ढूँढ़ निकाला और तभी से यूरोपीय जातियों के आने-जाने का मार्ग अच्छी तरह खुल गया और वे एक के बाद एक आने लगीं । सोलहवीं शताब्दी में पोर्तुगीजों का, सत्रहवीं में डच लोगों का और अठारहवीं में फ्रेंच लोगों का प्रभाव भारत में था । इसके बाद अंग्रेजों के प्रभाव का आरम्भ हुआ ।

नवीन मार्ग का पता लग जाने पर भारतवर्ष में ख्रीष्टीय धर्म का प्रवेश प्रगट रीति से हुआ, यद्यपि इसके पहले अर्थात् ईस्वी सन् ७५ में भी भारत में ख्रीष्टीय धर्म का प्रचार हो चुका था । कहा जाता है कि सेन्ट थामस नामक एक ख्रीष्टीय धर्म प्रचारक ईस्वी सन् ६८ में मद्रास में मरा अथवा मारा गया । इसके कितने ही वर्षों पहले मलावार और कारोमण्डल तटस्थ प्रान्तों में व्याराटीनस नामक एक ईसाई पादरी हिन्दुस्थान में आया और इस प्रकार धीरे-धीरे ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के अन्त तक मलावार प्रान्त के किनारे पर ईसाई धर्म का बीज अच्छी तरह जम गया । सन् ४८६ में नेस्ठोरियन नामक ईसाई पन्थ के धर्मोपदेशक, बाबुल से आकर मलावार प्रान्त के किनारे पर उतरे और उन्होंने धर्म-प्रचार का काम प्रारम्भ किया । आठवीं शताब्दी में आर्मोनिया के सेन्ट टामस नामक पादरी ने मलावार के किनारे पर गिरजाघर बनवाया ।

यही भारत में सबसे पहला गिरजाघर था। कहा जाता है कि सन् ८८३ में इंगलैंड के राजा अल्फ्रेड ने अपने दो धार्मिक प्रतिनिधि सेन्ट टामस की कब्र की यात्रा करने को भेजे। इस प्रकार यद्यपि बीच बीच में यूरोपियन लोगों के भारत में आने के प्रमाण मिलते हैं; परन्तु पोर्तुगीज लोगों के आने के बाद हिन्दुस्थान में ईसाई धर्म का प्रचार विशेष बढ़ा।

धर्म-प्रचार और व्यापार ये दो हेतु ध्यान में रखकर पोर्तुगीज लोग भारत में आये। आगे चल कर विदित होगा कि पहला हेतु दूसरे हेतु के लिए सहायक साबित न हुआ। वास्कोडिगामा, सबसे पहले कालिकट शहर में उतरा। उस समय यह शहर खूब उन्नति पर था। यहाँ के राजा को 'जमोरिन" कहते थे। यहाँ का व्यापार कोई छः सौ वर्षों से अरब के मुसलमानों के हाथों में था। गामा ने जमोरिन को सन्तुष्ट कर अपने ऊपर उसका प्रेम-सम्पादन कर वहाँ के राजा को एक पत्र दिया। उसमें लिखा था कि "हमारे राज्य में आपसे घराने के सरदार वास्कोडिगामा के आने से हमें उहुत संतोष हुआ है। हमारे राज्य में दालचीनी, लौंग सोंठ, मिर्च और जवाहिरात खूब होते हैं। हम चाहते हैं कि इनके बदले में आपके यहाँ से सोना, चाँदी, आदि वस्तुएँ यहाँ आवें।

इस प्रकार हिन्दुस्थान को आने-जाने के नवीन मार्ग का पता लगाने से जगत् के इतिहास में एक बड़ी भारी क्रान्ति हुई। यूरोप में पुर्तुगाल देश का महत्व बढ़ा। वेनिस, जिनोआ आदि राष्ट्रों का व्यापार बैठ गया, और नाविक विद्या में जो राष्ट्र प्रवीण थे वे उदय को प्राप्त हुए।

सन् १५०३ में पोर्तुगाल से अलबूकर्क हिन्दुस्थान में आया। वास्कोडिगामा केवल व्यापार-वृद्धि का हेतु दृष्टि के आगे रखकर तदनुसार व्यपार करता था; परन्तु अलबुकर्क की दृष्टि उससे भी आगे गई और यह राज्य विस्तार के हेतु को आगे रखकर यहाँ व्यवहार करने लगा। इसने १५१० में गोआ प्रान्त अपने अधिकार में किया और सन् १५१५ में वह गोआ में ही मरा। १५२४ में गामा तीसरी बार भारत में आया, और १५२७ में कोचीन में वह भी मर गया। १५०३ से १६०० अर्थात् १०० वर्षों तक भारत में पोर्तुगीजों का दौर-दौरा खूब रहा; परन्तु आगे उनकी कला गिरने लगीं; क्योंकि यूरोप में पोर्तुगीजों की सत्ता स्पेन सत्ता के अधिकार में चली गई और यद्यपि पोर्तुगाल १६४० में स्वतन्त्र हो गया था, तथापि भारत में उसका व्यापार डच और अङ्गरेजों के हाथों में चला गया। पोर्तुगीजों के ह्रास के और भी कारण हैं। उन्होंने क्रूरता भी बहुत की; वे विलासप्रिय अधिक हो गये थे और उनके राज्य में निज धर्म की प्रबलता होकर दूसरे धर्मों के प्रति द्वेष अधिक बढ़ गया था। इसी प्रकार

यूरोपियन पुरुष और एतद्देशीय स्त्रियों के परस्पर विवाह करने से भी पोर्तुगाल को लाभ न होकर हानि ही हुई ।

पोर्तुगीजों के बाद भारत में डच लोगों का प्रभाव बढ़ा । अङ्गरेजों के समान डच लोग भी हिन्दुस्थान में आने के लिए यूरोप के उत्तर से होकर यहाँ आने का मार्ग ढूँढ़ रहे थे; परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली । तो भी, पोर्तुगीजों की हुई खोज से लाभ उठाने में वे बिल्कुल नहीं चूके । पोर्तुगीजों के सौ वर्षों के व्यापार से लिस्बन नगर ने बहुत कुछ उन्नति कर ली । जो माल इस नगर को हिस्दुस्थान से जाता था उसे ले जाकर दूसरे देशों में बेचने के लिये पोर्तुगीज व्यापारियों को डच व्यापारियों की सहायता लेनी पड़ी । डच लोग, लिस्बन से सब प्रकार का माल ले जाकर यूरोप के उत्तर भाग की पूर्ति करते थे । फिर आगे जाकर डच लोगों का मोर्चा हिन्दुस्थान की ओर मुड़ा । लिन्सकोटेन नामक डच व्यापारी लिस्बन नगर में कुछ दिनों तक रह कर वहाँ से पोर्तुगीजों के साथ गोआ आया । वह वहाँ तेरह वर्षों तक रहा और व्यापार के सम्बन्ध में उसने बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की । सन् १५९२ में स्वदेश लौटकर सन् १५५३ में उसने अपना कार्य विवरण प्रकाशित किया । उसके बाद आम्सटर्डम के के व्यापारियों ने सभा करके एक व्यापारी पोतसमूह भेजने का निश्चय किया और उसके अनुसार कार्नेलियस पौटमन की अध्यक्षता में सन् १५९५ में चार जहाज अफ्रिका के रास्ते से हिन्दुस्थान आये वे ढाई वर्ष तक यहाँ रहकर वापिस गये । तदुपरान्त पाँच छः वर्षों में डच लोगों ने भारत की पन्द्रह यात्राये कीं और अनेक कम्पनियों की स्थापना की थी । इन सब कम्पनियों को एक में मिलाकर डच पार्लमेंन्ट ने "डच-ईस्ट इन्डिया कम्पनी" नामक एक बड़ी कम्पनी सन् १६०२ में संगठित की ।

सत्रहवीं शताब्दि-भर पूर्व का व्यापार डच लोगों के ही हाथ में रहा, क्योंकि इस शताब्दि में समुद्र पर इन लोगों का अबाधित अधिकार रहा । डच लोगों का उद्देश्य केवल व्यापार-बृद्धि था । पोर्तुगीज के समान अरब से लोगी का व्यापार नष्ट कर ईसाई धर्म बृद्धि करने का नवीन प्रदेश जीत कर पोर्तुगीज राज्य बढ़ाने का उद्देश्य डच लोंगों का नहीं था । उन्होंने कहीं भी राजकीय अन्तर्व्यवस्था में कभी हाथ नहीं डाला ।

डच लोगों ने सबसे पहली कोठी सन् १६५२ में मद्रास के पास पालकोलू स्थान पर स्थापित की । फिर छः वर्ष बाद, अर्थात् १६५७ में पोर्तुगीजों का सीलोन के जफनपट्टास का किला ले लिया और १६६४ में मलावार किनारे के पोर्तुगीजों के सब थाने जीतकर सन् १६६९ में उन्हें सेन्टथामी से भी निकाल बाहर किया । इस प्रकार डच लोग हिन्दुस्तान में सर्व समर्थ होकर रहने लगे । पर इसी समय उनके इस

वैभव को नष्ट करने वाली एक दूसरी सत्ता भारत में धीरे-धीरे प्रबल हो रही थी, अर्थात् अंग्रेजों की सत्ता बढ़ रही थी।

अम्बोयाना में डच लोगों ने सन् १६२३ में अंग्रेजों का जो कत्ल किया वही कत्ल भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता स्थापित करने में करणीभूत हुआ और डच लोगों की व्यापारी पद्धति के संकुचित होने के कारण उनकी सत्ता डगमगाने लगी। क्रूरता में तो इन लोगों ने पोर्तुगीजों को भी मात कर दिया; इसलिए उनके प्रति यहाँ के निवासियों को बहुत ही अप्रीति के भाव पैदा हो गये। इधर तो सामुद्रिक सत्ता रखने वाले राष्ट्र आगे बढ़े, उधर डच लोगों के राज्य का पाया पूर्व की ओर बहुत ही कमजोर हो गया। इन सब कारणों से अन्त में ये लोग अंग्रेजों के सन्मुख न टिक सके। सन् १७५८ में क्लाइव ने चिनसुरा में डच लोगों का पूर्ण पराभव किया और फिर डच लोगों के अधिकार में भारत का कुछ भी हिस्सा न रह गया। डच लोगों के बाद भारत के व्यापार के लिए अंग्रेजों और फ्रेंचों में झगड़ा चला; पर अन्त में फ्रेंचों का भी पराभव कर अंग्रेज भारत में बेरोकटोक संचार करने लगे।

भारतवर्ष में पहले-पहल अंग्रेजों का आगमन ९वीं शताब्दि में हुआ था, अर्थात् राजा अल्फ्रेड ने अपने प्रतिनिधि भारतवर्ष को भेजे थे। इन प्रतिनिधियों के आने के कोई चार-पाँच सौ वर्ष बाद अर्थात् चौदहवीं शताब्दि में सर जार्ज मण्डेह्विल नामक अंग्रेज यहाँ आया। ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त अंग्रेजों के दोनों बार के आगमन में अभी शंका है; परन्तु यह निश्चित है कि सर जार्ज मण्डेह्विल की लिखी हुई भारत की प्रवास-सम्बन्धी पुस्तक सन् १४९९ में इंगलैंड में छपी थी और कहा जाता है कि इंगलैंड के छापाखाने में छपी हुई यही सबसे पहली पुस्तक है। यदि यह बात सच है तो भारतवर्ष के सम्बन्ध में अंग्रेजों की छापी हुई सबसे पहली पुस्तक का होना एक बड़ा दिलक्षण योग है। उक्त दोनों बार अंग्रेजों का आगमन यदि सच मान भी लिया जाय तो भी वह चिरस्थायी रूप से नहीं हुआ होगा। वे लोग भारत में आकर केवल देश को देख गये होंगे; परन्तु अर्वाचीन काल में आकर यहाँ पर बस जाने वाला सबसे पहला अंग्रेज फ़ादर टामस स्टीफ़न था। सन् १५७९ के अक्टूबर मास में स्टीफ़न इसाई धर्म का प्रचार करने और मौका लगने पर व्यापार करने के उद्देश्य से गोआ आया। उसके बाद वह आजन्म भारत ही में रहा। इसने भारत की लोक-स्थिति और व्यापार का मनोरंजक वर्णन लिखकर विलायत को भेजा। साष्टी अर्थात् थाने में रहकर हिन्दुओं को उपदेश करते हुए ईसाई धर्म के प्रचार करने में उसके बहुत वर्ष व्यतीत हुए। इसी स्टीफ़न साहब ने मराठी कोंकनी भाषा और रोमन लिपि में "क्राइस्ट पुराण" नामक एक उत्तम ग्रन्थ लिखा और मराठी-कोंकनी भाषा का व्याकरण भी इसने पोर्तुगीज भाषा में रचा। सन् १५८३ में राल्फफिच नामक

अंग्रेज के स्थल मार्ग से ईरान की खाड़ी पर्यन्त आने पर पोर्तुगीजों ने उसे कैद कर लिया और गोआ भेज दिया। जब वह वापिस लौटकर विलायत गया, तब उसने वहाँ भारतवासियों तथा उनकी सम्पत्ति का जो चित्ताकर्षक वर्णन किया उससे वहाँ के निवासियों में भारत के सम्बन्ध में उत्सुकता बढ़ाने वाली कल्पना उत्पन्न हुई। फिर सन् १५८६ में टामस कवेण्डिश सारे भू-मंडल का पर्यटन करते-करते यहाँ आया। उसके लौटकर विलायत पहुँचने के बाद उसकी सहायता से विलायत के प्रमुख व्यापारियों ने एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया और वह महारानी एलिजाबेथ के सन्मुख उपस्थित किया गया; जिस पर महारानी ने अपने प्रजाजनों को पूर्वीय देशों में व्यापारार्थ जाने की आज्ञा दी। इसके पश्चात् ही, थोड़े ही काल में, अर्थात् १६०० ईस्वी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। इसके एक वर्ष पहले लन्दन के व्यापारियों ने महारानी एलिजाबेथ से निवेदन करके मिलनहाल नामक एक चतुर और साहसी अंग्रेज को इस सम्बन्ध में अकबर बादशाह से बातचीत करने को भेजा। वह सन १६०२ में विलायत को लौट गया। तब उसके मुँह से दिल्ली के बादशाह के वैभव और इस देश की सभ्यता तथा सम्पत्ति की कल्पना अंग्रेजों को हुई।

महारानी एलिजाबेथ ने अकबर बादशाह तथा अन्य राजाओं को देने के लिए जो पत्र लिखे थे उनके पठनीय होने से उनका कुछ अंश दूसरे पृष्ठ पर उद्धृत किया जाता है—"यद्यपि सर्व शक्तिमान प्रभु ने जगत् में उत्तमोत्तम पदार्थ उत्पन्न कर सर्व सुव्यवस्था कर रक्खी है तो भी सम्पूर्ण राष्ट्रों को ईश्वर के औदार्य का लाभ एक समान हो यह ईश्वरेच्छा का संकेत मालूम होता है। इसी कारण दूर देशों में परस्पर व्यापार होता है और लोगों में स्नेह-भाव बढ़ता है। पर-राष्ट्रों के लोगों के आपके देश में पहुँचने पर आप उनका उत्तम रीति से आदर-सत्कार करते हैं, इससे हमें आशा है कि आप हमारे देश के व्यापारियों को भी अपने देश में व्यापार करने की आज्ञा देंगे। उनके साथ उचित व्यवहार करने पर आप उन्हें सभ्य और व्यवहार में सच्चा पावेंगे और उन्हें अपने देश में आने देने के कारण आपको कभी कोई शिकायत करने का अवसर नहीं आयेगा। स्पेनिश और पोर्तुगीज व्यापारी यहाँ का माल आपके देश में ले जाते हैं; परन्तु वे लोग हमारे व्यापारियों को निरर्थक कष्ट देते हैं। वास्तव में देखा जाय तो वे भारतवर्ष में केवल व्यापार के उद्देश्य से नहीं गये हैं, किन्तु अपने आपको भारतवर्ष के बादशाह समझते हैं और कहते फिरते हैं कि हिन्दुस्तान-निवासी हमारी प्रजा है। लिखा-पढ़ी में भी यही बात स्पष्ट रीति से लिखते हैं। हमारे लोग आपके यहाँ निरी व्यापारिक दृष्टि से आ रहे हैं। हमें आशा है कि आप उन्हें अपने देश में आने देंगे और व्यापारिक सम्बन्ध और स्नेह की वृद्धि करेंगे। हमारा पत्र लेकर आने वाले सज्जन आपसे जो ठहराव करेंगे उनका हम ईमानदारी के साथ

पालन करेंगे और आप उन पर जो उपकार करेंगे उसका बदला हम बहुत जल्द और बड़ी ईमानदारी से चुकावेंगे।"

सन १६०६ में केप्टन हाकिन्स नामक अंग्रेज दिल्ली में बादशाह से मिलने गया। उसे बादशाह ने अंग्रेजी कम्पनी को व्यापार करने की आज्ञा का परवाना सूरत में दिया। सन १६२१ में कारोमण्डल के किनारे पर केप्टन हिपान नामक अंग्रेज ने मछलीपट्टमे के पास पेट्टापुली में एक व्यापारी कोठी की स्थापना किया। हाकिन्स के पश्चात् अनेक अंग्रेज व्यापारी मुगल दरबार में आये। १६११ और १६१४ में अंग्रेजों और पुर्तगीजों का पररपर में सामना हुआ जिसमें अँग्रेजों को सफलता प्राप्त हुई। १६१६ में केप्टन कीलिङ्ग ने कालीकत जाकर सामूरी से व्यापारी संधि की। १६१२ में विलायत में बहुजन संगृहीत पूँजी की पद्धति प्रारम्भ हुई जिससे बहुत बड़ी रकम एकत्रित हुई और व्यापार को बल प्राप्त हुआ। इसी समय केप्टन डाउरण्टन नामक एक अंग्रेज व्यापारी सूरत आया और उसने वहां के व्यापारी अधिकारियों की सहायता से बड़ोदा, अहमदाबाद आदि स्थानों में घूम कर गुजरात प्रान्त में कपड़ा, कपास, नील आदि का व्यापार बढ़ाने की योजना की। सन १६१४ में इंगलैण्ड के राजा जेम्स ने सर टामस रो नामक एक विद्वान पुरुष को जहाँगीर के दरबार में अपना वकील बना कर भेजा। इसकी बातचीत से दोनों राजाओं में सन्धि हुई; परन्तु दरबारी लोगों की धूर्तता के कारण सन्धि-पत्र पर बादशाह के हस्ताक्षर न हो सके, तो भी शाहजादे के बीच-बचाव से अंग्रेजों को सूरत में रहने, देश में व्यापार करते हुए प्रवास करने और मुगल दरबार में अंग्रेज वकील रखने की आज्ञा प्राप्त हुई। हिन्दुस्तान में एक वर्ष तक रह कर सर टामस रो को विलायत में यह निश्चयपूर्वक कहने का साहस हुआ कि "अपनी व्यापार-विषयक इच्छा सफल होने में तो आशंका नहीं है, पर हमारे राजा को अपनी बराबरी का मानकर बादशाह के सन्धि कर लेने की सम्भावना नहीं है। मुगलों की सहायता करने अथवा तटबन्दी करके समुद्र-किनारे की रक्षा करने का विचार निरुपयोगी है, क्योंकि व्यापार और युद्ध ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। समुद्र पर शान्ति पूर्वक व्यापार करने से हमें जो लाभ हो उसे ही प्राप्त करने का शुद्ध हेतु मन में रखना उचित है।"

दो वर्षों तक मुगल-दरबार में रहकर सर टामस रो ने बादशाह से राजा जेम्स के लिए पत्र प्राप्त किया जिसमें बादशाह ने अंग्रेज व्यापारियों का परामर्श अच्छी तरह लेने का वचन दिया था। सन १६१६ में कप्तान कीलिङ्ग ने दक्षिण भारत में क्रेङ्गनोर नाम के स्थान में कोठी स्थापित करने का प्रयत्न किया। जमोरिन की कृपा से क्रेङ्ग-नोर का किला अंग्रेजों को मिलने वाला था; परन्तु वहाँ से उन्हें अपने साथियों सहित शीघ्र ही हट जाना पड़ा; अतः उन्होंने कालीकत बन्दर पर अपनी कोठी स्थापित की।

इसी वर्ष टामस केरिज सूरत की कोठी का पहला गवर्नर नियत हुआ। सन १६२७ में अंग्रेज और डच लोगों ने मिलकर बम्बई बन्दर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का विचार किया; परन्तु उनका यह विचार सफल न हो सका। जबकि यूरोपियन व्यापारी भारतवर्ष में व्यापारार्थ इतनी दूर से आये थे तो उनकी यह कल्पना होना स्वाभाविक थी कि यहाँ अवश्य मक्खन-मिश्री मिलेगी, और उनकी यह कल्पना झूठ भी नहीं थी। यहाँ जो व्यापारी आये उनमें मुख्य डच, अंग्रेज और पोर्तुगीज थे। पहले दो प्रोटेस्टेन्ट धर्मानुयायी थे। तीसरे रोमन केथोलिक धर्म को मानते थे। इस समय यूरोप में धार्मिक दलबन्दी बहुत अधिक थी, इसलिए डच और अंग्रेज परस्पर प्रेम से रहते थे और पोर्तुगीजों से शत्रुता रखते थे। सन १६१५ में डच लोगों के भारतवर्ष में ५१ जहाज और तेरह लाख पाउण्ड अर्थात् एक करोड़ तीस लाख रुपयों की पूँजी व्यापार में लगी हुई थी। इसी वर्ष अंग्रेजों का भी व्यापार इतना बढ़ गया था कि उन्हें केवल दो जहाजों के लाने पर एक लाख चालीस हजार रुपये खर्च करने पड़े थे। सन १६१६ में उनके केवल एक जहाज के माल की कीमत चौदह लाख रुपये कूती गई थी। अंग्रेजों ने अपनी पहली व्यापार-यात्रा के समय छ: लाख तिरासी हजार रुपयों की पूँजी एकत्रित की थी। इस यात्रा में चार हजार और ४८० अंग्रेज आये थे। इस यात्रा में अंग्रेजों को बड़ा भारी लाभ हुआ। तीस हजार रुपयों की लौंग के दाम इंगलैंड में तीन लाख साठ हजार रुपये खड़े हुए। इनकी पहली नौ-यात्राओं में छियालिस लाख रुपयों की पूँजी लगी थी जिस पर सैकड़ा पीछे दो सौ रुपयों का नफा हुआ था। सन १६१२ में जब इंगलैंड में बहु-जन-संगृहीत पूँजी इकट्ठी की गई, तब एक करोड़ बासठ लाख रुपये इकट्ठे हुए। यह पूँजी ६३४ लोगों ने ही एकत्रित कर ली थी। शिवाजी के जन्म के छ: वर्ष पहले अंग्रेजी व्यापार-कम्पनी ने पार्लामेंट के सन्मुख अपना सन १६०१ से १६२१ तक, बीस वर्ष का, जो चिट्ठा पेश किया था उस पर से विदित होता है कि कम्पनी ने ८६ जहाज बाहर भेजे थे। उनमें से ३६ वापस गये, ६ डूबे, ५ खराब हो गये, ११ शत्रु के हाथ लगे और २५ उस समय भारतवर्ष में माल भर रहे थे। इन बीस वर्षों में नकद पूँजी और विलायती माल दोनों मिलाकर ६३ लाख ३८ हजार इंगलैंड से बाहर भेजे गये। इसमें से ३६ जहाज जो माल लाये थे उनकी खरीद की कीमत ३७ लाख ५२ हजार रुपये थी। इस माल की बिक्री इंगलैंड में करने पर २ करोड़ छियालीस हजार रुपये खड़े हुए, अर्थात् ३७ लाख पर १ करोड़ ५२ लाख का फायदा हुआ।

सन १६१८ के लगभग, शिवाजी के जन्म के ९ वर्ष पहले, अंग्रेज व्यापारियों ने हिन्दुस्तान में अपना व्यापार जमा लिया और मुगल बादशाहत की अव्यवस्था

को देखकर वे और भी अधिक जोर से व्यापार को बढ़ाने का विचार करने लगे। इस वर्ष सर टामस-रो ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में यों लिखा था:—

"आवश्यकतानुसार हमें फर्मान (आज्ञापत्र) मिल गये हैं। यहाँ बादशाह की केवल इच्छा कानून है, इसलिए सम्पूर्ण दरबारी व्यवहार पैसे पर चलता है। इन लोगों के साथ गरीबी से व्यवहार करना लाभदायक नहीं है। उन्हें हमसे घृणा है। उनके धन-धान्य-पूर्ण स्थानों को भिखारी बनाकर वहाँ का सब व्यापार हमने नष्ट कर दिया है। हमारा जितना अधिक प्रभाव उन पर पड़ेगा उतना ही अधिक हमारा काम सिद्ध होउा। इन लोगों को तलवार की धार के नीचे रखना चाहिये। यदि अधिकारीगण हमारी माँगें पूरी नहीं करेंगे, तो हम निःसंकोच होकर यहाँ के व्यापारियों के जहाज पकड़कर अपना काम निकालेंगे।"

———

तोसरा अध्याय

पिछली घटनायें

गत प्रकरण में लिखे अनुसार सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग मराठे और अंग्रेज दोनों ही अपना-अपना उद्देश्य सिद्ध करने में व्यस्त थे, इसलिए इन दोनों के बीच कहीं न कहीं गाँठ पड़ना अनिवार्य था और यह भी सम्भव नहीं था कि ये दोनों परस्पर शान्तिपूर्वक मिलते। मुगलों और अंग्रेजों का सम्मिलन शान्ति से होने का कारण मुगलों के हाथ में सत्ता का होना था। अंग्रेजों को व्यापार के लिए मुगलों से परवाने लेने और कई सुभीते करवाने थे और मुगलों को अंग्रेजों से आमोद-प्रमोद एवं विलासिता की विलायती सामग्री और व्यापारी माल पर चुंगी वसूल करनी थो। अंग्रेज मुगलों से हाथ बाँधकर नम्रता से और मुगल यह समझकर कि हम अंग्रेजों पर उपकार कर रहे हैं, अभिमान से व्यवहार करते थे। नम्रता और अभिमान में झगड़ा होने का कोई कारण नहीं था; परन्तु मराठे और अंग्रेजों में ऐसा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। मराठों ने इस समय मुगलों से युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। युद्ध में सब अपने-अपने अनुकूल दाँव लगाते ही हैं। मराठों के पास इतनी तैयारी नहीं थी कि वे मुगलों के सम्मुख खड़े होकर युद्ध कर सकें और मुगल साधनों से भरे-पूरे तथा अभिमानी थे जिससे चपल और सीधे-सादे मराठों के लिए छापा मारना तथा रसद और खजाना लूट लेना ही सम्भव एवं इष्ट था। मुगलों ने मराठों की राजकीय स्वतन्त्रता पर जो आक्रमण किया उसके आगे मराठों का खजाना आदि लूटना अधिक निन्द्य नहीं था और ऊपर कहे अनुसार मुगलों और मराठों के बीच युद्ध छिड़ जाने से मराठों के बिरुद्ध मुगलों की इस शिकायत से कि मराठे लूट-मार करते थे, उनकी मूर्खता ही झलकती है। युद्ध में शत्रु पर मार्मिक प्रहार करने की तो नीति ही है। इसी प्रकार युद्ध करने वालों के साथियों का दुःख उठाना, चाहे वे स्वयं भी युद्ध न भी करें, कोई आश्चर्य की बात नहीं है और न इसमें किसी का दोष ही है। इन दिनों अंग्रेज पूरी तरह से मुगलों के आश्रित

थे; अतः मराठों के बीच संघर्षों में मुगलों के साथ-साथ उनका सम्पर्क हो जाना भी सम्भव था।

इस समय पराक्रम के कारण मराठों का आधिपत्य शिवाजी को मिला था। निज़ामशाही का नाश हो जाने पर शाहजी बीजापुर-दरबार की नौकरी करने लगे और १६३८ के लगभग एक बड़ी भारी सेना के साथ अपने बादशाह के लिए दक्षिण में देश जीतने को निकले और वहीं जाकर बस गये। शाहजी प्रायः २० वर्ष तक कर्नाटक में रहे। वे बीच-बीच में इधर आया तो करते थे; परन्तु सन १६३६ के बाद पूना में स्थायी रूप से कभी नहीं रहे। शाहजी ने अपनी जागीर के समान अपनी स्त्री जीजाबाई तथा पुत्र शिवाजी को भी त्याग दिया था, मानो उन्होंने नवीन विवाह तथा नवीन जागीर प्राप्त करके और अधिक ऐश्वर्य के साथ रहने का निश्चय किया हो। यद्यपि शिवाकी को पितृ-प्रेम का लाभ नहीं हुआ तो भी अपने पिता की जागीर उन्हें प्राप्त हुई। इस छोटी-सी जागीर के टुकड़े अपनी तेजस्विनी माता के आशीर्वाद और अपनी महत्वाकाँक्षा के बल से, बीज से वृक्ष उत्पन्न के समान, शिवाजी ने हिन्दू साम्राज्य निर्माण कर अपने पिता को लज्जित करने की आकांक्षा की और यह आकांक्षा ईश्वर-कृपा से पूर्ण भी हुई। यहाँ शिवाजी का सम्पूर्ण चरित्र लिखने का अवकाश न होने से हमें उनके चरित्र-क्रम पर उड़ती हुई नजर फेंकना ही बहुत है।

शिवाजी के कुछ बड़े हो जाने पर उन्हें अपनी जागीर का प्रबन्ध करना पड़ा और ऐसा करते समय जागीर की सीमा पर रहने वाले उद्दण्ड किलेदारों से प्रथम उन्हें झगड़ना पड़ा। यह समय राज्य-क्रान्ति का सन्धिकाल था, इसलिए ऐसे अवसर पर इन लोगों की अच्छी बन आई थी। ये किले किसी के भी अधिकार में नही रहे थे और न उनमें किसी मुसलमान बादशाह की फौज ही थी, इसलिए जिसके हाथ जो किला पड़ जाता था वही उसका स्वामी बनकर आस-पास के स्थानों पर धावे मारता और अपना निर्वाह तथा अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा भी साथ ही साथ करता था। इन किलेदारों को जीतने अथवा उन्हें वश में करने का कार्य करने से शिवाजी को राजनीति और युद्ध-कौशल की जीती-जागती शिक्षा मिली। किलेदारों के रंग-ढंग पर से शिवाजी को भी किले अधिकृत करने की इच्छा हुई और उन्होंने केवल १९ वर्ष की अवस्था में तोरण नामक किला लेकर स्वराज्य-समारम्भ के मुहूर्त का पाया खड़ा किया। किले लेने तथा नवीन किले बाँधने से शिवाजी में आत्म-विश्वास की वृद्धि हुई और जिस वर्ष शाहजी ने बीजापुर दरबार से जागीर प्राप्त की उसी वर्ष शिवाजी ने यहाँ घाटी किलों की समानता रखने वाले विजयदुर्ग, सुवर्णदुर्ग, रत्नागिरी आदि कोंकन-

प्रान्त के किलों को जीतकर पिता की नयी जागीर से भी अधिक विस्तृत और स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। शिवाजी की धाक चारों ओर जम गई। सन १६४८ में स्वयं बीजापुर दरबार के पाँच-सात सौ पठान नौकर शिवाजी के पास नौकरी करने की इच्छा से आये और शिवाजी ने उन्हें रख भी लिया। शिवाजी के इस कृत्य को बादशाह ने राज-विद्रोह कहकर शाहजी के द्वारा उन्हें दबाने का प्रयत्न किया; परन्तु जब वह असफल हुआ, तो शिवाजी पर चढ़ाई करना प्रारम्भ कर दिया। शिवाजी ने भी मुगलों की सरदारी, आवश्यकतानुसार स्वीकार कर अपने और मुगलों के बल से बीजापुर के बादशाह से युद्ध छेड़ा। यह युद्ध १६५३ से १६६२ तक चला। इसी बीच में शिवाजी ने अफजल खाँ को सन १६५९ में मारा, कोंकन-प्रान्त जीतकर मराठी नौसेना का बीजारोपण किया और कल्याण से लेकर गोआ तक और भीमा से लेकर वारण पर्यन्त १५० मील के लगभग लम्बा और १४० मील चौड़ा प्रदेश अपने राज्य में मिलाया। तब कहीं बीजापुर दरबार ने समझा कि अब शिवाजी को वश करना अपनी शक्ति के बाहर है और फिर उसे शाहजी की मध्यस्थता में शिवाजी से सन १६६२ में सन्धि कर लेनी पड़ी। इस युद्ध से अवकाश मिलते ही शिवाजी ने मुगलों की तरफ अपना मोर्चा फेरा। एक बादशाहत का दर्प-दमन करने पर दूसरे की भी वही दशा कर सकने का आत्म-विश्वास शिवाजी में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। सन १६६१ में मुगलों की सेना ने शिवाजी के अधिकार से कल्याणी और भीवड़ी ले ली और उनसे छेड़-छाड़ शुरू की। इस समय से मुगलों और शिवाजी के बीच जो युद्ध प्रारम्भ हुआ वह सन १६७२-७३ तक ठहर-ठहर कर होता रहा। इसी बीच में अर्थात् बीजापुर के बादशाह और दिल्ली के बादशाह से युद्ध करते समय शिवाजी और अंग्रेजों का प्रथम सम्बन्ध हुआ। जिस समय बीजापुर के बादशाह से युद्ध हो रहा था उसी समय सन १६४८ में शिवाजी ने राजापुर पर चढ़ाई की जिससे अंग्रेजों पर उनका बड़ा भारी प्रभाव जम गया। यद्यपि शिवाजी का ध्यान बादशाही प्रदेश पर विशेष था, तो भी अंग्रेज उनकी निगाह से अलग नहीं थे; क्योंकि रांगणा में बीजापुर की सेना का पराभव करने के पश्चात् जब वे राजापुर गये तो वहाँ अंग्रेजों की कोठी होने से पन्हाला का घेरा डालने वाले मुसलमानों को अंग्रेजों से गोली-बारूद की सहायता मिलने का सन्देह शिवाजी को हुआ। शत्रु की सहायता करने वाले अंग्रेजों की कोठी लूटने के सिवा उनका और भी अधिक प्रबन्ध करने का विचार शिवाजी ने किया और इसीलिए राजापुर से पैसा वसूल करने के बाद उन्होंने अंग्रेजों की कोठी लूटी और अंग्रेज व्यापारियों को पकड़कर एक पहाड़ी किले में दो वर्ष तक कैद रक्खा। राजापुर की इस लूट में अंग्रेजों की दस हजार होन की हानि हुई; अतः अंग्रेजों की कोठी का लूटना मंजूर नहीं किया गया। कुछ भी हो, अंग्रेजों का और

शिवाजी का जो प्रथम सम्बन्ध हुआ वह किस प्रकार हुआ यही हम दिखलाना चाहते हैं। इस पहली भेंट से ही अंग्रेजों पर शिवाजी की धाक जम गई। राजापुर के समाचार सूरत पहुँचे, इसलिए वहाँ के अंग्रेजों को भी शिवाजी के छापा मारने का भय होने लगा। उस समय जहाँ-तहाँ शिवाजी ही शिवाजी दिखते थे। बात कुछ भी हो, उन्हें उसमें शिवाजी का ही भ्रम होता था और उनका यह भ्रम दो तीन वर्ष बाद सत्य भी निकला।

सन १६५६ में शिद्दी याकूब खाँ ने अंग्रेजों से यह बातचीत शुरू की कि तुम चाहते हो कि राजापुर में डच लोग कोठी न बनवावें और मैं चाहता हूँ कि शिवाजी मेरे राज्य में प्रवेश न करें, अतः हम तुम दोनों यह सन्धि कर लें कि मैं तो डच लोगों को अपनी कोठी न खोलने दूँ और तुम मुझे शिवाजी के विरुद्ध सहायता दो। परन्तु सूरत के गवर्नर ने शिद्दी की ये शर्तें स्वीकार नहीं की, क्योकि उन्हें भय था कि इन शर्तों को सुनते ही शिवाजी हम पर आक्रमण कर देंगे और फिर सँभालना कठिन हो जायगा। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करने के बाद अंग्रेजों ने शिद्दी से सन्धि करने का विचार छोड़ दिया और भीतरी आर्थिक सहायता पहुँचा कर उससे स्वीकार करा लिया कि हम राजापुर में डच लोगों को कोठी स्थापित न करने देंगे।

राजापुर के बाद शिवाजी और अंग्रेजों को भेंट सूरत में हुई। राजापुर में जिस तरह बीजापुर की सहायता से अंग्रेजों ने कोठी स्थापित की थी, उसी प्रकार सूरत में भी मुगलों की सहायता से अपने व्यापारों की कोठी खोली। पहले सूरत ही अंग्रेजों के व्यापार का मुख्य बन्दरस्थान था और वहाँ बहुत माल उतरा करता था। इसलिये मुगलों को भी चुंगी की आय अच्छी होती थी। इस धन पूर्ण स्थान को लूटने की इच्छा यदि शिवाजी को हुई भी हो तो आश्चर्य ही क्या? मालूम होता है कि १६६३ के पहले भी शिवाजी ने सूरत पर एकाध बार चढ़ाई की होगी, क्योंकि १६६३ के फरवरी मास की चौथी तारीख को वहाँ की कोठियों के अंग्रेज गर्वनर ने अपने पत्र में लिखा था कि—'लायल मर्चेन्ट' और 'अफ़्रिकन' नामक दो जहाज ता० २९ जनवरी को रवाना हुये हैं। इनके देरी से रवाना होने का कारण यह है कि शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई कर नगर लूटा था, इसलिये बहुत दिनों तक कामकाज बन्द रहा था और नावों पर से माल उतरना कठिन हो गया था। हमारे पहले पत्र के पश्चात् फिर एक बार शिवाजी के आने की अफवाह उड़ी थी और उस पर से पहले की अपेक्षा इस बार अधिक गड़बड़ी हुई। लोग गाँव छोड़ छोड़ कर चले गये। उन्होंने अपनी धन सम्पत्ति और व्यापारी माल किले में रख दिया। कई ने तो किले के भौंहरे को माल से पूर दिया था। बड़े बड़े बर्तन नदी में डाल दिये थे। शिवाजी के द्वारा हाथ-पाँव तोड़े जाने

की खबर उड़ने के कारण लोग उसकी क्रूरता से बहुत डरने लगे हैं और नगर की रक्षा के लिये बादशाही सेना के न आने पर शिवाजी के आने की अफवाह पर से ही लोग बस्ती छोड़कर भाग जाते हैं।"

सन १६६४ की जनवरी में शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई की। उस समय नगर-रक्षा के कार्य में शहर के मुगल गवर्नर को अंग्रेजी तोपों से बड़ी भारी सहायता मिली। यद्यपि शिवाजी की चढ़ाई, वास्तविक रीति से देखी जाय, तो अंग्रेज अथवा डच व्यापारियों पर नहीं वरन मुगलों पर थी, तो भी गोरे व्यापारियों ने अपने बचाव का प्रबन्ध भी कर रखा और मुगलों को भी सहायता दी। कोठी की रक्षा कर सकने के कारण कंपनी ने सूरत में रहने वाले प्रेसिडेन्ट सर जार्ज आक्सडेन को एक सुवर्णपदक तथा दो सौ मुहरों की थैली पारितोषिक रूप दी। अकबर बादशाह ने भी इन्हें बहुमानसूचक खिलअत दी और सूरत के अंग्रेज व्यापारियों पर जकात में भी कुछ रिआयत कर दी।

आगामी वर्ष शिवाजी ने ८५ छोटे और ३ बड़े जहाज लेकर कारवार पर चढ़ाई की। यहाँ भी अंग्रेजों की कोठी थी। कारवार सुदृढ़ स्थान नहीं था, अतः उसका शीघ्र ही पतन हुआ और शिवाजी से सन्धि की गई। सन्धि के अनुसार शिवाजी को दी जाने वाली रकम में से अपने हिस्से के ११२ पाउण्ड अंग्रेजों ने उसी समय दे दिये। सन १६७० में शिवाजी ने सूरत पर फिर चढ़ाई की। इस बार उनकी १५,००० सेना ने शहर पर अधिकार कर लिया। इस समय कितने ही अंग्रेज व्यापारी मारे गये और कुछ व्यापारियों का माल लूट भी लिया गया। डच व्यापारियों की कोठी को शिवाजी ने बिलकुल छोड़ दिया। इस समय यहाँ फ्रेंच लोगों की भी कोठी थी, परन्तु शिवाजी के आगे उनकी भी न चली और उन्हें अपनी सीमा में से शिवाजी को मार्ग देना पड़ा। इस चढ़ाई में बहुत सा माल और धन शिवाजी के हाथों लगा।

इसके बाद शिवाजी और अंग्रेजों की भेंट सन १६७३ में हुबली में हुई। यहाँ भी अंग्रेजों की कोठियाँ थीं। अंग्रेजों का कहना है कि शिवाजी की इस चढ़ाई में उन्हें पौन लाख रुपयों के लगभग की हानि उठानी पड़ी! इस क्षति की पूर्ति के लिये अंग्रेजों ने शिवाजी से कहा, परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि यह हानि यदि हुई भी होगी, तो फुटकर हुई होगी, इसलिये भरी नहीं जा सकती। यहाँ पर भी शिवाजी का उद्देश्य अंग्रेजों को लूटने का नहीं, वरन मुगलों पर आक्रमण करने का था; तथापि उस समय नगर में सब देशों के व्यापारी होने के कारण उनके माल की भी लूट हुई और वे भी बीच में पड़ जाने से वैसे ही पिस गये। हुबली की इस क्षति और राजापुर की क्षति को बम्बई के डिपुटी-गवर्नर आनजियर बहुत दिनों तक शिवाजी से माँगते रहे; पर उन्होंने उसे

नियमानुकूल स्वीकार नहीं किया। शिवाजी को जंजीरे के शिद्दी पर जलमार्ग से आक्रमण करने में अंग्रेजों की सहायता की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने अंग्रेजों को वचन दिया कि जो हुआ सो हुआ, अब आगे तुम पर किसी प्रकार का आक्रमण न करेंगे तथा तुम यदि राजापुर में कोठी खोलना चाहो, तो उसमें भी हमें कोई आपत्ति न होगी। पर पहले के अनुभव के कारण विशेष प्रकार से विश्वास हो जाने के सिवा राजापुर में पुनः कोठी खोलने का अंग्रेजों को साहस नहीं हुआ। विरुद्ध शिवाजी की सहायता करने में भी उन्हें संकट का ही भय हुआ होगा; क्योंकि बम्बई से जंजीरा पास होने के कारण शिवाजी की सहायता करने से शिद्दी की सामुद्रिक सेना का घेरा बम्बई पर पड़ जाने का भय था। इसीलिये अंग्रेजों ने शिवाजी को यह कह कर कि "हम ठहरे व्यापारी; हमको इस युद्ध के पचड़े से क्या काम; केवल अपनी रक्षा के सिवा युद्ध की मारकाट में पड़ने की हमारी इच्छा नहीं है" अपना काम निकाल लिया; लेकिन तब भी नुकसानी मिलने का उजर वे नहीं भूले। १६७३ के मई महीने में निकल्स नामक अंग्रेज व्यापारियों का वकील सम्भाजी की मार्फत शिवाजी से मिला; परन्तु इस मुलाकात से कुछ सार नहीं निकला।

सन १६७४ में मराठों की दस सहस्त्र सेना साष्टी में आई और बसई प्रान्त में उसने चौथ वसूल करना प्रारम्भ किया, इसलिए बम्बई के अंग्रेजों को बहुत भय उत्पन्न हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि रायगढ़ में शिवाजी का जो राज्याभिषेक हुआ उसमें बम्बई के अङ्गरेज व्यापारियों की तरफ से हेनरी आक्सडन नामक अंग्रेज, दो अङ्गरेज व्यापारियों के साथ, शिवाजी का अभिनन्दन करने और नजराना देने के लिये आये। इस समय शिवाजी और अङ्गरेजों का निकट का परिचय शान्ति के साथ हुआ और दोनों में सन्धि होने का भी निश्चय हो गया। तारीख ६ अप्रेल, सन १६७४ में इस सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इस सन्धि-पत्र में २० धारायें थीं जिनमें निम्नलिखित मुख्य थीं—

(१) राजापुर में जो अङ्गरेजों को हानि उठानी पड़ी है वह शिवाजी अङ्गरेजों को भर देंगे और राजापुर, दाम्भोल, चौल और कल्याण में कोठी खोलने की अंग्रेज व्यापारियों को इजाजत दी जायगी तथा शिवाजी के अधिकृत सम्पूर्ण राज्य में अङ्गरेज व्यापार कर सकेंगे। अंग्रेज, माल का क्रय-विक्रय अपनी मनमानी दर से करेंगे और माल की दर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सख्ती शिवाजी की ओर से न होगी।

(२) शिवाजी के राज्य में जो माल आवेगा उस पर अङ्गरेजों को प्रति शत २॥) चुंगी देनी होगी।

(३) अङ्गरेज और शिवाजी के सिक्के एक दूसरे के देश में अपनी कीमत पर चल सकेंगे।

(४) दोनों को एक दूसरे के छीने हुये जहाज वापिस करने होंगे। राजापुर की क्षति के सम्बन्ध में दूसरा ही निश्चय किया गया। उसके अनुसार वहाँ की क्षति १०,-००० मुहरें कूती गई थीं। इसकी रकम अङ्गरेजों को नकद न मिलकर इस भाँति देने का निश्चय किया गया कि अङ्गरेज तीन वर्षों तक, प्रतिवर्ष ५००० हजार मुहरों के हिसाब से, १५,००० मुहरों का माल शिवाजी से खरीदें। जिसमें से सिर्फ साढ़े सात हजार मुहरें नकद दें और शेष साढ़े सात हजार मुहरें राजापुर में अङ्गरेजों की कोठी स्थापित होने पर आने वाले माल की जो चुंगी उन्हें देनी होगी उसमें से काट देवें। जीते हुये जहाज लौटाने की शर्त शिवाजी ने बड़े कष्ट से स्वीकार की; क्योंकि लूट पर राजा का विशेष अधिकार और प्रेम होता है। शिवाजी के सिक्के की शर्त भी बड़ी कठिनाई से मानी गई। उनका कहना था कि सिक्कों में जितनी धातु हो उसी के अनुसार उनकी कीमत रहे, लिखी हुई कीमत न मानी जाय। परन्तु अन्त में शिवाजी ने इन शर्तों का आग्रह भी छोड़ दिया। सन्धि नियम के अनुसार राजापुर में अङ्गरेजों ने फिर कोठी स्थापित की; पर वह पहले जैसी लाभदायक न हो सकी।

सन १६७८ में ५७ जहाजों की सेना और ४ हजार पैदल सेना लेकर शिवाजी का विचार पनवेल और शिद्दी कासम पर आक्रमण करने का था; परन्तु अङ्गरेजों ने बीच में पड़कर शिद्दी की रक्षा की। यद्यपि अंग्रेजों ने व्यापारी होने के कारण दूसरों के झगड़े में न पड़कर तटस्थ रहने का निश्चय किया था तथापि उनके हाथों से प्रायः विचार के अनुसार काम नहीं होता था। जञ्जीरा से लेकर बम्बई तक समुद्र-किनारे पर शिद्दी और मराठों के जहाजों का सदा परस्पर युद्ध होता रहता था। बम्बई बन्दर अंग्रेजो के अधिकार में था, इसलिये मराठों के प्रदेश पर चढ़ाई करके अथवा समुद्र-किनारे की प्रजा को त्रास पहुँचाकर शिद्दी के लड़ाकू जहाज बम्बई बन्दर में आश्रय लेते थे, इससे शिवाजी को बारम्बार यही संशय होता था कि अंग्रेज लोग भीतर ही भीतर शिद्दी से मिले तो नहीं है। एक बार तो बम्बई के प्रेसिडेन्ट को शिवाजी ने एक धमकी का सँदेशा भी भेज दिया था कि "शिद्दी का इस बार प्रबन्ध करो; नहीं तो तुम्हें आपत्ति में पड़ना पड़ेगा" तब कहीं अंग्रेजों ने अपना तटस्थपन दूर कर सबसे पहले शिद्दी का प्रबन्ध किया। शिद्दी के त्रास के कारण मराठी सेना के बम्बई पर आक्रमण का एक दो बार योग आया; परन्तु टल गया। सन १६८० के अप्रैल के महीने में जब शिवाजी के राज्य में से पकड़े हुये कितनेक हिन्दू लोगों को शिद्दी ने बेचना चाहा; तब बम्बई के अंग्रेजों ने इक्कीस हिन्दुओं का पता लगाकर उन्हें इस संकट से मुक्त किया। सन १६७९ में पश्चिम किनारे पर लड़ाकू जहाजों की संख्या बहुत कम करने के लिये

कम्पनी के बोर्ड ने निश्चय किया। इससे बम्बई-निवासियों को मराठों का बहुत भय लगने लगा; परन्तु शिवाजी की मृत्यु हो जाने पर उनका वह भय शीघ्र ही कम हो गया।

इतिहास-संशोधकों ने जो कागज-पत्र प्रकाशित किये हैं उनमें भी शिवाजी और अंग्रेजों के सम्बन्ध का पूरा वर्णन कुछ अधिक नहीं मिलता। बखरी में तो अंग्रेजों के नाम-निशान तक का प्राय: पता नहीं है। ऐसी दशा में किसी भी व्यवहार का सूक्ष्मवृत्त मिलना असम्भव है। परन्तु शिवाजी के समय भारत में रहने वाले अंग्रेजों की व्यापार कम्पनी के कागज-पत्र उसके कार्यालय में अब भी मिलते हैं और उनमें से बहुत से छप भी गये हैं। इनके और अन्य बातों के आधार पर से अंग्रेज इतिहासकारों ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। उससे तो यही विदित होता है कि अंग्रेजों और शिवाजी के बीच में जो कुछ सम्बन्ध हुआ उसमें शिवाजी ने अंग्रेजों पर अपना अच्छा दबदबा जमा लिया और वे शिवाजी से डर कर, उनसे नम्रता और सम्मान के साथ व्यवहार करते थे। कितने ही स्थानों पर अंग्रेज ग्रन्थकारों ने लिखा है कि "अंग्रेजों के आगे शिवाजी की कुछ नहीं चली और उन्हें हारना ही पड़ा"; परन्तु उन्हीं ग्रन्थकारों ने जो पूरा वर्णन दिया है उसी पर से उनके इस कथन का खण्डन सहज में ही हो जाता है। श्रीयुत सर देसाई ने अंग्रेजी के अनेक ग्रन्थों का परिश्रम-पूर्वक पर्या-लोचन कर अपनी 'मराठी रियासत' नामक पुस्तक में इस विषय पर कुछ पृष्ठ लिखे हैं। उसके कुछ भाग का अनुवाद यहाँ दिया जाता है।

"शिवाजी के द्वारा बहुत कुछ उपद्रव होने पर भी उन्हें सम्मानपूर्ण महत्व दिये बिना अंग्रेज न रह सके। अंग्रेजों को अन्नादि सामग्री और जलाऊ लकड़ी शिवाजी के ही राज्य से मिलती थी; अत: जब सूरत में शिवाजी त्रास देते, तो बंबई के व्यापारी अंग्रेज उन्हें बड़ी नम्रता और विनय से समझाते थे। सन १६७२ में जब कुलाबा जिले के पोर्तुगीज उपनिवेश 'घोड़ बन्दर' को शिवाजी ने अधिकृत करने का प्रयत्न किया तो बंबई के अंग्रेज बहुत ही घबड़ा उठे और उन्हें प्रसन्न करके उनसे स्नेहपूर्ण संधि करने के लिए मिस्टर डस्टिक को भेजा। इस सन्धि से शिवाजी को ही लाभ था; क्योंकि अंग्रेजों के व्यापार के कारण उनके जीते हुए प्रदेश का मूल्य बढ़ने लगा था और दूसरे अंग्रेजों से मैत्री हो जाने पर वे मुगल सेना को अपने थाने की सीमा के भीतर से शिवाजी के ऊपर आक्रमण करने को नहीं जाने देते थे। अत: शिवाजी सन्धि करने को तैयार हो गये। डस्टिक ने पहले की क्षति के ३२ हजार 'पगोड़ा' माँगे; परन्तु शिवाजी ने यह स्वीकार न करके कहा कि 'तुम राजापुर में कोठी खोलो और शिद्दी के पराभव करने में हमारी सहायता करो, तो हम आगे किसी प्रकार की

हानि न पहुँचा कर तुमसे मैत्री रक्खेंगे।' अंग्रेजों को ये दोनों शर्तें स्वीकार नहीं हुईं। दूसरी बार फिर सन १६७३ के मई मास में अंग्रेजों ने निकोल्स नामक वकील शिवाजी के पास भेजा। वह संभाजी की मार्फत शिवाजी से मिला; परन्तु उस समय भी कोई महत्व की बात तय न हो सकी।

"शिवाजी को जहाँ-तहाँ विजय मिलने के कारण मराठों को उनके कार्य पसन्द आने लगे। तब उनकी सम्मति में शिवाजी ने सन १६७४ में यथाविधि राज्य-पद ग्रहण किया। इस अभिषेकोत्सव में बम्बई के डिप्टी गवर्नर हेनरी आक्सेण्डेन उपस्थित थे। ईस्ट-इंडिया कम्पनी की ओर से अन्य दो अंग्रेज व्यापारियों को साथ लेकर ये उक्त उत्सव के समय रायगढ़ आये। उस समय मौका लग जाने से शिवाजी से इनका सन्धि करने का विचार हुआ। इस इच्छा से ये लोग सन १६७४ के अप्रैल मास के अन्त में बम्बई से जहाज द्वारा रवाना हुए। पहले चौल जाकर ये दूसरे दिन रोहा पहुँचे। रोहा से पालकी करके निजामपुर आये। पाँचवें दिन रायरी पर्वत के नीचे पाचाड़ नामक गाँव में आकर ठहरे। उस समय शिवाजी प्रतापगढ़ में थे, अतः इन्हें कुछ दिनों तक यहाँ ही ठहरना पड़ा। नारायणजी पंडित नामक शिवाजी का एक चतुर कामदार पाचाड़ में अंग्रेजों से मिला। शिवाजी का उद्देश्य उसने अंग्रेजों को अच्छी तरह समझा दिया। अंग्रेजों का कहना था कि "जञ्जीरा के शिद्दी से युद्ध न करके शिवाजी उससे सन्धि कर लें और हमें व्यापारी सुभीते दे दें जिससे हम दोनों को लाभ हो, नारायण पंडित ने अंग्रेजों से कहा कि "यदि शिवाजी के सन्मुख आप शिद्दी की बात निकालेंगे तो आपका कुछ भी काम न होगा। क्योंकि शिवाजी शिद्दी का मूलोच्छेदन करना चाहते हैं; इसलिए वे आपका कहना कभी न मानेंगे। व्यापार के सम्बन्ध में आपका कहना उचित है और शिवाजी भी अपने राज्य में व्यापार बढ़ाना चाहते हैं। अभी तक इन झगड़ों के कारण उन्हें इस ओर जैसा चाहिए वैसा लक्ष्य देने का समय नहीं मिला, परन्तु अब राज्याभिषेक हो जाने के बाद वे राज-व्यवस्था का काम हाथ में लेंगे।" नारायणजी की इन बातों को सुनकर अंग्रेज वकील समझ गये कि नारायण एक अधिकार-विशेष रखने वाला चतुर पुरुष है; अतः उन्होंने उसे एक अँगूठी भेंट में दी।

"तारीख १५ मई को जब शिवाजी रायगढ़ लौटकर आये तब अंग्रेज वकील किले को गये। राज-भवन से एक मील दूरी पर इन्हें ठहरने के लिए बँगला दिया गया और वे वहाँ बड़े आनन्द से रहने लगे। शिवाजी उस समय बड़ी गड़बड़ में थे, तो भी चार दिन बाद नारायणजी की मार्फत वे इन अंग्रेज वकीलों से मिले। व्यापार-वृद्धि के सम्बन्ध में अंग्रेजों का कहना उन्हें बहुत पसन्द आया और इस सम्बन्ध में विचार कर सन्धि की शर्तें निश्चित करने का काम शिवाजी ने पेशवा मोरोपन्त पिंगले को सौंपा।

फिर शिवाजी को नजर भेंट देने के लिए अंग्रेज वकील, जो वस्तुयें लाये थे वे किस प्रकार भेंट की जायँ इस बात का निश्चय वे नारायण पंडित से मिलकर दो दिनों तक करते रहे, और वे वस्तुयें मोरोपन्त पेशवा की मार्फत शिवाजी को भेंट की गईं। नारायणजी के यह कहने पर कि "बड़े-बड़े अधिकारियों को भी भेंट करना अच्छा है" वकीलों ने बहुत से अधिकारियों को भी पोशाकें दीं। अन्त में नारायणजी के मार्फत सन्धि के सम्बन्ध में शिवाजी का अभिप्राय अंग्रेजों को मालूम हो गया। अभिषेक के दिन बड़े दरबार में अंगरेजों का प्रधान वकील उपस्थित था। इस उत्सव का हृदय-ग्राही- वर्णन उसने लिख रक्खा है। अभिषेक के कुछ दिनों बाद अङ्गरेजों से शिवाजी की सन्धि हुई और उस पर सम्पूर्ण अधिकारियों के हस्ताक्षर हो गये। तब अङ्गरेज वकील बम्बई को लौटे और वे रक्षा-बन्धन के समय के लगभग वहाँ पहुँचे।

"शिवाजी की नाविक-सेना कितनी अच्छी थी इसका जो उल्लेख कारवार के अंगरेज व्यापारी ने सन १६६५ में किया है, उससे विदित होता है कि उस समय कल से कम ८५ छोटे और तीन बड़े जहाज शिवाजी के पास थे। कागज-पत्रों के देखने से विदित होता है कि उस समय यूरोप का सबसे बलिष्ठ राज्य भी इतनी नाविक शक्ति से भयभीत हो सकता था, तो भी अंगरेजों का यही अनुमान है कि शिवाजी का बेड़ा बहुत बड़ा न रहा होगा।

"पश्चिमी किनारे के अंगरेज चुपचाप नहीं बैठे थे। वे जहाँ तक बनता था अपना दाँव लगाने की ही चिन्ता में रहते थे। उनका जञ्जीरा के शिद्दी के साथ अच्छा व्यवहार था। बम्बई बन्दर में अंगरेजों के पास अपनी नाविक सेना रखने की आज्ञा शिद्दी बारम्बार मांगता था, क्योंकि वह शिवाजी पर आक्रमण करना चाहता था। परन्तु शिवाजी के भय के कारण अंगरेज उसकी प्रार्थना मान्य नहीं करते थे और इसीलिए प्रगट रीति से शिद्दी को आश्रय न देने के कारण मुगल बादशाह का भी डर अंगरेजों को था। सन १६७७ से सम्बूल नामक शिद्दी, उद्दण्डता से बम्बई बन्दर में प्रवेश कर शिवाजी के कुरला की ओर के प्रदेश में उपद्रव करने लगा। उसने एक ब्राह्मण को वश में कर और उसे जहाज तथा धन देकर शिवाजी के प्रदेश में इसलिए भेजा कि वहाँ के प्रमुख ब्राह्मणों को वश में करके वह लावे। पकड़े हुए ब्राह्मणों को शिद्दी ने बहुत कष्ट दिया। जब यह बात शिवाजी को मालूम हुई तब उन्होंने अंगरेजों को ऐसी जबरदस्त फटकार बतलाई कि कम्पनी के प्रेसिडेन्ट ने तुरन्त ही शिवाजी के प्रदेश में उपद्रव करने वाले ११ व्यक्तियों को पकड़ा। उनमें से तीन को तो मृत्यु-दण्ड दिया और शेष को गुलाम बना कर अफ्रिका के पश्चिमी किनारे पर सेन्ट हेलना द्वीप को भेज दिया। दूसरे वर्ष फिर ऐसी ही बातें हुई और शिद्दी ने अनेक ब्राह्मणों को कष्ट दिया। शिद्दी की दृष्टि में ब्राह्मण ही खटकते थे; क्योंकि वे

शिवाजी की सहायता खूब करते थे। आगे और दूसरे काम में लग जाने पर शिद्दी से बदला न लिया जा सका। सन १६८० के अप्रेल मास में, शिद्दी, शिवाजी के राज्य से कुछ लोगों को पकड़ कर बम्बई लाया। जब यह अंगरेजों को मालूम हुआ तब उन्होंने २१ आदमियों को छुड़ाकर उनके देश को भेज दिया; परन्तु अंगरेजों का शिद्दी को अपने यहाँ स्थान देना शिवाजी को सहन नहीं हुआ अतः शिद्दी और अंगरेज दोनों पर दबाव रखने के लिए सन १६७६ की वर्षा ऋतु में शिवाजी ने बम्बई के समीप के खाँदेरी द्वीप पर अधिकार कर लिया। तब से वे अंगरेजों और शिद्दी पर अच्छी तरह दाब रख सके। शिवाजी के खाँदेरी ले लेने पर अंगरेजों को बड़ा बुरा मालूम हुआ और वे यह कहकर अपना हक साबित करने लगे कि पोर्तुगीजों ने यह हमें दिया है; परन्तु बसई के पोर्तुगीजों ने जब यह सुना, तब वे अंगरेजों को फटकार बता कर अपना हक साबित करने लगे। फिर अंगरेजों ने शिद्दी से मित्रता करके शिवाजी की नौ-सेना पर चढ़ाई की। शिवाजी के कर्मचारियों ने पहले तो बिना सामना किए अँगरेजों को द्वीप में आने दिया और जब वे घुस आए, तब उन सबों का संहार कर डाला। इसके बाद फिर अक्टूबर मास में रिव्हेञ्ज नामक पन्द्रह तोपों का जहाज और दो सौ सैनिक से भरे हुए अन्य जहाजों को लेकर अंगरेज खाँदेरी के पास मराठों को रोकने के लिए आए। कप्तान मिचेल और केग्विन उस जहाजी बेड़े के मुखिया थे। उस समय अंग्रेज और मराठों का खूब दिल खोल कर युद्ध हुआ और दोनों की बहुत हानि हुई। तो भी जिस द्वीप पर अंग्रेजों की बहुत दिनों से दृष्टि थी उस खाँदेरी द्वीप को वे न ले सके। इस समय शिवाजी की नौ-सेना का मुखिया दौलत खाँ था। खंदेरी से पौन मील की दूरी पर उन्देरी नामक एक और छोटा द्वीप पथरीला हैं। बम्बई से आगबोट में बैठकर दक्षिण की ओर जाने पर ये मिलते हैं। इन द्वीपों में बस्ती नहीं थी; परन्तु यहाँ से अंग्रेजों को ईंधन मिलता था और बम्बई बन्दर में जाने वाले सब जहाजों पर यहाँ से नजर रक्खी जा सकती थी। इन द्वीपों को लेने के लिए अंग्रेजों ने अनेक उपाय किए और इन्हीके लिए शिवाजी से युद्ध करने की आज्ञा डायरेक्टरों की कोठी से कई बार माँगी गई; पर वह उन्हें प्रत्येक बार यही लिखता था कि "खाँदेरी-उन्देरी के लिए हमें युद्ध करने की जरूरत नहीं है, यह कई बार लिखा जा चुका है। इसके सिवा इस प्रकार युद्ध करने का हमारा व्यवसाय भी नहीं है और न उसमें लाभ ही है; इसलिए हम बार-बार यही कहते हैं कि जिस तरह से भी हो युद्ध बन्द करो।" इस लिखने पर यहाँ के लोगों का अंग्रेजों के प्रति जो परिणाम हुआ उससे बम्बई-निवासियों को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने विलायत को एक पत्र भेजा और उसमें लिखा कि यहाँ के लोग इन कारणों से हमें घृणा की दृष्टि से देखते हैं कि "तुम (अंग्रेजों) इतनी शेखी किस

बात पर मारते हो ? तुमने कौन सी ऐसी विजय प्राप्त की है ? तुम्हारी तलवार ने कौन सा ऐसा बड़ा काम किया है ? कौन तुम्हारी आज्ञा मानता है ? तुम्हारे पास है क्या ? डच लोगों ने तुम्हें शह दी ही थी। पोर्तुगीजों ने कुछ पुरुषत्व के काम भी किये थे; परन्तु तुम्हारी तो जो देखो वही हँसी उड़ाता है। बम्बई भी तो तुम ने जीत कर नहीं ली, और फिर उसके रखने की भी तुममें सामर्थ्य नहीं है। इतना होने पर भी तुम लोग जो लड़ाई करने की शेखी बघारते हो सो किस बिरते पर ?" यद्यपि इन शब्दों को सच्चे सिद्ध कर दिखाने वाले मराठों के पुरस्कर्ता शिवाजी इस समय संसार में नहीं थे, तो भी मरने से पहले अंग्रेजों ने तन्त्रबल से उन्हें अपने अनुकूल बना लिया था। उस समय खाँदेरी लेने की धुन अंग्रेजों ने बिलकुल छोड़ दी थी। उनकी जो नाविक सेना खाँदेरी के पास शिद्दी के सहायतार्थ थी वह उन्होंने वापिस मँगवा ली थी और सन १६८० के मार्च मास में शिवाजी के वकील के साथ उन्होंने सन्धि कर ली थी जिसमें शिद्दी को बम्बई में आश्रय न देने की मन्जूरी दी और सन १६७४ की सन्धि पुनः स्वीकार की।

"अंग्रेजों पर शिवाजी का कितना भारी दबदबा था इसका उल्लेख ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के इतिहास में जगह जगह पर मिलता है। किसी भी मराठे सरदार के आने पर अंग्रेजों को शिवाजी के आने का ही भय-पूर्ण भ्रम हुआ करता था। शिवाजी के नाम ने एक सामान्य रूप धारण कर लिया था। सन १७०३ में अंग्रेज व्यापारियों ने सूरत की डायरी में लिख रक्खा है कि:—"शिवाजी फिर सूरत पर चढ़ाई करने वाला है और उसकी सेना तो पहले से ही सूरत के आसपास गोली चला रही है।" इसी भय से अंग्रेजों ने सूरत के थाने को विशेष दृढ़ किया और कितने ही अंग्रेज कर्मचारियों को फौजी काम करने की आज्ञा दी। जिन्होंने इस आज्ञा का पालन नहीं किया उन्हें दण्ड दिया गया। यह सब शिवाजी के नाम का प्रभाव था। बंगाल के अंगरेज व्यापारियों को तो शिवाजी अमर प्रतीत होते थे। जब सन १६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई तब बम्बई के प्रेसिडेन्ट ने यह मृत्यु-समाचार कलकत्ते भेजा था। वहाँ से यह उत्तर आया कि:—"शिवाजी इतनी बार मर चुका है कि उसके मरने का विश्वास हीं नहीं होता, उसे लोग अमर ही समझते हैं। उसके मरने के समाचारों पर विश्वास न होने का कारण यह है कि उसे जहाँ-तहाँ विजय ही मिली। अब हम उसे तब मरा हुआ समझेंगे जब कि उसके समान साहस-पूर्ण काम करने वाला मराठों में कोई नहीं होगा और हमें मराठों के पंजे से छुटकारा मिलेगा।"

जिस खाँदेरी-ऊँदेरी में शिवाजी और अंगरेजों की मुठ-भेड़ हुई उसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है—ऊँदेरी के पास खाँदेरी नामक एक छोटा सा द्वीप है। यह

बम्बई के पास है और नाके तथा मोर्चे की जगह है। इसलिए मराठे, हवशी और अंगरेजों तीनों ही इसे अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न करते थे। अपनी मृत्यु के एक वर्ष पूर्व ही शिवाजी ने इसे अपने अधिकार में ले लिया था। यहाँ से हबशियों को यह मालूम होने पर कि अंगरेज, हबशियों को सहायता अथवा आश्रय देते हैं अंगरेजों को शह देने का बहुत अच्छा सुभीता था; क्योंकि अंगरेज और हबशियों ने मराठों के विरुद्ध अपना गुट्ट बना लिया था। १६७६ के अगस्त मास में शिवाजी ने तीन सौ सिपाही और तीन सौ मजदूर, युद्ध का सामान तथा बारूद गोले के साथ खाँदेरी की तट-बन्दी और मरम्मत करने के लिए भेजे थे। यह देखकर बम्बई के गवर्नर ने भी माल के तीन जहाजों में चालीस गोरे, शिवाजी के नौकरों को रोकने के लिए भेजे; परन्तु वे कुछ न कर सके। दस बारह दिनों तक खाँदेरी के आसपास घूमकर ये जहाज वापिस लौट आये। तब फिर सोलह तोपों का लड़ाऊ जहाज देकर फिर उन्हीं लोगों को भेजा। ता० १६ सितम्बर को मराठों ने अंग्रेजों की इस टुकड़ी के एक लेफ्टिनेन्ट को मारा और छह खलाशी कैद कर लिये। इस समय चौल में शिवाजी की नाविक सेना तैयार हो रही थी। यह देखकर बम्बई के अंग्रेजों ने कितने ही जहाज भाड़े से लेकर, एक जहाजों का काफिला तैयार किया जिसमें करीब २०० सिपाही थे। इन दोनों की लड़ाई १६ अक्टूबर १६७६ में हुई जिसमें पहले-पहल अंग्रेजों को ही हारना पड़ा; परन्तु रिवहेज नामक अंग्रेजी जहाज के विशेष जोर लगाने और मराठों के पाँच जहाज डूब जाने पर मराठे लोग पीछे हटे और नागोथाना की खाड़ी में घुस गये।

इसी समय शिवाजी की पाँच हजार सेना कल्याणी में आई। इस सेना की 'थाना' पर से होकर माहिम जाकर बम्बई पर चढ़ाई करने की इच्छा थी; परन्तु पोर्तुगीज सरकार ने 'थाना' पर से जाने की इजाजत नहीं दी। इधर यद्यपि मुख्य नाविक सेना लौट गई थी, तो भी उसमें से कुछ लोग रात्रि के अँधेरे में अंग्रेजों की आँख छिपाकर खाँदेरी से भोजन-सामग्री मराठों को बेरोक-टोक पहुँचाते थे। फिर खाँदेरी किले पर तोपें पर तोपें चढ़ाकर मराठों ने अंग्रेजों के बेड़े पर गोले चलाये। तब अंग्रेजी बेड़ा वहाँ से उठकर, नागोथाना की खाड़ी के मुहाने पर जाकर ठहर गया। नवम्बर में हबशियों का बेड़ा भी सूरत के अधिकारियों से मैत्री कर और सामान आदि लेकर खाँदेरी के पास अंग्रेजों के बेड़े से आ मिला, परन्तु अंग्रेज और हबशी दोनों इस द्वीप को अपने अपने अधिकार में लेना चाहते थे, इसलिए दोनों का साथ मिल कर आक्रमण करने का, विचार बहुत दिनों तक निश्चित न रह सका। तब कासम शिद्दी ने अकेले ही खान्देरी पर तोपें चलाईं परन्तु जब उसने देखा कि यहाँ दाल नहीं गलती तब सामने के ऊँदेरी द्वीप पर अपनी सेना उतारी और उसे अपने अधिकार में ले लिया। इधर

शिवाजी ने रायगढ़ से अपना वकील बम्बई के अंग्रेजों के पास भेजकर सन्धि की बातचीत शुरू की। जब शिवाजी के वकील ने अंग्रेजों से कहा, "तुम हबशी लोगों से मिलकर काम करते हो और इसका उदाहरण खाँदेरी का युद्ध है।" इस पर बंबई के गवर्नर ने अपना बेड़ा खाँदेरी से वापस मँगवा लिया और शिवाजी के वकील को विश्वास दिलाया कि शिद्दी मराठों पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा करेंगे, तभी उन्हें हम बंबई बन्दर में स्थान देंगे, अन्यथा नहीं।

सन १६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई और संभाजी गद्दी पर बैठे। इस समय शिद्दी लोग पश्चिम किनारे पर आक्रमण कर रहे थे; इसलिए संभाजी ने शिद्दियों से युद्ध प्रारम्भ कर दिया। शिद्दी और संभाजी के बेड़े की पहली लड़ाई बंबई और अली बाग के बीच में; ऊंदेरी द्वीप के पास, हुई। उसमें शिद्दियों की विजय हुई। इस युद्ध में उन्होंने ७० मराठों के मस्तक काटे। इन मस्तकों को बंबई में लाकर और उन्हें भालों पर लटका बंबई बन्दर के किनारे पर एक श्रेणी में लगाना चाहा; परन्तु बंबई बन्दर अंगरेजों के अधीन होने के कारण, अंगरेजों ने सिद्दियों की विजय-श्री का यह भयंकर प्रदर्शन नहीं होने दिया। इसी समय संभाजी ने अंगरेजों से भी युद्ध प्रारम्भ कर दिया; क्योंकि ऊपर कही हुई सन्धि की शिदी-संबंधी शर्त का पालन अंगरेजों ने बराबर नहीं किया था। सन १६८२ में संभाजी ने बंबई बन्दर के एलिफेन्टा द्वीप की मरम्मत और तटबन्दी की। १६८३ में मस्कत के अरब लोगों ने अंगरेजों का प्रेसीडेन्ट नामक जहाज तोड़कर लूट लिया। इस पर राजापुर के अंगरेजों ने बंबई के अंगरेजों को लिखा कि ये अरब लोग संभाजी के ही भेजे हुए थे। तब बंबई वालों ने अपना वकील संभाजी के पास भेजा, जिसे संभाजी ने सप्रमाण यह दिखला दिया कि हमारी और अरब लोगों की बातचीत तक नहीं हुई है।

सन १६८६ में कम्पनी का मुख्य कार्यालय सूरत से बंबई आ गया और सूरत, दूसरे दर्जे का थाना हो गया; परन्तु संभाजी का ध्यान इस समय बंबई पर नहीं था। उनका ध्यान दक्षिण कोकन प्रांत के गोआ की ओर खिंच रहा था। वे पोर्तुगीज लोगों पर चढ़ाई करना चाहते थे; इसलिए उनका संबन्ध अंगरेजों से बहुत ही कम हो गया था।

राजाराम का संबन्ध भी अंगरेजों से बहुत सा नहीं रहा; क्योंकि उनका समय मुगलों से दूर देशों में जा कर लड़ने ही में प्राय: व्यतीत हुआ। सन १७०३ के फरवरी मास में मराठे सूरत की ओर गये और सूरत से दो मील के आस पास के गाँवों को उन्होंने लूटा और जलाया। इस समय ये लोग सूरत में बिना प्रवेश किये ही लौट आये थे; परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने तो इस समय भी सूरत में लड़ने की उचित तैयारी

कर ली थी। १७०६ में अहमदाबाद के पास मराठों ने मुगलों को परास्त किया। उस समय सूरत और भड़ोच के बीच मराठों की सेना फैली हुई थी। इस सेना ने इन दोनों शहरों के लोगों से कर वसूल किया।

इसी समय कान्होजी आंग्रे का प्रताप बढ़ने लगा और इसकी और अंगरेजों की कोकन-प्रांत के किनारों पर मुठभेड़ होने लगी। कान्होजी अपनी ही हिम्मत पर सामुद्रिक काम करता था। यह अंगरेजों को थोड़े समय में ही विघ्न स्वरूप दिखाई देने लगा। इसने खांदेरी पर अधिकार कर उसे बसा दिया था।

सन १७१८ में दक्षिण कोकन के सांवन्त-वाड़ी के देसाइयों ने सात हजार सेना लेकर कारबार की अँगरेजों की कोठी पर घेरा डाले रहे और जब अंगरेजों की कुमक जल-मार्ग से आने पर हुई, तो उसी समय देसाइयों का घेरा उठ गया; क्योंकि शाहू महाराज की सेना ने सावन्त-वाड़ी के उत्तर प्रदेश पर चढ़ाई कर दी थी। देसाइयों ने अँगरेजों के पास अपना वकील भेजा और उसके द्वारा देशाइयों और अगरेजों की सन्धि हुई।

शिवाजी के समय में कान्होजी आँग्रे मराठी नौ-सेना में खलासी का काम करता था। वह अपने पराक्रम के कारण राजाराम के समय में उसी सेना का मुख्य सेनापति हो गया। शाहू महाराज के दक्षिण में जाने पर मराठों में जब फूट हो गई तब कन्होजी ने पहले तो ताराबाई का पक्ष लिया; पर फिर वह शाहू के पक्ष में मिल गया। इस समय सावन्त-वाड़ी से लेकर बंबई तक प्राय: सब किनारा उसी के अधिकार में था; तथा शाहू महाराज ने उसे खाँदेरी, कुलावा, सुवार्णदुर्ग और विजयदुर्ग के किले कोट वाले थाने और सरखेल की पदवी प्रदान की। उसने हबशियों का प्रभाव मिट्टी में मिला दिया और वह कोकन के किनारे पर आने-जाने वाले सम्पूर्ण परदेशी जहाजों से चौथ वसूल करने और उन्हें लूटने भी लगा। उसके पास दस बड़े जहाज थे जिन पर ४ से १० तक तोपें चढ़ी रहती थीं। उस समय अङ्गरेजों के पास ३२ तोपों का एक जहाज २० से २८ तोपों तक के ४ जहाज और ५ से १२ तोपों तक के २० जहाज थे। इनका खर्च पाँच लाख रुपये वार्षिक था। पोर्तुगीज और शिद्दियों का अधिकार कम हो जाने के कारण अङ्गरेजों और आंग्रे की ही प्राय: मुठभेड़ होती थी। १७१६ में मलाबार किनारे पर इन दोनों का पहला युद्ध हुआ जिसमें आंग्रे का पराभव हुआ। सन १७१७ में जब आंग्रे ने अङ्गरेजों का "सकसेस" नामक जहाज पकड़ा, तब अङ्गरेजों ने क्रोधित होकर विजयदुर्ग के किले को घेर लिया, परन्तु वे उसे न ले सके। ता० १८ अप्रैल सन १७१७ में अङ्गरेजी बेड़े को हार खाकर लौट जाना पड़ा। सन १७१८ के अक्टूबर मास में अङ्गरेजों ने खांदेरी पर आक्रमण किया; परन्तु यहाँ भी उनका परा-

भव हुआ और उन्हें वापिस लौट जाना पड़ा। इस प्रकार अङ्गरेजों के खांदेरी लेने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। इस समय अंगरेजी व्यापारियों के जहाजों को सताने का काम आंग्रे धड़ाके से कर रहा था। उसने बंबई के अंगरेजों को कहला भेजा था कि "तुम और पोर्तुगीज मेरा अभी तक कुछ नहीं कर सके हो; इसलिये मेरे रास्ते में व्यर्थ मत आओ।" इसने कितने ही अगरेजों को बहुत दिनों तक कैद में रखा था। सन १७२० में आंग्रे ने शार्लट नामक अंगरेजी जहाज पकड़कर विजयदुर्ग के बन्दर में ला रखा था। उसने कोकन किनारे के सम्पूर्ण कोट वाले स्थानों पर तोपों के मोर्चे लगा रखे थे, जिनके द्वारा उसके मराठे और यूरोपियन कर्मचारी दूर-दूर तक मार करते थे। सन १७२२ में अंगरेजों और पोर्तुगीजों ने मिलकर कुलावा में आंग्रे पर चढ़ाई की, परन्तु उसमें वे सफल न हो सके। फिर १७२४ में डच लोगों के सात जहाजी काफिलों ने ५० तोपों के साथ विजयदुर्ग पर आक्रमण किया; परन्तु इन्हें भी यश नहीं मिला। सन १७२७ में आंग्रे ने फिर कम्पनी का एक माल से भरा हुआ व्यापारी जहाज पकड़ा। इस प्रकार आंग्रे का जहाजी बेड़ा दिन पर दिन बढ़ने लगा। १७२९ में उसने फिर किंग विलियम नामक कम्पनी का जहाज पकड़ा और केप्टन मेकलीन नामक अधिकारी के पाँव में बेड़ी डाल कर बहुत दिनों तक उसे कैद में रखा और ५०० रुपये के देने पर उसे छोड़ा। १७३१ में कान्होजी आंग्रे की मृत्यु हो गई। जब तक वह जीता रहा, तब तक अंगरेज इसका कुछ भी न कर सके। कान्होजी के मरने के पश्चात् उसके छोटे लड़के सखोजी ने १७३३ के जून मास में बम्बई के प्रेसीडेन्ट के पास सन्धि करने के लिए दो वकील भेजे; परन्तु सखोजी तुरन्त ही मर गया और उसके भाइयों में परस्पर कलह उत्पन्न हो गई। तब कान्होजी का दासी पुत्र मानाजी आगे आया और उसने पोर्तुगीजों की सहायता से कुलावा पर अधिकार कर लिया। फिर बाजीराव पेशवा की मध्यस्थता में शाहू महाराज से उसने मैत्री कर ली और अपनी सत्ता बढ़ाने लगा। बम्बई के गवर्नर को यह सहन नहीं हुआ; अतः उन्होंने मानाजी के विरुद्ध हबशियों को सहायता दी; परन्तु मानाजी ने भी शत्रुओं के बेड़े पर अधिकार कर लिया और हबशियों के कितने ही किले ले लिये। पेनकी खाड़ी पर उसने अपना अधिकार जमाया और इस प्रकार वह बम्बई बन्दर तक आ पहुँचा। इधर पहले बाजीराव पेशवा को सबसे पहले जंजीरे के हबशियों को ठिकाने लगा देने के लिए अंग्रेजों की सहायता लेने की आवश्यकता हुई; अतः राजापुर के घेरे के समय ही शाहू महाराज के नाम से बम्बई के गवर्नर को एक पत्र भेजा, जिसमें प्रार्थना की कि आप हमारे शिद्दी आक्रमण के कार्य में बाधा न डालें। फिर हबशी और पेशवा के बीच में मध्यस्थता का कार्य भी अंग्रेजों को ही मिला; परन्तु पेशवा और आंग्रे के बीच मैत्री होने के कारण अंगरेजों और पेशवा के बीच मैत्री होना सम्भव नहीं था। इसके सिवा अंग्रेज और हबशियों की

सन्धि, आंग्रे के विरुद्ध हो चुकी थी, जिसमें यह शर्त ठहरी थी कि दोनों के मिलकर आंग्रे का पराभव करने पर अंग्रेजों को खाँदेरी द्वीप और उस पर का सम्पूर्ण फौजी सामान तथा कुलाबा भी मिलेगा और पेठण तथा नागोथाना को खाड़ियों के बीच के प्रदेश में अंग्रेज अपनी कोठियाँ स्थापित कर सकेंगे और स्थल पर के जो स्थान हस्तगत होंगे वे हबशियों को मिलेंगे। यद्यपि यह संधि अंग्रेज और हबशियों के बीच में हुई थी, तथापि उस समय हबशियों की सत्ता गिर रही थी; अतः अंग्रेजों को हबशियों की सहायता से कुछ भी लाभ नहीं हुआ; प्रत्युत अंग्रेजी कम्पनी के नौ-सेना का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया, इसलिए इस सन्धि से अंग्रेजों को भी कुछ भी लाभ नहीं हुआ। उलटी शाहू राजा की सहायता से आंग्रे की सत्ता बढ़ने लगी, और यदि मानाजी और संभाजी की आपसी गृह-कलह न बढ़ती, तो आंग्रे ने गोआ से लेकर बम्बई तक सम्पूर्ण कोकन-पट्टी के किनारे पर अधिकार कर लिया होता। पेशवा की गृह-कलह के समान आंग्रे की गृह-कलह ने भी अंग्रेजों के लिए पथ्य का काम किया। बम्बई के अंग्रेजों ने कप्तान इंचवर्ड को मानाजी आंग्रे के पास कुलाबा भेजा और सम्भाजी आंग्रे के साथ उनकी लड़ाई के विषय में चेताने के लिए द्रव्य और फौजी सामान से सहायता देने को कहलाया। सन १७३८ के दिसम्बर में मिस्टर बेगबेन की तथा संभाजी आंग्रे के बेड़े की राजापुर की खाड़ी में मुठभेड़ हुई; परन्तु संभाजी का बेड़ा भाग जाने के कारण बच गया। इसी मास में संभाजी आंग्रे ने अंगरेजों का डार्बी नामक व्यापारी जहाज हस्तगत कर लिया। १७३९ में उसने अंग्रेजों के साथ सन्धि करने का प्रयत्न किया। इस सन्धि में संभाजी की यह शर्त थी कि अंग्रेजों के व्यापारी जहाज आंग्रे के दस्तखती आज्ञा-पत्र से पश्चिम किनारे पर व्यापार कर सकेंगे और आंग्रे की ओर से उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, इसलिए अंग्रेजों को २० लाख रुपये वार्षिक देना होगा; परन्तु अंग्रेजों को यह शर्त स्वीकार न हुई। सन १७३९ के मार्च मास में कप्तान इंचवर्ड ने मानाजी आंग्रे के ८ लड़ाऊ जहाज पकड़े; परन्तु मानाजी ने भी तुरन्त ही अर्थात् नवम्बर महीने में एलीफेंटा पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार संभाजी और मानाजी आंग्रे अंगरेजों के साथ कभी युद्ध और कभी सन्धि कर रहे थे कि इसी बीच में पेशवा और अंगरेजों में मैत्री हो गई और इस मैत्री के कारण दोनों आंग्रे के हाथ से कुलाबा निकल जाने की बारी आई, तब दोनों भाइयों ने उस समय परस्पर काम चलाऊ मैत्री कर अपना मतलब साध लिया। इस वर्णन से सन १७३९ तक अंग्रेजों के साथ शिवाजी, संभाजी और आंग्रे का सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकार रहा यह विदित हो जाता है; परन्तु मराठों और अंग्रेजों का बसई-युद्ध के कारण इससे भी निकट संबन्ध हुआ है, यह आगे दिखलाया जाता है।

सन १७३७ तक अंग्रेजों को मराठों का प्रत्यक्ष परिचय बहुत अधिक नहीं था, न मराठों के उत्कर्ष से अधिक भय ही था; परंतु फिर भी उन्हें मराठों से वास्तविक डर होने लगा। सन १७३१ में मराठों ने थाना के पोर्तुगीज लोगों पर आक्रमण किया। उस समय पोर्तुगीज और अंग्रेजों में परस्पर मनमुटाव होने के कारण बम्बई के अंगरेजों ने मराठों को उत्तेजना दी। परन्तु तुरन्त ही अंगरेज समझने लगे कि यह हमने भूल की है। सन १७३७ के अप्रैल मास में सूरत के एक अंगरेज ने बंगाल में रहने वाले अपने एक मित्र को जो पत्र लिखा था उसमें उसने अपने जाति-भाइयों को मराठों का परिचय इस प्रकार कराया था कि 'शाहू राजा की अधीनता में रहने वाले मराठे लोगों ने पोर्तुगीज लोगों पर इतनी भारी विजय प्राप्त की हैं कि उससे अनुमान होता है कि धीरे धीरे बम्बई बन्दर पर भी चढ़ाई कर ये बहुत शीघ्र हमें (अंगरेजों को) हरा देंगे।" इस वर्ष मराठों ने थाने का किला पोर्तुगीजों से ले लिया, सो थाने की खाड़ी की ओर से बान्दरे पर मराठों के चढ़ आने का भय अगरेजों को होने लगा। तब उन्होंने अपनी सेना और गोला, बारूद आदि सामाग्री वहाँ भेजी। इधर मराठों से वे दिखाऊ ढंग से मिठास और स्नेह का व्यवहार करने लगे। उन्होंने स्वयं जाकर मराठों को यह समाचार दिया कि थाने का किला छीन लेने के कारण तुम पर पोर्तुगीज लोग बम्बई से चढ़ाई करने वाले हैं और किले के लोगों को गोला-बारूद से सहायता पहुँचाई। इस कारण पोर्तुगीजों का आक्रमण सफल न हो सका तथा उनका सरदार दाँनअतोनियो मारा गया। इसके पहले एक बार जब शिद्दी ने बम्बई पर आक्रमण किया, तब पोर्तुगीजों ने अंगरेजों की ओर के समाचार शिद्दी को दिये थे। इसलिए अंगरेजों ने पोर्तुगीजों के समाचार मराठों को देकर बदला चुकाया और संतोष माना; परन्तु यूरोप के अन्य इतिहासकारों ने लिखा है कि अंगरेजों ने यह चुगली की थी। थाना के बाद मराठों ने तारापुर लिया और सन १७३९ के फरवरी मास में बोर्सावा नामक स्थान लेकर बसई पर घेरा डाला। इस समय पोर्तुगीजों ने अंगरेजों से बड़ी दीनता से सहायता माँगी; परन्तु अंगरेजों ने कुछ कारण दिखला कर सहायता देना अस्वीकार कर दिया। अन्त में, चिमना जी आप्पा पेशवा को सफलता मिली और पोर्तुगीज उनकी शरण आये। इस लड़ाई में मराठों को हजारों प्राणों की जो हानि उठानी पड़ी उसका बदला उन्हें बसई हस्तगत हो जाने पर दूसरे रूप में मिला। बसई के किलेदार जानमिंटो ने इस संबंध में बंबई के गवर्नर को लिखा था कि "मराठों की इच्छा थाना लेने की अपेक्षा बंबई लेने की अधिक है। उनके थाना लेने का कारण यह है कि वह बंबई के मार्ग के नाकेबन्दी का स्थान है। आज जिस प्रकार तुम्हारा मराठों से स्नेह है वैसा ही एक समय हमसे भी था; परन्तु उनपर विश्वास नहीं होता। बंबई बन्दर की सम्पत्ति लेने की उनकी बहुत इच्छा है। आज तुमसे स्नेह--

पूर्वक व्यवहार करने का कारण यह है कि अंगरेज-पोर्तुगीजों से एक साथ शत्रुता करने में असमर्थ हैं। ज्यों ही साष्टी बन्दर पर मराठों का पाँव जमा कि समझो, तुम्हारा भी नाश-काल समीप ही है। किले पर जो तोपें मारी गई हैं उनके टुकड़ों पर के चिन्हों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुमने मराठों को गोला बारूद से सहायता दी है और तुम्हारे तीन गोलंदाज भी मराठों की सेना में थे। इसीलिए मराठों की तोपों के निशाने हमारे लिए बाधक हुए।" बसई के घेरे के समय पोर्तुगीजों ने अंगरेजों से सहायता माँगी थी; क्योंकि उन्हें भोजन-सामग्री और बारूद के चार सौ पीपे तथा पाँच हजार गोलों की आवश्यकता थी; परन्तु मराठों ने ऐसा जबरदस्त घेरा डाला था कि अंग्रेज सहायता पहुँचाने में असमर्थ थे; तो भी उन्होंने थोड़ी बहुत सहायता पहुँचाई। सेना को वेतन चुकाने के लिए पोर्तुगीजों ने कुछ नगद रुपयों की सहायता भी माँगी थी; परन्तु अंग्रेजों ने देना स्वीकार नहीं किया। केवल ईसाई मन्दिर के चाँदी के बर्तन और पीतल की तोपों को बन्धक रखकर पन्द्रह हजार रुपये दिये।

बसई सरीखा मजबूत किला मराठों के ले लेने पर अंग्रेजों को यह भय होने लगा था कि ये बंबई बन्दर भी सहज ही में ले लेंगे। बंबई के किले की उँचाई केवल ग्यारह फुट थी; इसलिए उसके चारों ओर खाई खोदने की जरूरत थी। इस कार्य में तीस हजार का खर्च था। इस खर्च की रकम १) रुपया सैकड़ा अधिक चुंगी लेकर वसूल करने की लिखित सम्मति बंबई के देशी व्यापारियों ने दे दी। उनके लेख में इस प्रकार के वाक्य थे; "अंग्रेज कंपनी के शासन में हमें बहुत सुख है। हमारी संपत्ति को किसी प्रकार का धोखा नहीं है। हम अपने धर्म का पालन स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकते हैं। हमारी इच्छा है कि यही सुख हमारी भावी पीढ़ी को भी मिले। हमें बम्बई छोड़कर अन्यत्र सुख से रहने की कोई जगह नहीं दिखलाई देती। इधर मराठे लोग पास ही आ पहुँचे हैं; इसलिए उनसे बम्बई की रक्षा करने के लिए हम तीस हजार रुपये प्रसन्नता पूर्वक देते हैं। इस लेख के नीचे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, आदि अनेक जाति और धर्म के लोगों के हस्ताक्षर थे। बसई हाथ से निकल जाने पर उत्तर कोकन-प्रान्त में पोर्तुगीजों को कोई मुख्य आधार नहीं रहा। चौल और महाड़बाए-कोट बन्दर के थाने वे स्वय छोड़ने को उद्यत हो गये और चौल का थाना अंगरेजों को देना स्वीकार किया। इसके पश्चात् अंगरेजों की मध्यस्थता में पोर्तुगीज और पेशवा के बीच सन्धि की बातचीत चली और कप्तान इचवर्ड ने ता० १४ अक्टूबर सन १७४० को बाजीराव पेशवा और गोआ के पोर्तुगीज वाइसराय में सन्धि करवा दी जिसके द्वारा यह शर्त की गई कि पोर्तुगीज लोग चौल और पहाड़ के किले मराठों को देवें और मराठे साष्टी से अपनी सेना वापस मँगा लें और जब तक यह सेना न लौट आवे,

तब तक उक्त दोनों किले अपने अधिकार में रखें। पोर्तुगीजों के नाम शेष हो जाने से पेशवा और अंगरेजों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अधिक होने लगा। अब उन्हें मराठों की सत्ता प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही थी और वे उसे जानने-पहिचानने लगे थे; इसलिए सतारा के भी राज दरबार में प्रवेश करने की इच्छा अंगरेज लोगों की हुई और उन्होंने कप्तान विलियम गार्डन नामक फौजी अधिकारी को शाहू महाराज से मिलने के लिए सतारा भेजा। इस अधिकारी को अंगरेज बम्बई सरकार की ओर से गुप्त रीति से यह समझा दिया था कि तुम ऊपर से तो बहुत स्नेह बतलाना; परन्तु भीतर ही भीतर इस बात की जाँच करना कि पेशवा के वास्तविक शत्रु दरबार में कौन-कौन हैं? इसके सिवा उस समय शाहु महाराज की अपेक्षा बाजीराव पेशवा अधिक प्रबल थे। यह अंगरेजों से छिपा नहीं था। इसलिए उनसे भी मिले रहने की इच्छा से अंगरेजों ने एक स्नेहपूर्ण पत्र और कुछ भेंट के साथ कप्तान इंचबर्ड को पेशवा बाजीराव के पास भेजा।

शाहू महाराज की नजर करने के लिए बम्बई के बोर्ड ने यह निश्चय किया कि काँच आदि का सामान जो थोड़े खर्च में बहुत मिल सके कप्तान गार्डन के साथ भेजा जाय। गार्डन साहब ता० १२ मई को बम्बई से रवाना हुए। उनके साथ काजीपन्त नामक एक व्यक्ति भी था। यह शिद्दी के यहाँ की बातों से जानकारी रखता था। बम्बई कौन्सिल ने गार्डन को इस प्रकार काम करने के लिए आज्ञा दी कि—"तुम्हारे साथ के पत्र और नजराने सदा की रीति के अनुसार अदब के साथ जिसके लिए हों उन्हें ही देना। शाहू राजा के दरबार में उनके मुख्य-मुख्य सलाहकार कौन-कौन हैं, उनके विचार कैसे हैं और उनका हिताहित सम्बन्ध किस प्रकार का है? इसका पता सूक्ष्म-दृष्टि से लगाना। दरबार में बाजीराव पेशवा के शत्रु बहुत हैं, इसलिए योग्य अवसर देखकर उनके हृदय में स्पर्धा और ईर्ष्या उत्पन्न करने का प्रयत्न करना और उन्हें समझाना कि पेशवा पहले से ही प्रबल है और इधर पोर्तुगीजों से विजय प्राप्त करने के कारण वह और अधिक प्रबल होगा; इसलिए उसके बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का यही अवसर है। अपनी कमजोरी उन्हें बहुत न दिखलाना। उन्हें यही बतलाना कि हम बाजीराव से डरते नहीं हैं। यदि हम पर चढ़ाई हो, तो हम अपना बचाव कर सकते हैं। उन्हें यह भी समझाना कि हमारी इच्छा केवल व्यापार करने की है किसी के राज्य लेने की नहीं और न हम किसी के धर्म में ही हस्तक्षेप करते हैं। इस देश का माल ले जाकर हम अपने देश में बेचते हैं और उसके बदले में यहाँ पैसा और माल लाते हैं तथा चुङ्गी भी देते हैं। यह तुम्हारा ही काम है। हमारा व्यापार मराठों के लिए सब तरह से लाभदायक है।" गार्डन साहब २३ मई के लगभग सतारा के पास पहुँचे। २५वीं तारीख को श्रीपति राव प्रतिनिधि के कर्मचारी अन्ताजी पंत ने उनका सत्कार किया और शाहू महाराज के सतारा में न होने के कारण गार्डन साहब को

थाना का किला और उसके आस पास के सब थाने मिल कर साष्टी बन्दर अंग्रेजों के अधिकार में आगया और यह एक बड़ा विकट प्रश्न मराठों के सन्मुख आ खड़ा हुआ। ता० ३ जनवरी सन १७७५ को रघुनाथराव दादा दस हजार सवार और चार सौ पैदल सेना के साथ बड़ोदा की ओर रवाना हुए। इनके पीछे पीछे पेशवा के मुख्य सेनापति हरिपन्त फड़के थे। हरिपन्त के साथ सिन्धिया तथा होलकर से बातचीत करने के लिए नाना फड़नवीस और सखाराम बापू भी थे; परन्तु साष्टी-पतन के समाचार सुन कर और इस भय से कि कहीं अंग्रेज बसई पर भी आक्रमण न करें तथा घाट की ओर भी सेना न भेजें, दोनों कारबारी पुरन्दर को लौट आये।

इसके पश्चात् कुछ दिनों तक सिन्धिया और होलकर के बीचबचाव के कारण रघुनाथराव हरिपंत से संधि की बात का ढकोसला दिखलाते रहे; परन्तु अन्त में जब उसका कुछ परिणाम न हुआ तब ६ मार्च सन १७७५ के दिन अंग्रेजों से राघोबा (रघुनाथ-राव) की सन्धि हो गई। उसके अनुसार अंग्रेंजों ने रघुनाथराव को पहले ५०० गोरे और १००० देशी सिपाही और आवश्यकता पड़ने पर सात व आठ सौ गोरे व १७०० देशी सिपाही तथा अन्य मजदूर आदि सब मिला कर ३००० सेना से सहायता देने का बचन दिया और रघुनाथराव ने इसके बदले में २५ सौ लोगों का डेढ़ लाख रुपये के लगभग सैनिक खर्च देने और खर्च के लिए आमोद, हनसोद, व्हासा और अंकलेश्वर ये चार ताल्लुकों की आमदनी लगा देने का करार किया। साथ ही उन्हें यह भी करार करना पड़ा कि जब रघुनाथराव गद्दी पर बैठे तब बसई और उसके नीचे का सवा उन्नीस लाख रुपयों की आमदनी का प्रान्त तथा साष्टी और उसके सभीपस्थ जम्बूसर, ओलपाड़ आदि बन्दर अंग्रेजों को सदा के लिए दें, अभी नकद रुपये पास न होने के कारण छः लाख के जवाहिरात अंग्रेजों के पास गिरवी रक्खें, बंगाल प्रान्त तथा अर्काटके नवाब के राज्य पर मराठे आक्रमण न करें और अंग्रेजों के जहाज तथा कम्पनी सरकार के निशान धारण किये हुए अन्य जहाज यदि टूट जाने के कारण अथवा अन्य कारणों से मराठों की सीमा में आ जावें, तो वे जिसके हों उन्हें लौटा दिये जायं। ये शर्तें अंग्रेजों से निश्चित हो जाने पर, हरिपन्त से रघुनाथराव की जो बात-चीत चल रही था वह बन्द हो गई, और फिर से युद्ध प्रारम्भ हुआ; परन्तु जब हरिपन्त के सन्मुख रघुनाथराव न टिक सके तब वे सूरत भाग गये।

सूरत में रघुनाथराव के सहायतार्थ पन्द्रह सौ सेना तो तैयार थी और मद्रास की ओर से और भी आने वाली थी। रघुनाथराव से सन्धि होने के पहले ही अंग्रेजों ने अपनी ओर से मराठों से युद्ध छेड़ दिया था और यह सब बम्बई के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की करामत थी। कलकत्ते के अंग्रेजों को यह बात पसन्द नही थी। उन्होंने इसके पहले युद्ध में मराठों से मैत्री तोड़ने के सम्बन्ध में बहुत अप्रसन्नता प्रगट की; परन्तु युद्ध प्रारम्भ हो गया था ऐसे समय में कम्पनी सरकार की इज्जत के

विरुद्ध ऐसा कोई काम न कर सके जिससे उन्हें असफलता मिले। उनका यह व्यवहार मनुष्य-स्वभाव और राजनीत के अनुकूल भी था; परन्तु कम्पनी सरकार की इज्जत रखते हुए युद्ध को बन्द करने के प्रत्येक प्रसंग का उन्होंने उपयोग किया। अन्त में बुरी भली कैसी भी क्यों न हो, सालबाई में मराठे और अंग्रेजों की सन्धि हुई और युद्ध समाप्त हुआ। मराठों से फिर मैत्री हो जाने के कारण कलकत्ते के अंग्रेजों ने हृदय से आनन्द प्रगट किया और बम्बई के अधिकारियों को यह स्पष्ट रीति से लिख दिया कि "यह सन्धि इंग्लैंड के राजा और बृटिश पार्लियामेन्ट की आज्ञा से हुई है, इसलिए यदि तुम इस सन्धि को किसी भी कारण से तोड़ोगे, तो हम अपने उच्च अधिकारों का व्यवहार करेंगे।" परन्तु बम्बई के अंग्रेजों ने कलह का जो बीजारोपण कर दिया था उसका अंकुर पूर्णतया कभी नष्ट नहीं हो सका। इतना ही नहीं, २०, २५ वर्ष बाद कलकत्ते के अंगरेजों ने ही बम्बई वालों का अनुकरण किया और फिर उन्होंने युद्ध का जो झंडा हाथ में उठाया उसे जब तक महाराष्ट्र सत्ता की इमारत भग्न होकर धराशायी नहीं हो गई, जब तक नीचे नहीं रखा। बम्बई वालों की झगड़ालू पद्धति की विजय देरी से ही क्यों न हुई हो, पर हुई अवश्य।

स्व-हित की दृष्टि से बंबई के अंगरेजों की पद्धति ठीक थी। यद्यपि रघुनाथराव और नाना फड़नवीस के परस्पर के कलह का लाभ उठा कर बम्बई के अंगरेजों ने मराठों से स्वयं ही छेड़-छाड़ शुरू की थी, तथापि रघुनाथराव भी उनको उसकाने वाला एक सहकारी मिल गया था। रघुनाथराव ने स्वयम उनके पास जाकर कहा था कि "तुम हमारी कलह के बीच में पड़ो और हमारी सहायता करो। हमारी सहायता करने से हम तुम्हें बहुत पारितोषिक देंगे।" ऐसी स्थिति में स्वहित-साधन का घर बैठे आया अवसर अंगरेज छोड़ भी कैसे सकते थे? अत: इस अवसर से लाभ उठाने का उन्हें सहज में ही अनिवार्य मोह हो गया। तारीख ९ अक्टूबर सन् १७७५ को बम्बई के अङ्गरेजों ने कलकत्ते को एक खरीता भेजा उसमें उन्होंने रघुनाथराव की तरफ से जो युद्ध किया था उसके कारण सविस्तार लिखे थे। इस खरीते को पढ़ने से बम्बई के अंगरेजों की पद्धित स्पष्टतया ध्यान में आ जाती है। वह खरीता इस प्रकार है :—

"रघुनाथराव ही गद्दी के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं। उनके पक्ष में बहुत से ब्राह्मण और मराठे भी हैं। नागपुर के भोंसले और बड़ोदे के गायकवाड़के घरानों में भी एक प्रमुख सरदार रघुनाथराव के पक्ष में था। यद्यपि सिन्धिया और होलकर उनके पक्ष में नहीं थे, तो भी उन्होंने उसे पूर्णतया छोड़ा भी नहीं था। ये दोनों अपने ऊपर की खण्डनी का हिसाब चुकता करने का भार टालने के लिए स्पष्ट रीति से किसी भी पक्ष में शामिल न होकर पेशवा के घराने की फूट से लाभ उठाते हैं। निजाम और हैदर अली कभी इस पक्ष में, तो कभी उस पक्ष में मिलकर दावपेंच खेलते थे। स्वयम रघुनाथराव के पास भी बहुत सेना थी, इसलिए उन्हें थोड़ी सेना की सहायता देकर अपना

कार्य निकालने का अवसर था और उनके गद्दी पर बैठ जाने पर वे कोई भी प्रान्त हमें दे सकते थे।"

युद्ध में सम्मिलित होने के इस अवसर से लाभ उठाने पर अंगरेजों को ऊपर के काम पूरे होने की बहुत आशा थी परन्तु खरीते से स्पष्ट मालूम न हो सकने के कारण यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि इस झगड़े में पड़ने से उन्हे क्या प्राप्त होने वाला था ? इस प्रश्न का उत्तर यह है अंगरेज लोग इस दृष्टि से युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे कि रघुनाथराव के साथ अन्याय हो रहा है, किन्तु उन्हें अपना कुछ स्वार्थ सिद्ध करना था। बम्बई में कोठी बनवाने से ईस्ट इंडिया कम्पनी का हेतु व्यापार करने का था। व्यापार करते-करते ही उन्होंने बम्बई पर अधिकार कर लिया तथा उस बन्दर की रक्षा के लिए बम्बई को लेकर उसकी तटबन्दी की। बम्बई बन्दर में आया हुआ माल दिशावर को भेजने के लिए खुश्की के रास्ते से साष्टी का ही मार्ग मुख्य था। साष्टी के आगे पर्वत और घाटियाँ शुरू होती हैं। वहीं मराठों का राज्य भी शुरू होता था, इसलिए अंग्रेजों ने साष्टी लिया और इसे अपने अधिकार में रखने के साथ ही साथ वे बम्बई के समीप के दूसरे बन्दर और बसई भी चाहने लगे थे। रघुनाथ राव ये सब स्थान अंग्रेजों को खुशी से दे सकते थे और बसई से सूरत तक के थाने भी व्यापारिक दृष्टि से महत्व के होने के कारण रघुनाथराव से उनके मिलने की भी आशा थी। इन बन्दरों और थानों के हाथ में आ जाने से बम्बई का व्यापार बिना भय के खूब चल सकता था। इसके सिवा महाराष्ट्र में पहले से ही चौदह लाख रुपयों का ऊनी माल प्रति वर्ष बिकता था। उत्तम कपास पैदा करने वाला गुजरात का प्रान्त हाथ में आ जाने पर बङ्गाल और चीन के व्यापार बढ़ने की भी खूब आशा थी। इधर कोंकनपट्टी पर अधिकार हो जाने से डच, पुर्तगाली और फ्रेंचों के हाथ से व्यापार निकल सकता था और इस तरह केवल ईस्ट इंडिया कम्पनी ही व्यापार की ठेकेदार बन सकती थी। अभी तक बम्बई का व्यापार हानिकारक था। उसमें डेढ़ लाख पौण्ड की हानि थी, परन्तु रघुनाथराव ने जो प्रदेश देने का वचन दिया था उसके मिलने पर यह धारा निकाल कर दो-ढ़ाई लाख पौंड का लाभ होता दीखता था। बम्बई नगर की तट बन्दी हो जाने से उसे फौजी थाने का स्वरूप प्राप्त हो गया था और यह नगर जहाज बनाने के भी योग्य था। रघुनाथराव ने जो प्रान्त देने कहे थे उनसे बहुत अधिक मिलने की आशा थी। इन्हीं स्वार्थों की पूर्ति के लिये अंगरेजों ने पेशवा का आपस में झगड़ा करवा दिया। इस समय अंग्रेजों ने जो यह उद्गार निकाला था कि ईश्वर हमें बिना मानवता के ही मिला, वह मनुष्य स्वभाव के बहुत कुछ अनुकूल था।

रघुनाथराव दादा, पेशवाई के कलि पुरुष कहलाते थे। वास्तव में अन्य पुरुषों की अपेक्षा वे अधिक मूर्ख थे या नहीं, यह निश्चित करना बहुत कठिन है, परन्तु यह

अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनके सब कार्य पेशवाई की सत्ता, पेशवाई का प्रभाव और पेशबाई का ऐश्वर्य नष्ट करने के कारणीभूत अवश्य हुए। अधिकार-लालसा, महत्वाकांक्षा, और प्रतिपक्षियों से प्रतिरोध की इच्छा से यदि इन्होंने सिंधिया, होलकर आदि महाराष्ट्र सत्ता के प्रबल सरदारों को अपनी ओर मिलाकर अथवा उनका आश्रय लेकर नाना फड़नवीस से कलह की होती और उन पर विजय प्राप्त कर उन्हें कार्य-भार से निकाल दिया होता एवं सर्वसत्ता अपने अधिकार में ले ली होती, तो आज उन पर दोषारोपण करने का कोई कारण नहीं था; परन्तु उन्होंने परदेशी अंग्रेजों के आश्रित होकर उन्हें अपने घर में घुसा लेने के कारण जिस विष-वृक्ष का बीजारोपण किया, उसने धीरे-धीरे बल प्राप्त कर महाराष्ट्र-सत्ता की भव्य इमारत गिराकर मिट्टी में मिला दी और जिस-जिसने इस वृक्ष के फल खाये अन्त में उन सबकी स्वतन्त्रता का नाश ही हुआ। रघुनाथराव का यह अपराध कभी क्षमा-योग्य नहीं कहा जा सकता; नाना फड़नवीस भी कुटिल-नीति और महत्वाकांक्षा में रघुनाथराव से कम नहीं थे और उन्हें भी अंगरेजों से सहायता लेने की आवश्यकता हुई थी, परन्तु नाना फड़नवीस ने जो अंग्रेजों से सहायता ली वह विरोधी-शत्रुओं से लड़ने के लिये ली थी, परन्तु रघुनाथराव ने जो सहायता ली वह अपने घर-वालों से ही लड़ने के लिए ली। यह हो सकता है कि रघुनाथराव के सहायतार्थ कोई प्रवल मराठा या ब्राह्मण सरदार तैयार न हुआ हो। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि उस समय का लोकमत रघुनाथराव का पक्ष अन्याय और नाना फड़नवीस का न्याय का रहा होगा और अंगरेजों का आश्रय ले लेने से इस अन्याय में जो कुछ कमी रह गयी होगी, वह भी पूरी हो गई होगी।

सब लोग निस्सन्देह यह मानते हैं कि रघुनाथराव बहादुर और शूर थे, परन्तु यह देखा जाता है कि बहादुर और वीर पुरुष लिखने के कार्य में योग्य नहीं होते और यह कमी राघोवा (रघुनाथराव) में भी थी। इसलिए विजय प्राप्त करने और चढ़ाई करने के काम में तो रघूनाथराव योग्य थे, पर व्यवस्था और द्रव्य सम्बन्धी कार्य में उन्हें कोई भी योग्य नहीं मानता था।

नाना-साहब के जीते जी रघुनाथराव की कलह-प्रियता प्रगट होना सम्भव नहीं था, परन्तु उनकी मृत्यु के बाद माधवराव पेशवा के गद्दी पर बैठते ही इस कलह का आरम्भ हुआ। मालूम होता है कि उस समय भी यह सभ्य जनानुमोदित नियम ही माना जाता था कि पेशवा के पश्चात उसका लड़का ही, चाहे वह अल्प-वयस्क ही क्यों न हो; गद्दी पर बैठे, परन्तु पेशवा का भाई, चाहे वह लड़के से वयस्क ही क्यों न हो, गद्दी पर न बैठे। इसीलिये नाना साहब की मृत्यु के पश्चात उनकी गद्दी उनके पुत्र माधवराव को मिली और रघुनाथराव को न मिल सकी। इस नियम के अनुसार, माधवराव की मृत्यु के बाद, उनके पुत्रहीन मरने के कारण पेशवाई के वस्त्र नारायणराव

को मिलना चाहिए था और उन्हें ही मिले। एक बार बलात रघुनाथराव ने इस वस्त्र को प्राप्त कर लिया था, परन्तु उनका यह कृत्य अन्यायपूर्ण था, अत: लोकमत के विरुद्ध वे इन वस्त्रों को अधिक दिन तक न रख सके। यद्यपि पेशवाई के वस्त्र प्राप्त करने की उनकी महत्त्राकांक्षा कभी भी न्यायपूर्ण नहीं मानी जा सकती थी, पर कार्य-भारी प्रधानमन्त्री बनने का उनकी महत्त्राकांक्षा के सम्बन्ध में भी यही विधान इतना ही बलपूर्वक नहीं किया जा सकता। माधवराव के गद्दी पर बेठने पर माधवराव की माता गोपिकाबाई की मत्सर बुद्धि के कारण जब पेशवाई के प्रधानमन्त्री का पद नाना फड़नवीस और पेठे को दिया गया, तो इस सम्बन्ध में रघुनाथराव के पक्ष में भी लोक-मत की सहानुभूति थी। रघुनाथराव ने इस पद को प्राप्त करने के लिए मुगलों की सहायता लेकर लोकमत प्राप्त कर लिया और फिर माधवराव को कैद करके सब अपने अधिकार में ले लिया। साथ ही नाना फड़नवीस से उनका काम छीनकर चिन्तोविट्ठल रायरीकर को दिया (१७६२), परन्तु शीघ्र ही (१७६३) मुगलों से सन्धि हो जाने के कारण माधवराव फिर से गद्दी पर बैठे और प्रधानमन्त्री का कार्य रायरीकर से छीन-कर नाना फड़नवीस और मोरोवा को दिया।

इसके पाँच वर्ष बाद तक माधवराव और रघुनाथराव में अधिक झगड़ा नहीं हुआ। रघुनाथराव चढ़ाई आदि के काम पर जाते थे और माधवराव कारभारी के कहे अनुसार काम करते थे। यद्यपि किसी अंश में यह ठीक है कि मातृभक्त माधवराव की माता गोपिकाबाई, माधवराव को रघुनाथराव के सम्बन्ध में चैन नहीं लेने देती थीं, पर यह सर्वथा सत्य है कि रघुनाथराव की स्त्री आनन्दीबाई तो रघुनाथराव को एक क्षरण भी चैन से नहीं बेठने देती थी। किसी कारण से क्यों न हो, अन्त में, रघुनाथराव के असन्तोष ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह का रूप धारण कर लिया और पाँच वर्ष पहले का समय चक्र उलटा घूम गया अर्थात् अब की बार माधवराव का पराभव हुआ और इन्हें पूना के शनिवार बाड़े में कैद कर दिया गया। माधवराव और नाना फड़नवीस का मन पहले से ही मिला हुआ था और रघुनाथराव का गैरमुत्सद्दी-पन नाना फ़ड़नवीस को रुचता नहीं था। इसीलिये रघुनाथराव के पराभव करने के काम में माधवराव को नाना फड़नवीस की सहायता मिला करती थी तथा माधवराव जब चढ़ाई पर जाते थे, तब रघुनाथराव की देख-रेख का काम नियमानुसार इन्हीं नाना फड़नवीस को ही सम्हालना पड़ता था। इसलिये रघुनाथराव और नाना फ़ड़नवीस के बीच में जो मनमुटाव हो गया था वह कभी भी दूर न हो सका। अन्त में, जब माधवराव मरने लगे, तब उन्होंने रघुनाथराव को कैद से छोड़ दिया और नारायण-राव का हाथ उनके हाथ में देकर मन से सब द्वेष निकाल डालने और नारायणराव पर प्रेम रखने को प्रर्थना की। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुये मनुष्य की प्रार्थना कोई भी

अस्वीकार नहीं कर सकता, अत: रघुनाथराव ने भी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और महत्वकाँक्षा तथा अपनी स्त्री आनन्दीवाई की धूर्तता पर ध्यान न देकर वे नारायण राव पर प्रेम रखने लगे। उनके लिये यह बात भूषणवत् हुई। कितने ही दिनों तक काका भतीजे, सोते भर अलग थे, भोजन-पान, उठना-बैठना आदि सब साथ ही करते थे, परन्तु दुर्भाग्य से यह स्नेह अधिक दिनों तक न टिक सका। पेशवाई के समय केवल खोटे सलाहगीरों से ही नहीं घिरे हुए थे, बल्कि नारायणराव की भी यही दशा थी। नारायणराव जितना ही क्रोधी था उतना ही कानों का कच्चा भी था इसीलिए लोगों के बहकाने पर उसने रघुनाथराव से मन फेर लिया और उन्हें तथा उनकी स्त्री को कारावास में डाल दिया। नाना फड़नवीस और सखाराम बापू इस काम के विरुद्ध थे परन्तु उन लोगों की कुछ भी न चली और इस कलह की ज्वाला फिर प्रदीप्त हो गयी। रघुनाथराव के पक्षपातियों ने नारायणराव को कैद करने का निश्चय किया, और ठीक उसी समय पर आनन्दीबाई, गारद के कुछ लोगों तथा नारायणराव से द्वेष करने वाले कुछ प्रभुओं से मिलकर, कैद करने के षड्यंत्र में शामिल हो गयी और इस तरह नारायणराव का कत्ल ता० ३ अगस्त १७७३ को कर दिया गया।

गद्दी लेने की अभिलाषा के कारण भतीजे के खून करने का आरोप जब बन्दी-गृह में पड़े हुए रघुनाथराव पर किया गया तो उसके सम्बन्ध में जनता की बची हुई थोड़ी बहुत सहानुभूति भी नष्ट हो गई। उस समय नारायणराव की स्त्री गर्भवती थी, अत: वंश चलने की आशा लोगों को होने लगी। सर्व साधारण ने रघुनाथराव को अपराधी समझ कर गद्दी से उसका स्पर्श न होने देना ही अच्छा समझा। आनन्दी बाई को जब यह समाचार मिला कि नारायणराव की स्त्री गर्भवती है और पुत्र होना संभव है, तब वह नारायणराव के किये गए खून को निष्फल समझने लगी। किन्तु वह इतने से ही हताश न हुई। उसने पहले तो नारायणराव की स्त्री को और फिर प्रसूति होने पर उसे तथा उसके पुत्र सवाई माधवराव को मारने के अनेक प्रयत्न किए, जो पीछे से प्रगट हुए। इन कारणों से रघुनाथराव पर जनता का द्वेष और अधिक हो गया और इसलिये नारायण राव के मरने के तेरह दिन बाद जो बारह भाइयों का गुट बना उसे दिन पर दिन पुष्टि ही मिलती गयी। उस समय कार्यभारियों ने गंगाबाई के नाम से सनद देना और पहले के समान नारायणराव के नाम का सिक्का जारी रखा।

रघुनाथराव के चढ़ाई पर जाने के कारण बारह भाई के गुट्ट को विशेष बल मिला। रघुनाथराव के साथ जो सरदार गये थे उन्हें भी नाना फ़ड़नवीस ने फोड़ लिया था और वे विद्रोही सरदार एक-एक करके कुछ न कुछ बहाने बना कर पूना लौट आये। रघुनाथराव को जब बारह भाई के गुट के समाचार मिले तब वह चढ़ाई का काम छोड़कर फौज के साथ पूना लौट आया। रघुनाथराव को लौटते देखकर

नाना फड़नवीस ने त्र्यम्बकराव दामाबेटे और हरिपन्त फड़के को फौज के साथ रघुनाथराव का सामना करने को भेजा। दोनों ओर से पंढरपुर के पास कासेगाँव में युद्ध हुआ जिसमें त्र्यम्बकराव की हार हुई और वह स्वयं भी मारा गया। बारह भाई के पहले ही प्रयत्न में यह 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापात:, होता देख नाना फड़नवीस की हिम्मत कुछ कम हुई, परन्तु हरिपन्त फड़के को जीता देखकर उन्हें तथा सखारामबापू को यह आशा बनी रही कि अपने काम में एकदम असफलता आना जरा कठिक है और उनकी यह आशा शीघ्र ही सफल भी हुई। हरिपन्त फड़के ने उधर फिर सैन्य-संग्रह करके सावाजी भोंसले तथा निजाम अली की मदद से रघुनाथराव पर फिर चढ़ाई की। इस नई फौज को आते देखकर रघुनाथराव पूना का मार्ग छोड़कर बुरहानपुर भाग गये। इधर तारीख १८ अप्रैल सन १७७४ को गंगाबाई के पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे अब बारह भाई के प्रयत्न को और भी अधिक बल प्राप्त हो गया। इस नवीनोत्पन्न पेशवा का नाम "सवाई माधवराव" रखा गया और उसी के नाम से धड़ाके के साथ पेशवाई शासन का कार्य चलाया जाने लगा।

इस समय रघुनाथराव की तरफ पूना में मोरोवा फड़नवीस, रायरीकर और पुरन्दरे ये तीन सरदार थे। मोरोवा की सहायता से रघुनाथराव ने सवाई माधवराव और उनकी माता गँगाबाई को पुरन्दर नामक किले के ऊपर तथा नीचे पकड़ने का प्रयत्न किया; परन्तु वह सिद्ध न हो सका। रघुनाथराव उस समय उत्तर हिन्दुस्तान की ओर था, इसलिए नाना फड़नवीस को सिन्धिया और होलकर की आवश्यकता थी और उसके मिलने की उन्हें आशा भी थी; क्योंकि माधवराव पेशवा के ही समय में महादजी सिन्धिया को सरदारी मिली थी और उन्हीं की कृपा से सिंधिया ने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी और होलकर महादजी सिंधिया की सलाह से तथा उनसे मिलकर चलते थे अर्थात् सिंधिया की मदद मिलने पर होलकर की सहायता आप से आप मिल सकती थी। नाना फड़नवीस के आज्ञानुसार इन दोनों सरदारों की सहायता उन्हें मिली तो सही, परन्तु रघुनाथराव के पराभव करने में वे नाना फड़नवीस के समान उत्सुकता प्रगट नहीं करते थे, क्योंकि पेशवाई के झगड़े से महादजी सिंधिया अपना प्रभाव बढ़ाने का लाभ सहज में ही उठा सकते थे। इसके सिवा सिंधिया और नाना फड़नवीस में पेशवा सरकार के हिसाब के सम्बन्ध में जो झगड़ा चल रहा था उसका भी परिणाम प्रगट नहीं हुआ था। महादजी सिंधिया पेशवाई के सरदार थे; उन्हें जो प्रान्त वसूली के लिये दिया गया था, उसकी वसूली करके और उसमें से अपनी फौज का खर्च काटकर शेष रुपये उन्हें पेशवा सरकार के यहाँ जमा कराना पड़ता था। नाना फड़नवीस थे पेशवाई के अर्थ-सचिव। उन्हें राज्य के अर्थ विभाग का सम्पूर्ण प्रबन्ध करना और सब सरदारों से हिसाब लेना पड़ता था। महाद जी सिन्धिया ने चार साल का हिसाब नहीं दिया था इसी सम्बन्ध में अर्थ-सचिव नाना फड़नवीस

और महादजी सिंधिया में झगड़ा चल रहा रहा था । यही कारण था जिससे रघुनाथ-राव के पीछे ही लगे हुये हरिपन्त फड़के भी सेना के साथ मालवा में घुसे परन्तु सिंधिया और होलकर की अनुमति के बिना उनके प्रान्त में रघुनाथराव को पराजित करना हरिपन्त के लिये कठिन था। हरिपन्त फड़के को मालवा में आते देख महादजी सिंधिया ने तुरन्त ही रघुनाथराव से संधि करने का राजनैतिक कार्य अपने हाथों में ले लिया और रघुनाथराव से संधि के विषय में बात चीत करना प्रारम्भ कर दिया। रघुनाथराव ने अपनी शर्तें प्रगट करने में बहुत आनाकानी की। रघुनाथराव ने कहा कि "पहले फौज के खर्च के कारण जो ५-७ लाख रुपयों का कर्ज मुझ पर हो गया है, वह मुझे दिया जाय तब मैं सिंधिया की मार्फत स्थायी सन्धि करूँगा, परन्तु यह रघुनाथराव का बहाना मात्र था। वह चाहता था कि हरिपन्त से रुपये मिल जाने पर अयोध्या के नवाब शुजाउद्दौला के पास चला जाऊँ। परन्तु सिंधिया ने उन्हें इस काम से रोका, तब वे दक्षिण की ओर जाने को तैयार हुए। साथ में सिंधिया और होलकर भी थे। जब हरिपन्त ने देखा कि रघुनाथराव को मुगल और भोंसले की सहायता नहीं मिल सकती, तब उन्होंने भी रघुनाथराव को बरार प्रान्त में जाने की आज्ञा दी।

रघुनाथराव दक्षिण को सीधी तरह से नहीं आ रहे थे। उनकी ओर से कुटिल-नीति के प्रयत्न जारी ही थे। सिंधिया भी यही चाहते थे; क्यों कि उन्हें नानाफड़नवीस से अपनी शर्तें मंजूर करवानी थी और वे रघुनाथराव के पूना पहुँचने के पहले ही मंजूर हो सकती थीं। इसलिये सिंधिया ने अपने वकील पुरन्दरे को कार्य-भारी के पास भेजा और रघुनाथराव तथा अपने सम्बन्ध की सब शर्तें उससे स्पष्ट रूप से स्वीकार करवा लीं। उनमें रघुनाथराव को दस लाख रुपये की जागीर और तीन किले सथा सिंधिया को खचँ के बदले में एक लाख रूपये और खिन्दखेड़, प्रभृति ग्राम उपहार में देने आदि की शर्तों के अनुसार रघुनाथराव को स्वाधीन करने के लिये सिंधिया ने कारभारियों को उत्तर हिन्दुस्तान की ओर बुलाया। वे लोग भी इस झगड़े को मिटाने के लिये आतुर हो रहे थे, अतः उन्होंने फिर मुगल और भोंसले को अपने सहायतार्थ बुलाकर खानदेश का रास्ता पकड़ा। यह देखकर रघुनाथराव और नई शर्तें करने लगे तथा सिंधिया की शिथिलता से लाभ उठाकर फिर उत्तर की ओर रवाना हुए। इस पर कारभारियों को निराशा हुई और वे अपने साथ की सेना को हरिपन्त की सहायतार्थ भेजकर वे पूना लौट गये। रघुनाथराव के साथ उनकी स्त्री आनन्दी बाई भी थीं। उस समय वह गर्भवती थीं। उसे साथ लेकर शीघ्रता से मार्ग तय हो नहीं सकता था, अतः उसे धार के किले में ठहराकर और उसकी रक्षा का प्रबन्ध करके आप भागने के लिये निश्चिन्त हो गये। वे धार से उज्जैन गये; परन्तु जब वहाँ भी हरिपन्त को अपने पीछे आते देखा तो पश्चिम की ओर मुड़कर गुजरात में घुस गये और

बड़ोदा चले गये। हरिपन्त, रघुनाथराव के पीछे ही लगा हुआ था। उनके साथ-साथ संधि की बातचीत करते हुए सिंधिया और होलकर भी थे और इस तरह सब मराठा-मण्डली छुपा छुपौवल का खेल खेल रही थी। बड़ोदा में रहना सुरक्षित न समझ रघुनाथराव अहमदाबाद की ओर रवाना हुए। हरिपन्त ने भी उनका पीछा वहाँ फिर किया और महीनदी के किनारे उससे जा मिला। बस युद्ध होने का समय आ गया। इतने में ही सिन्धिया ने बीच में पड़कर संधि की बातचीत आरम्भ कर दी। नदी के दोनों किनारे पर दोनों ओर की सेना सत्रह दिन तक पड़ी रही; पर कुछ सार नहीं निकला।

पेशवाई के झगड़े के मूल कारण रघुनाथराव की स्थिति इस समय बड़ी ही करुणाजनक थी। नारायणराव का वध होने के कारण बारह भाई ने उन्हें निकाल दिया था। जब रघुनाथराव ने देखा कि मेरी सहायता करने को कोई भी तैयार नहीं होता, तब उन्होंने अंग्रेजों का आश्रय लेने का विचार किया और धार में साथ की सब चीज वस्तु रखकर गुजरात का रास्ता पकड़ा। खम्भात से भावनगर होकर जल-मार्ग के द्वारा ता० २३ फरवरी सन १७७५ को वे सूरत पहुँचे। अंग्रेज अधिकारियों ने उनका खूब आदर-सत्कार किया, परन्तु उन्हें जो धन की आवश्यकता थी वह अँग्रेज थोड़े ही पूरी कर सकते थे। उन्होंने सूरत में कर्ज लेने का विचार किया; परन्तु इसके लिये भी कोई सेठसाहुकार तैयार नहीं हुआ। इधर अंग्रेजों ने संधि करने की शीघ्रता की और ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति को स्वयं जामिन होकर तो कर्ज दिलाना दूर रहा, उल्टे यह कहने लगे कि तुम्हारे पास जो छः लाख के जवाहिरात हैं उन्हें जब हमारे पास संधि की जनानत के तौर पर रक्खोगे तब हम संधि करेंगे। लाचार होकर रघुनाथराव ने अंग्रेजों से संधि की जिसकी मुख्य मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

(१) अंग्रेज और मराठों से जो पहले संधि हो चुकी हैं उसे रघुनाथराव भी मान्य करें।

(२) अंग्रेज अभी पन्द्रह सौ और फिर शीघ्र ही पचीस सौ सेना रघुनाथराव को सहायतार्थ दें।

(३) इस सेना के व्यय के लिये रघुनाथराव, सब साष्टी द्वीप, मराठों के अधिकार का उसका आश्रित्त प्रदेश और उसकी आमदनी, गुजरात के जम्बूसर और ओलफड़ नामक परगने, कारंजा, बम्बई के पास वाले कान्हेरी प्रभृति द्वीप, वड़ोदा के गायकवाड़ की मार्फत भड़ोच शहर और परगने से वसूल होने वाली आमदनी, अंकलेश्वर की आमदनी में से प्रतिवर्ष पचहत्तर हजार रुपये तथा अंग्रेजों की फौज के खर्च के लिये डेढ़ लाख रुपये मासिक दें। इन डेढ़ लाख रुपयों के लिये गुजरात के चार परगने जमानत के तौर पर दिये जायँ।

(४) बंगाल और कर्नाटक की अंग्रेजी जागीर पर मराठे भी न चढ़ाई करें।

(५) ऊपर की शर्तों के अनुसार देने के लिये स्वीकृत किया हुआ प्रान्त संधि के दिन से अंग्रेजों के अधीन किया जाय और यदि रघुनाथराव तथा पूना के दरबार में संधि हो जाने से युद्ध करने का अवसर प्राप्त न हो,तो भी यह समझा जाय कि अंग्रेजों ने संधि के अनुसार सहायता की है और इसके बदले में ऊपर लिखा हुआ प्रान्त उन्हें सदा के लिये दिया हुआ समझा जाय।

तदनुसार संधि हो जाने पर बम्बई वालों ने कर्नल कीटिंग को रघुनाथराव के सहायतार्थ भेजा। कीटिंग और रघुनाथराव की मुलाकात सूरत में फरवरी के अन्त में हुई और तुरन्त ही खम्भात से १६ मील दूरी पर दारा नामक स्थान पर रघुनाथराव और अंग्रेजों की पचास हजार सेना एकत्रित की गई। इधर हरिपन्त के पास सेना बहुत कम रह गयी थी; क्योंकि सिन्धिया और होलकर मालवा को लौट गये थे और शेष बची हुई सेना भी बहुत दिनों से वेतन न मिलने से हतोत्साह हो रही थी। ऐसी स्थिति में हारास नामक स्थान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में हरिपन्त की हार हुई; परन्तु कुछ अंतिम परिणाम न निकल सका, क्योंकि वर्षा-ऋतु आ जाने के कारण कीटिंग हरिपन्त के पीछे न लग डभोई में वर्षा-ऋतु की छावनी डालकर रहने लगे। पेशवा की सेना को यह अवकाश मिल जाने से रघुनाथराव की बड़ी हानि हुई क्योंकि बम्बई के अंग्रेजों ने जो रघुनाथराव से संधि की थी उसके समाचार जब कलकत्ता पहुँचे तब कलकत्ते के गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्ज ने इस संधि को अमान्य ठहराया। सन १७७४ के रेग्युलेशन एक्ट के अनुसार बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल के स्वत्व मिल चुके थे और दूसरे प्रान्तों के गवर्नरों पर उनका अधिकार चलने लगा था। परन्तु इस बात को हुए एक ही वर्ष बीता था, इसलिये अन्य गवर्नर को पहले के समान स्वतंत्रता से काम करने का अभ्यास छूटा नहीं था। इसी अभ्यास के वश होकर बम्बई के अंग्रेजों ने रघुनाथराव से संधि कर ली थी और कलकत्ते के गवर्नर जनरल के मंजूरी की आवश्यकता नहीं समझी थी। यदि कलकत्ता में समाचार पहुँचने के पहले ही यहाँ झटपट पेशवा से युद्ध हो गया होता और उसका परिणाम अंग्रेजों के अनुकूल होकर रघुनाथराव पूना की गद्दी पर बैठता तो कदाचित बात दूसरी ही होती और कलकत्ते वाले भी इस बात से लाभ उठाने को तैयार हो जाते; परन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी थी। एक सम्पूर्ण मराठी सेना से लड़ने का यह प्रसंग था, दूसरे सम्पूर्ण मराठे सरदार पूना दरबार के अनुकूल थे और रघुनाथराव के पास भी अधिक सेना नहीं थीं। फिर बम्बई के अंग्रेजों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में कोई किसी के लिए और किसी युद्ध की धधकती अग्नि में क्यों पड़ेगा और फिर ऐसे व्यक्ति को जिस पर सम्पूर्ण जगत ने अपने ही भतीजे का खून करने का

अपराध लगाया हो, राज्य दिलाने के लिये भला कौन युद्ध करना चाहेगा ? यद्यपि यह ठीक है कि वारन हेस्टिंग्ज सत्य और न्याय की मूर्ति नहीं थे, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि रघुनाथराव का पक्ष लेने का बम्बई वालों का कार्य उन्हें उचित नही प्रतीत हुआ। इसी लिये उन्होंने युद्ध बन्द करने की आज्ञा बड़ी शीघ्रता से चारों ओर भेज दी और अपना एक वकील संधि करने के लिए पूना दरबार में भेजा। इस वात से बम्बई वालों के मुँह पर अच्छा तमाचा लगा और उन्हें रघुनाथराव से कुछ कहने में लज्जा मालूम होने लगी। उन्होंने कर्नल कीटिंग द्वारा रघुनाथराव को कहलवाया कि "यद्यपि बात यहाँ तक आ गई है, तो भी हम तुम्हें शक्ति भर सहायता देंगे। यदि संधि करने का भी मौका आया तो हम उन शर्तों पर ही संधि करेंगे जिनसे तुम्हारा हित होगा और अधिक तो नहीं अपने यहाँ निर्भर रहने के लिये उत्तम स्थान तो अवश्य देंगे।" इस निराशाजनक समाचार का प्रभाव रघुनाधराव पर क्या पड़ा होगा इसकी कल्पना सब कोई सहज में कर सकते हैं।

श्री युत राजवाड़े ने "मराठों के इतिहास के साधन" नामक पुस्तक का जो बारहवाँ खंड प्रकाशित किया है उसमें रायरीकर के दफतर के उस समय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पत्र छपे हैं जिसमें से कुछ पत्र तो रघुनाथराव के हैं और कुछ वे हैं जो अंग्रेजों के यहाँ रहने वाले रघुनाथराव के वकील ने रघुनाथराव को लिखे हैं। इन पत्रों के पढ़ने से इस वात का स्पष्टीकरण भली प्रकार हो जाता है कि अँग्रेजों के आश्रय में जाने पर रघुनाथराव की स्थिति कितनी विषम हो गई थीं। कलकत्ते वालों की आज्ञा से युद्ध बन्द हो जाने के कारण रघुनाथाराव के कार्य में बहुत भारी धक्का लगा; परन्तु बम्वई वालों ने पहले बहुत धीरज बँधाया और कहा कि "इसी काम के लिये यहाँ से पत्र देकर टेलर साहब को कलकत्ते भेजा है; वहाँ २० दिन में पहुँचेगे और जाने के डेढ़ मास बाद फिर युद्ध करने की आज्ञा लेकर पत्र लिखेंगे।" इस तरह पहले धीरज बँधाया। उस समय रघुनाथराव के वकील ने लिखा था कि "जनरल साहब ने जो हाथ श्रीमन्त का पकड़ा है उसे वे कभी न छोड़ेंगे, श्रीमन्त के पक्ष का समर्थन अवश्य होगा। श्रीमन्त चिन्ता न करें। बम्बई वालों को अपने स्वाभिमान-रक्षा की चिन्ता है। नवीन जनरल बिलायत से रवाना हो चुका है। वह पन्द्रह-बीस दिन में बम्बई आ पहुँचेगा। श्रीमन्त की ओर से जो लाभ होगा वह नये जनरल साहब को होगा यहाँ से न होगा"। रघुनाथराव को यह झूठी आशा भी दिलायी गई कि "किसी चतुर मनुष्य को विलायत भेजा जाय, तो आठ-दस मास में सब पक्का प्रवन्ध हो जायगा।" इधर यह जनश्रुति फैली थी कि गंगाबाई के जो लड़का हुआ था वह तो मर गया है; परन्तु उसके स्थान पर दूसरे बनावटी लड़के को रखकर सवाई माधवराव के जन्म होने की घोषणा की गई हैं। गंगाबाई के साथ अन्य पाँच गर्भवती स्त्रियाँ इसी आशा

से रखी गयी थीं। इन बातों से रघुनाथराव को गद्दी पर हक और भी प्रबल हो गया है, यह कहने का आधार अंग्रेजों को मिल गया और इससे अंग्रेजों का साथ करने का फल व्यर्थ नहीं जायेगा, ऐसी आशा रघुनाथराव को होने लगी। परन्तु फिर दिन पर दिन यह आशा कम भी होने लगी; क्योंकि एक तो रघुनाथराव के पास स्वतः अपना पैसा बिलकुल नहीं बचा था, दूसरे गायकवाड़ से जो वसूली होती थी वह भी अंग्रेजों के पास नहीं आती थी। वे तो कभी गोविन्दराव और कभी फतहसिंह से मिलकर अपना वसूली करने का काम निकाल लिया करते थे। गुजरात प्रान्त में जो परगने दिये थे उन्हें भी वे लेकर बैठ गये थे, परन्तु रघुनाथराव के खर्च का कुछ भी प्रबन्ध न करते थे। अपने पास की सेना के बल पर बड़ोदा शहर को लेने का विचार रघुनाथराव ने किया भी तो उसमें लोग आड़े आ गये। अब यदि उनसे लड़ाई छेड़ी जाती तो आगे की सलाह धूल में मिल जाती। वेतन न मिलने से सेना के कुछ लोग भी जाने की तैयारी करने लगे। उधर कलकत्ते से आश्विन के अन्त तक युद्ध फिर प्रारम्भ करने के समाचार आने वाले थे; परन्तु कार्तिक समाप्त होने पर भी पत्र का कहीं पता न था। नर्मदा के तीर पर कहीं सुभीते की जगह देखकर रघुनाथराव ने रहने का विचार किया परन्तु कर्नल कीटिंग यह भी नहीं करने देते थे। वे सेना के सहित जाने का आग्रह करते थे। रघुनाथराव ने एक पत्र में लिखा है कि "नर्मदा तट पर रहने नहीं देते ऐसी अधबीच की स्थिति में आ पड़ा हूँ। जनरल लोग भीतर ही भीतर क्या लिखते हैं यह भी समझ में नहीं आता, तो भी जनरल आदि चालाक और हमारे हितैषी हैं यह जानकर मैं रवाना होता हूँ। फिर इश्वरेच्छा बालीयसि।" आधा मार्गशीर्ष मास चला गया, परन्तु कलकत्ते से कोई उत्तर नहीं आया। तब बम्बई वालों से रघुनाथराव के वकील ने कहा कि" यदि बंगाल वाले तुम्हारी नहीं सुनेंगे, तब तुम क्या करोगे ? हमें तुम्हारे विश्वास पर धोखा तो नहीं खाना पड़ेगा ?" परन्तु बम्बई वालों ने कहा—"सुनेंगे क्यों नहीं ? अवश्य सुनेंगे। चिन्ता मत करो।" वे इस प्रकार आश्वासन देते रहते थे परन्तु ये आश्वासन शीघ्र ही निष्फल सिद्ध हुए, क्योंकि फाल्गुन मास के लगभग बंगाल वालों के वकील साहब ने पूना पहुँच कर बारह भाई से संधि कर ली और उसके समाचार बम्बई वालों को भेज दिये। इस सन्धि की मुख्य शर्त रघुनाथराव को बारह भाई के अधीन करने की थी। जब यह शर्त बम्बई वालों ने जानी होगी तब रघुनाथराव पर प्रगट करते समय उन्हें कैसी कठिनाई पड़ी होगी इसका अनुमान पाठक गण स्वयं कर लें। रघुनाथराव भी यही समझने लगे कि बम्बई वालों ने हमसे विश्वासघात किया और उनके मुँह से यह उदगार सहज ही में निकले कि—"अंग्रेजों के घर रहते हुए भी हमें ये बारह भाई के अधीन कर कैद करवाते हैं। इसलिए यह बात अंग्रेजों के लिये अभिमानपूर्ण नहीं है।" रघुनाथराव अंग्रेजों से पूछने लगे कि

"तुमसे कुछ नहीं होता न सही; पर चुपचाप तो बैठो और कहो कि इस तरह तटस्थ रहने का क्या लोगे ?" वे विचारने लगे कि वर्ष दो वर्ष गुजरात में व्यतीत कर अपने उद्योग से जो मिलेगा उसी पर निर्वाह करेंगे। एक बार यह भी विचार किया कि भड़ोंच के पास रणगढ़ में नर्मदा-तट पर रहकर वर्ष-दो वर्ष स्नान-संध्या में व्यतीत करूँ और इस बीच विलायत तथा भारत में बारह भाई के शत्रु से कुछ राजनैतिक झगड़े करवा कर अपने भाग्य की परीक्षा करूँ, परन्तु वहाँ रहना सम्भव नहीं था; क्योंकि कलकत्ते वाले अंग्रेजों की आज्ञा से संधि हो जाने पर रघुनाथराव को सेना के साथ गुजरात में अपना आश्रित बनाकर अथवा सम्मति से रहने देने का अधिकार बम्बई वालों को नहीं था। इस पर रघुनाथराव सिर पीटकर रह गये। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि "अंग्रेजों को उदार और बलवान समझकर उनका आश्रय लिया था; परन्तु भाग्य ने वहाँ भी धोखा दिया। अब जनरल को क्या दोष दिया जाय ? जो होना है सो होगा ही ! सब में श्रेष्ठ अँग्रेजों को शामिल कर शत्रु को प्रायः आधा पराजित भी कर दिया, तो भी जब धक्का बैठा, तो अब वैराग्य धारण करना ही उचित है।" रघुनाथराव के मन में था कि कम्पनी के अधिकार के किसी एक स्थान को देखकर वहाँ रहें क्योंकि कोपरगाँव में रहना तो एक प्रकार से बारह भाई की कैद में ही रहना था। परन्तु उनका यह बिचार भी पूरा न हो सका और इतना ही नहीं; किन्तु रघुनाथ राव के जो छः लाख के जवाहिरात अंग्रेजों के पास थे उन्हें भी बारह भाई के देने की शर्त अप्टन साहब ने पूना दरबार से की थी। रघुनाथराव को यह तो अन्याय की परमावधि ही प्रतीत होने लगी और वे पूछने लगे कि "हमारे जवाहिरात देने वाले आप कौन हैं ?" परन्तु उन्होंने अपने आपसे यह नहीं पूछा कि अंग्रेजों के बारह भाई से संधि कर लेने पर यह प्रश्न पूछने वाले रघुनाथराव भी कौन होते हैं। शक सम्बत् १६९८, चैत्र बदी चतुर्दशी के पत्र में निराश होकर रघुनाथराव ने इस प्रकार उदगार निकाले हैं "सब सलाह धूल में मिल गयी। अंग्रेजों की प्रतिकूलता के कारण सब संकट सिर पर आ पड़े हैं। आज तक अंग्रेजों की यह ख्याति थी कि इन्होंने जिसका पक्ष लिया उसे कभी न छोड़ा; परन्तु हमें तो बहुत धोखा दिया और हमारे साथ विश्वासघात, दगाबाजी और बेईमानी की। इनके द्वारा हमारे सम्बन्ध में ऐसा दगा हुआ है जैसा किसी को भी न हुआ होगा।" यह ऐसा समय था कि रघुनाथराव को यह नहीं सूझता था कि कहाँ जावें और कहाँ रहें। यदि जहाँ थे वहाँ से हटकर जाते तो मुल्की सिपाही वेतन के लिये जान खा जाते और यदि जहाँ के तहाँ रहते, वह भी असंभव, क्योंकि ग्याँवियर और कीटिंग ने आकर यह स्पष्ट कह दिया था कि "तुम्हारे रहने के कारण सेना को परिश्रम करना पड़ता है। फड़के की सेना तुम पर आक्रमण करने वाली है। हम तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते और यदि सेना सहित तुम्हें रखते हैं तो हमें

बदनामी उठानी पड़ती है। इसलिये आप यहाँ से रवाना होकर जिस तरह बने अपना बचाव करें। आप अपनी सेना को बचायें, हमारे भरोसे न रहें। यदि आप शहर में आना चाहते हैं तो दो सौ मनुष्य से अधिक हम नहीं आने देंगे।"

जब कर्नल अप्टन पूना जाकर कारभारियों से सन्धि की बातचीत करने लगे, तब पहले तो कारभारियों ने कर्नल साहब को सहायता नहीं दी और यही कहा कि बम्बई वालों ने निष्प्रयोजन हमसे झगड़ा किया है, इसलिये साष्टी और उसके साथ में लिया हुआ सब प्रदेश हमें दो और रघुनाथराव का पक्ष बिना किसी शर्त के छोड़ो, तब हम सन्धि करेंगे। परन्तु अंग्रेजों के वकील को यह अशान्य था। अतः पहले तो यह सन्धि होने की आशा ही टूट गयी और तारीख ७ मार्च सन १७७६ को कलकत्ते वाले अंग्रेजों ने बम्बई वालों को मराठों से युद्ध करने की आज्ञा देने का निश्चय किया; परन्तु यहाँ इससे छः दिन पहले ही अर्थात् १ मार्च को ही सब शर्तें ठहर कर पुरन्दर में संधि पर हस्ताक्षर भी हो गये थे। इस सन्धि की मुख्य-मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

(१) अंग्रेजों ने जो साष्टी द्वीप ले लिया है सो उन्हीं के पास रहे और यदि कभी वे देने को तैयार हों, तो पेशवा अंग्रेजों को तीन लाख की आमदनी का प्रान्त बदले में दें।

(२) भड़ोंच शहर और उसके चारों ओर का जो प्रदेश पेशवा के अधिकार में है वह अर्थात लगभग तीन लाख की आय वाला प्रदेश, मराठे अंग्रेजों को दें।

(३) अंग्रेज रघुनाथराव का पक्ष छोड़कर उनके पास से अपनी सेना हटा लें और रघुनाथराव भी अपनी फौज के साथ कोपरगाँव में आकर रहें; उन्हें २५ हजार रुपये मासिक खर्च के लिये दिये जायँगे।

इस सन्धि के अनुसार मराठों का लगभग छः लाख वार्षिक आमदनी वाला प्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में चला गया; परन्तु गृह-कलह मिटाने और अपने राजनैतिक कार्यों में जो दूसरे के प्रवेश होने का भय था उसे दूर करने के अभिप्राय से उन्होंने यह छः लाख रुपये का प्रान्त देकर सन्तोष धारण किया था; पर अंग्रेजों को इस सन्धि से सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें छः लाख की आमदनी का प्रदेश प्राप्त करने की अपेक्षा मराठों से लड़ने के कारणभूत रघुनाथराव को अपने हाथ में रखने की इच्छा अधिक थी। वे पुरन्दर की संधि के अनुसार तीन लाख का प्रान्त भी लेना चाहते थे और रघुनाथराव को भी आश्रय देने के लिये तैयार थे। उन्होंने रघुनाथराव को पेशवा के अधीन न कर दस हजार रुपये मासिक वेतन देकर बम्बई में रखा और गुजरात में अपनी फौज भी तैयार रखी। स्वयं गवर्नर वारन हेस्टिंग्ज़ को यह संधि स्वीकृति नहीं थी और इधर बम्बई वालों ने भी कलकत्ते वालों के विरुद्ध इँगलैंड के राजा के पास नियमानुसार

अपील करने का मार्ग रघुनाथराव को बतलाकर खलबली मचा दी थी। रघुनाथराव ने इंगलैंड के राजा को जो पत्र लिखा था उसका आशय इस प्रकार था—

"मेरा पक्ष सत्य है और यही देखकर बम्बई के अंग्रेजों ने मुझे सहायता देने का वचन दिया था। कर्नल कीटिंग की वीरता के कारण हमने गुजरात में पाँच-छः लड़ाइयों में विजय प्राप्त की और वर्षा ऋतु के समाप्त होते ही हम पूना पर चढ़ाई करने वाले थे; परन्तु इतने में ही कलकत्ते वालों ने युद्ध रोक दिया। अंग्रेजों की सर्वत्र यही नीति है कि एक गवर्नर के कोई काम शुरू करने पर दूसरे गवर्नर उसे सहायता देकर कार्य-सिद्ध कर लेते हैं; परन्तु मालूम होता है कि वारन हेस्टिंग्ज़ को यहाँ की स्थिति का पूर्ण अनुभव नहीं हुआ है। इसीलिए उन्होंने युद्ध बन्द करने की घोषणा की होगी। यहाँ अंग्रेजों की न्याय प्रियता बहुत प्रसिद्ध है, इसलिए बम्बई वालों के और मेरे बीच में जो सन्धि हुई है उसे पूरी करना उचित है। मेरे ऊपर आप का जो प्रेम है उसे ध्यान में लाकर मुझे पूना की गद्दी प्राप्त करने के कार्य में बम्बई और कलकते वाले अंग्रेजों की सहायता देने के लिये आप कृपा कर आज्ञा दें।"

इस पत्र का प्रत्यक्ष में कोई परिणाम नहीं हुआ। इधर पुरन्दर की सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को काम करते हुए देखकर और रघुनाथराव को आश्रय देने के कारण, रघुनाथराव सम्बन्धी मुख्य शर्त पूर्ण होने तक, पूना वालों ने गुजरात प्रान्त का जो तीन लाख का आमदनी वाला प्रान्त देना स्वीकार किया था वह नामंजूर कर दिया और एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि न तो युद्ध ही होता था और न तो संधि की शर्तें ही पूरी होती थीं। परन्तु कलकत्ता-कौंसिल ने यह सन्धि स्वीकार कर ली थी; इसलिये अंग्रेज उसे एकाएक तोड़ने में असमर्थ थे और उधर नाना फड़नवीस भी यह चाहते और प्रयत्न करते थे कि पुरन्दर की सन्धि के अनुसार काम हो। रघुनाथराव भी उधर चुप नहीं बैठे थे। वे अंग्रेजों से स्पष्ट कह रहे थे कि या तो सूरत की सन्धि के अनुसार काम करो या मुझे तुम्हारे आश्रय की आवश्यकता नहीं है। मुझे जैसा सूझेगा वैसा करूँगा। बम्बई वालों के लिए भी यह एक लाभदायक बात हुई; क्योंकि रघुनाथराव के आश्रित होकर रहने से उन्हें जो खर्च पड़ता वह बच गया।

दूसरे वर्ष एक नई बात पैदा हो गई। वह यह कि फ्रेंचों ने अपने वकील सेंट ल्यूविंन के द्वारा दरबार से बातचीत करना प्रारम्भ किया। अंग्रेजों के समान महाराष्ट्र में व्यापार बढ़ाने और पेशवाई की राज-व्यवस्था में प्रवेश करने की इच्छा फ्रेंचों की भी थी। उस समय फ्रेंचों और अंग्रेजों की वैराग्नि धधक रही थी और जिस तरह अमेरिका में फ्रेंचों ने अंग्रेजों के विरुद्ध वहाँ के निवासियों को भड़काया था, उसी तरह यहाँ भी पेशवा को अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता देने का फ्रेंचों का विचार था। पेशवा ने भी अंग्रेजों के रघुनाथराव सम्बन्धी व्यवहार के बदले में फ्रेंचों को हाथ में लेना उचित समझा और इसीलिये अंग्रेजों का दिल जलाने के लिये जानबूझ कर उनके वकील का

खूब सत्कार किया। यदि उस समय पेशवा और फ्रेंचों की स्थायी सन्धि हो जाती तो उसका परिणाम क्या होता यह अनुमान करना बहुत कठिन है। कदाचित फ्रेंचों की सहायता से पेशवा ने अपनी कवायद करने वाली पलटनें तैयार कर ली होतीं और पेशवा की सहायता से फ्रेंचों ने पूना में एक छोटी-मोटी कोठी खोलकर बम्बई के आस-पास बन्दर प्राप्त किया होता; परन्तु यह सन्धि नहीं हो सकी। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय यह जन-श्रुति थी कि नाना फड़नवीस और सेंट ल्यूविन की परस्पर में सन्धि हो गयी है तथा यह भी खबर थी कि एक दिन नाना फड़नवीस के घर सेंट ल्यूविन और मुख्य-मुख्य अधिकारी एकत्रित हुए थे और उन सबके सामने ल्यूविन ने बाइबिल की और नाना ने गाय की शपथ लेकर संधि निश्चित की थी। उस सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि "पेशवा, फ्रेंचों को चौल बन्दर दें और फ्रेंच अंग्रेजों से लड़ने के लिये मदद दें।" जिस समय फ्रेंच वकील आता था उसे लेने के लिये हाथी भेजा जाता था और स्वयं नाना फड़नवीस और सखाराम बापू उसका स्वागत करने के लिये डेरे से बाहर आते थे; परन्तु जब अंग्रेजों का वकील आता था तब उसे लेने के लिये कोई-एक दूसरी श्रेणी का सरदार भेजा जाता था। इस प्रकार का भेद-पूर्ण व्यवहार अंग्रेजों के ध्यान में नहीं आया हो यह बात नहीं; किन्तु यह बहुत सम्भव है कि उनके ध्यान में लाने ही के लिए नाना फड़नवीस ने यह प्रपंच रचा हो। कुछ भी हो, अन्तिम परिणाम देखने पर यही प्रतीत होता है कि पेशवा और फ्रेंचों की मैत्री बहुत काल तक न टिकी।

कितने ही अंग्रेज ग्रंथकारों का यह मत है कि यदि उस समय पूना के दरबार में फ्रेंचों के पैर जम गये होते, तो मराठों ने सम्पूर्ण भारत पर अधिकार कर लिया होता। उस समय के बम्बई के अंग्रेज अधिकारियों को यह भय होने लगा था कि कारोमन्डल किनारे पर जैसी घटना हुई थी, वैसी ही कहीं फ्रेंचों के षड्यंत्र से यहाँ भी न हो अर्थात कारोमन्डल किनारे की तरह बम्बई भी न छोड़ना पड़े। उनका यह भय उस समय के कागज-पत्रों में भी देखने को मिलता है; परन्तु पूना में फ्रेंचों का पैर जम न सका, क्योंकि एक तो अंग्रेजों ने बम्बई में लगातार सौ वर्षों से अपने पूरे पैर जमा रक्खे थे; दूसरे समुद्र-किनारे पर सुरक्षित रीति से जमने के लिए फ्रेंचों को अधिक स्थान नहीं था। नाना फड़नवीस भी यह बात जानते थे। उन्होने अंग्रेजों पर प्रभाव जमाने और धाक उत्पन्न करने के लिये फ्रेंचों की ओर ऊपरी मन से अधिक सहानुभूति दिखलायी होगी। पुर्तगालियों और अंग्रेजों का तो उन्हें पूरा अनुभव था ही, अब तीसरे फ्रेंचों के आ जाने से दुःखों के कम हो जाने की आशा भी नहीं थी; परन्तु एक का भय दूसरे को दिखाने की नीति उस समय आवश्यक और चतुराई से भरी होने से उन्होंने स्वीकार की होगी। एक बार तो अंग्रेजों के वकील ने बम्बई को लिखा था कि नाना फड़नवीस

कहते हैं कि—"हम पूना से सब यूरोपियनों को निकाल देंगे। यदि किसी को वकील के तौर पर दरबार में आने-जाने वाले मनुष्य की जरूरत होगी तो एक कर्मचारी रख देना बहुत होगा।"

उस समय पूना दरबार में प्रवेश होने की स्पर्द्धा जिस तरह यूरोपियनों में थी, उसी तरह दुर्दैव से पूना दरबार के दो कारभारियों में भी थी। अतः रघुनाथराव के पक्षपातियों ने उन्हें पूना लाने के लिये बम्बई के अंग्रेजों से बातचीत चलाई। इस काम में सखाराम बापू, मोरोबा फड़नवीस, बजाबा पुरन्दरे और तुकोजी होलकर शामिल थे और ये चारों ही प्रभावशाली पुरुष थे; पर सखाराम बापू का प्रभाव और ही बढ़कर था, क्योंकि यह पूना दरबार का मुख्य कारभारी था और पुरन्दर के सन्धि-पत्र पर पहला हस्ताक्षर इसी का था, नाना फड़नवीस का तो उसके नीचे था। उसी सखाराम-बापू ने जब रघुनाथराव को पूना लाने की बातचीत छेड़ी, तो अपने स्वार्थ के लिए अंग्रेज इसका यह मतलब लगाने लगे कि जब पुरन्दर की सन्धि करने वाला ही यह बातचीत चलाता है, तो हम यही समझते हैं कि पूना-दरबार ही पुरन्दर की सन्धि तोड़ने का प्रारम्भ करता है, ऐसा करने के लिए हमें निमन्त्रण देता है। अंग्रेजों ने अपने सुभीते के लिए यह भी विश्वास जमा लिया कि सन्धि तोड़ने का दूसरा कारण फ्रेंचों के साथ पेशवा का बातचीत चलाना है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि नाना-फड़नवीस के सिवा अन्य सब कारभारी-रघुनाथराव के पक्ष में होंगे। विलायत से आने वाले पत्रों में भी कम्पनी के मुख्य अधिकारियों ने भी रघुनाथराव के प्रति अपनी अनुकूलता प्रकट की। उधर विलायत से एक बहुत बड़ा जंगी जहाजों का बेड़ा भी आ रहा था इससे भी लाभ उठाया जा सकता था। इन सब बातों पर ध्यान देकर बम्बई के अंग्रेजों ने पूना में रहने वाले अपने वकील को सखाराम बापू से गुप्त-रीति से बातचीत चलाने के लिये लिखा। इनके कार्य में विघ्न डालने वाली केवल एक ही बात दीखती थी। वह यह कि सवाई माधवराव को ही नारायणराव के सच्चे और सत्पुत्र होने के कारण गद्दी का स्वामी मानने में महाराष्ट्र-प्रान्त में किसी को आपत्ति न थी; यहाँ तक कि स्वयं रघुनाथराव के पक्षपाती भी इसके विरुद्ध बोलने को तैयार नहीं थे। यह देखकर अंग्रेजों ने यही उचित समझा कि रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने की अपेक्षा सवाई माधवराव के वयस्क होने तक उन्हीं को कारभारी बनाया जाय; क्योंकि ऐसा करना अच्छा और न्यायपूर्ण प्रतीत होगा। अतः अंग्रेजों ने अपने वकील को इसी आशय की सूचना दी। अंग्रेजों को दोनों बातों से लाभ की ही आशा थी। रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने से उन्हें जितना लाभ था उससे उसके कारभारी हो जाने से कुछ कम न था, क्योंकि गद्दी के स्वामी के अल्प-वयस्क होने से अधिकार कारभारी का ही

होता। इसलिए रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने में साक्षात अन्याय का पक्ष लेकर, अपना काम बिगाड़ना अंग्रेजों ने उचित नहीं समझा।

पुरन्दर की सन्धि हो जाने पर भी बम्बई वालों के इस षडयन्त्र को कलकत्ते वाले अंगरेजों ने भी अपनाया। कलकत्ता कौन्सिल के केवल दो सभासद फान्सिस और ह्वीलर इस षडयन्त्र के विरुद्ध थे, परन्तु अब वारन हेस्टिंग्ज के विचार बदल गये थे। पहले उन्हें मराठों के झगड़े में पड़कर पेशवाई से बैर करना उचित नहीं दिखता था, परन्तु अब उसे इसमें कम्पनी-सरकार का हित दिखलाई देता था। उसे यह आशा थी कि इन झगड़ों में पड़ने से पूरे-दरबार में हमारा प्रभाव स्थायी रूप से जम जायेगा और इस कार्य से बिगाड़ करने का कार्य अन्याय पूर्ण होने पर भी उसे सुभीते का दीखने लगा। वारन हेस्टिंग्ज ने बम्बई के गवर्नर को लिखा कि जब पुरन्दर की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले एक मुख्य कार्यभारी ने सन्धि की शर्त तोड़ने की सूचना स्वयं दी है, तो उस सन्धि के विरुद्ध रघुनाथराव को पूना ले जाना आवस्यक है और इस कार्य के लिये बम्बई वालो को दस लाख रुपयों की सहायता देने का निश्चय करके उन्होंने कर्नल लेस्ली को सेना के सहित बम्बई को रवाना किया। इधर नाना फड़नवीस ने विद्रोही दल के मोरोबा फड़नबीस को कैद करके किले में रखा। बम्बई के अंग्रेजों को गुप्त समाचारों से यही पता लगा कि मराठा-शाही में इस समय बहुत दुर्व्यवस्था है। अतः उन्होंने रघुनाथराव को पूना लाने का विचार पक्का कर लिया और कलकत्ते से आने वाली फौज की प्रतीक्षा न कर ता० २४ नवम्बर सन १७७८ को रघुनाथराव से नवीन सन्धि की, और दूसरे ही दिन कर्नल एगर्टन को पांच सौ गोरे और दो हजार देशी सैनिक देकर बम्बई बन्दर से रवाना भी कर दिया तथा आवश्यकता पड़ने पर राजनैतिक बातचीत करने के लिये जानकार नाक तथा टामस मास्टिन नामक दो सिविल अधिकारियों को अपना प्रतिनिधि बनाकर सेना के साथ भेजा।

कर्नल एगर्टन की यह सेना पनवेल में उतरकर और वहाँ से घाटियों में से होती हुई २५ दिनों में खण्डाले तक आ पहुँची। नाना फड़नवीस को अंग्रेजों के समाचार प्रतिक्षण मिला करते थे। इस समय उन्होने अपना सब भरोसा सिंधिया पर रख कर और उन्हें बुरहानपुर देना स्वीकार करके सेना के साथ अंग्रेजो का सामना करने को भेजा। दशहरे के बाद सिंधिया और होलकर की तथा रास्ते में मिलने वाली प्रति-निधियों आदि की सेना मिलकर चालीस हजार के लगभग तैयार हो गयी। इस समय अंगरेजों से जी होमकर लड़ाई होने की आशा थी। अतः तोपखाने का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया गया और वह त्र्यम्बकराव पान की नायकता में रणक्षेत्र को भेजा गया। अंगरेजों की सेना को बेहोशी के साथ चढ़े चले आते देख मराठी सेना कुछ पीछे हट गयी और उसे बराबर अपने ऊपर आने दिया और यह निश्चय कर लिया कि आवश्य-

कता पड़ने पर तलेगांव को भस्म कर देंगे और फिर चिंचवड़ और पूना भी भस्म कर देंगे। जनवरी के प्रारम्भ में कर्नल एगर्टन अस्वस्थ होने के कारण अपना पद-त्याग कर जाने को तैयार हुए, परन्तु यह देखकर कि मराठों ने कोकण के रास्ते बन्द कर दिये हैं, वह फिर से तलेगांव लौट आया। कर्नल बाण के लगने से खण्डाला में जख्मी हुआ और कार्ले के मुकाम पर तोप के गोले से कप्तान स्टुअर्ट की मृत्यु हुई। मिस्टर मास्टिन बीमार हुए और उनकी भी मृत्यु हुई। घाट चढ़कर आते ही रघुनाथराव के पक्ष के सरदार हमको मिलेंगे, ऐसी आशा अंगरेजों की थी; परन्तु वह निष्फल हुई। यह देखकर कि न तो आगे बढ़ सकते हैं और न तो पीछे हट सकते हैं, अंगरेजी सेना तलेगांव का आश्रय लेकर ठहर गयी। परन्तु उसने देखा कि तलेगाँव में अनाज, घास आदि मिलना कठिन है। यह मौका देखकर मराठी सेना ने ४ मील के अन्दर से उसे घेर लिया। ऐसी अवस्था में आगे बढ़कर पूना जाना तो असम्भव था; परन्तु लूटमार करते हुए पीछे हटने से शायद वहीं मार्ग खुला हो, ऐसा समझ कर ता० ९ जनवरी को अंगरेजी सेना खंडाले की तरफ चली। जब मराठों को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने तोपों की मार शुरू कर दी। एक रात्रि में ३००-४०० अंगरेज मारे गये और पाँच तोपें, १००० बन्दूकें मराठों के हाथ लगीं। अंगरेजी सेना बड़ी कठिनाई से पीछे हटते हुए २-३ मील पीछे जाकर बड़गाँव में घुसी; परन्तु वहाँ भी मराठों की तोपों की मार बराबर होती रही तथा सवार और पैदल दोनों फौजों ने आक्रमण किया।

तारीख १४ को अंगरेजों ने मिस्टर फार्मर नामक अपना वकील मराठा लश्कर में सन्धि की बातचीत करने को भेजा। उन्हें नानाफड़नवीस ने पहली शर्त यह सुनाई कि रघुनाथराव को हमारे अधिकार में करो। संधि तुमने तोड़ी है अर्थात् पहले की संधि अब रद्द हो गयी। इसलिए साष्टी, उरण, जम्बुसर आदि पेशवे और गायकवाड़ के जो जो प्रदेश पहले तुमने लिए हैं उन सब को लौटाना होगा और पहले श्रीमन्त नाना साहब तथा माधवराव पेशवा के साथ की हुई सन्थि के अनुसार देश पाने की आशा छोड़ों और केवल मित्र-भाव से रहने को तैयार होओ। ये शर्तें बहुत कठिन समझकर अङ्गरेजों के वकील ने सिंधिपा से बातचीत शुरू की, परन्तु उसने जरा भी ध्यान न दिया। ये शर्तें स्वीकार करने को अपेक्षा जितनी हानि हो उसे सहकर निर्णय पूरा करने के प्रयत्न का विचार फिर से हुआ, परन्तु अंगरेज अधिकारियों में उसके शक्य या अशक्य होने के विषय में मतभेद हुआ। फिर से सिंधिया से बातचीत शुरू की गई और उनसे अङ्गरेज वकील ने कहा "यदि आज हम निरूपाय होकर यह सन्धि स्वीकार कर लें तो उसके करने का हमें पूर्ण अधिकार न होने से सम्भव है कि उसे कलकत्ते वाले स्वीकार न करें।" सिंधिया ने उत्तर दिया 'जब पुरन्दर की सन्धि तोड़ने का तुम्हें अधिकार था, तब सन्धि करने का भी अधिकार तुम्हें होना ही चाहिये और

यदि रघुनाथराव को हमारे आधीन करने में तुम्हें बहुत कष्ट होता हो, तो तुम स्वयं यह न करो, उसे हम स्वत: कर लेंगे; परन्तु नाना फड़नवीस की दूसरी शर्तें तो तुम्हें माननी ही पड़ेंगी। यदि नहीं मानोगे तो उसका फल बुरा होगा। हम तुम्हें एक पग भी आगे नहीं बढ़ने देंगे।' तब लाचार होकर अङ्गरेजों को नाना फड़नवीस की शर्तें माननी ही पड़ी और सन १७६२ से साष्टी के सहित जो-जो प्रदेश ले रक्खे थे वे सब लौटाने को तैयार हो गए और यह स्वीकार किया कि 'कलकत्ते से जो कर्नल गार्डन सेना के साथ आ रहा है उसे लौटाने को लिख देंगे और रघुनाथराव को तुम्हारे अधीन कर देंगे, फिर सिंधिया उनका चाहे जो प्रबन्ध करे तथा रघुनाथराव से आज तक जो दस्तावेज, सन्धि-पत्र आदि लिये हैं वे सब तुम्हें लौटा देंगे। इस सन्धि के अनुसार काम करने को जमानत के तौर पर कप्तान स्टुअर्ट तथा फार्मर मराठों के पास रहेंगे।' यह सन्धि करा देने में, सहायता करने के उपलक्ष में नाना फड़नवीस ने सिंधिया को भड़ोच और चार लाख रुपये देना स्वीकार किया।

ऊपर के अनुसार सन्धि हो जाने पर रघुनाथराव तीन सौ सवार, दस बारह सौ सिपाही, कुछ तोपें आदि सामान के साथ सिन्धिया के पड़ाव में आये। रघुनाथराव के पड़ाव के चारों ओर; परन्तु दूर-दूर, सिंधिया की चौकियाँ थीं। रघुनाथराव यद्यपि नजर कैद थे, परन्तु उनका सब प्रबन्ध सिंधिया के साथ होने के कारण उनकी देख-रेख, दूर से ही क्यों न हो, किन्तु बड़ी सावधानी से सिन्धिया को करनी पड़ती थी। रघुनाथराव के अन्य साथियों को यह सुभीते नहीं दिये गये थे। चिन्तो विठुल, रायरीकर और खड्गसिंह अन्य कैदियों की तरह रक्खे गये थे। नाना फड़नवीस ने रघुनाथराव से मिलना भी अस्वीकार कर दिया और सिंधिया के द्वारा उनसे यह लिखवा लिया कि "अब हम पेशवा की गद्दी पर किसी प्रकार का हक नहीं जमायेंगे।" औरों के समान सखाराम बापू को इस समय ठीक कर देना उचित था; क्योंकि नाना फड़नवीस के पास उसके विद्रोही होने का लिखित प्रमाण था, परन्तु सिंधिया ने उस समय यह बात दबा दी थी। अंग्रेजों के चले जाने पर रघुनाथराव के सहित सिंधिया की सेना एक माह तक तलेगाँव में और पड़ी रही। अन्त में रघुनाथराव को झाँसी में रखना निश्चित हुआ और उनके खर्च के लिये पाँच-सात लाख रुपये वार्षिक तथा उन पर देख-रेख करने के खर्च के लिए सिंधिया को उतने ही रुपये नाना फड़नवीस ने देना स्वीकार किया। तब सिंधिया ने अपने सरदार हरि बाबाजी की कैद में रघुनाथ-राव को झाँसी में रवाना किया। इतनी व्यवस्था हो जाने के बाद सखाराम बापू को उसी के हाथ का लिखा हुआ विद्रोही-पत्र दिखाया गया और इस अपराध में सिंधिया द्वारा कैद करवा कर उसे सिंहगढ़ में रखा।

मराठों और अंग्रेजों के सम्बन्ध का यह प्रकरण समाप्त करने के पहले यहाँ वह पत्र उद्धृत करना हम उचित समझते हैं, जो पेशवा ने इङ्गलैंड के राजा को लिखा था। इस पत्र में रघुनाथराव के षड़यन्त्र का दोष अंगरेजों पर लगाया गया है। मूल पत्र मराठी भाषा में है और "ऐतिहासिक लेख संग्रह" में प्रकाशित हो चुका है। इस पत्र में नाना फड़नवीस ने मराठों और अंग्रेजों के सम्बन्ध का वर्णन बहुत रोचक ढंग से किया है।

सवाई माधवराव का विलायत के बादशाह को पत्र

"बहुत समय व्यतीत हुआ। आपकी ओर से मैत्री का कोई पत्र न आने के कारण चित्त खेद से विचलित हो रहा है। मित्रता के व्यवहार में यह होना उचित नहीं। सदा पत्र-व्यवहार का होना ही ठीक है। संसार में मित्रता के सिवा उत्तम वस्तु अन्य नहीं है। हम यही चाहते हैं कि पहले की शर्तों के अनुसार चलकर दोनों ओर से मित्रता की वृद्धि दिन पर दिन होती रहे। पहले हमारे राज्य में पोर्तगीज और डच लोग व्यापार करते थे। उस समय बम्बई एक छोटा सा स्थान था और अंगरेज थोड़े से लोगों के साथ विलायत से बम्बई में आते-जाते थे। तब बम्बई के जनरल ने स्वर्गीय बाजीराव पेशवा से मित्रता की सन्धि की। उस समय कहा जाता था कि सब टोपी वालों में अंगरेज बादशाह बहुत अच्छे स्वभाव के, सत्यवादी, वचन के पक्के, न्याय-निष्ठ और कौल-करार के अनुसार चलने वाले हैं। इसी बात पर ध्यान देकर बम्बई वालों से सन्धि की गई और उसके अनुसार पुर्तगालियों तथा डच लोगों का व्यापार बन्दकर अपने राज्य में अंगरेजों को व्यापार करने की आज्ञा दी गई। यह सन्धि स्वर्गीय नाना साहब ने भी स्वीकार की, परन्तु उस समय हमारी सरकार के करारों के अनुसार आंग्रे अंग्रेजों से व्यवहार नहीं करता था, उलटा उनसे शत्रुता और झगड़ा करता था। अतः आँग्रे को यहाँ से लिखा गया, पर उसने सरकारी आज्ञा नहीं मानी। तब सरकार की ओर से रामा जी महादेव को आज्ञा देकर आंग्रे के विजय दुर्ग आदि किलों पर घेरा डलवा दिया गया। इन्हीं दिनों अंगरेजों के सैनिक जहाजों ने सूरत के किले पर अधिकार कर लिया। उस समय अंगरेजों से यह वादा हो गया था कि भीतर के सब सामान सहित किला हमारे हवाले करना होगा, परन्तु अंगरेजों ने उसके भीतर का सामान हमें न देकर खाली किला हमें दिया। करार के अनुसार किले की सामग्री हमको मिलनी चाहिए थी; परन्तु हमने मित्रता के कारण उनसे कुछ नहीं कहा। कुछ समय बाद नाना साहब की मृत्यु हो गयी और माधवराव साहब राज्याधिकारी हुए। उन्होंने भी पहले के करारों को मन्जूर किया और जिस तरह मैत्री पहले से चली आ रही थी उसे चलाया। उस

समय विलायत से आपका पत्र लेकर टामस मास्टिन माधवराव साहब की सेवा में उपस्थित हुए। उस पत्र में लिखा था कि मास्टिन को "श्रीमान् अपनी सेवा में सदा रक्खें। यदि कोई अंगरेज कुव्यवहार करेगा तो मास्टिन साहब उसे सचेत करेंगे, जिसमें दोनों पक्षों की मित्रता में कमी न हो।" अंगरेजों से पहले ही दोस्ती थी। उस पर जब श्रीमान् का पत्र आया, तो बहुत प्रसन्नता हुई और अंगरेजों के वकील को दरबार में रखने का नियम न होने पर भी मास्टिन साहब को केवल आपके पत्र के कारण सम्मान के साथ पूना में रक्खा गया। मास्टिन साहब पाँच-सात वर्षों तक दरबार में रहे। कुछ दिनों बाद माधवराव साहब स्वर्गवासी हुए। इसलिए नारायण राव साहब जो राज्य के उत्तराधिकारी थे, राज्य करने लगे। उनके साथ रघुनाथराव ने भाई-बन्धु होने पर भी विश्वासघात किया। उसका यह काम लोक-रीति के विरुद्ध था और हिन्दू-धर्म के अनुकूल भी नहीं था, तथा मुसलमान और टोपी वालों के धर्म के भी विरुद्ध होगा, यह जान कर राज्य के सरदार, उमराव, कारभारी और कर्मचारियों ने मिलकर रघुनाथराव को अधिकार से भ्रष्ट और पदच्युत कर दिया। उस समय हमारे कारभारी लड़ाई पर गये हुए थे, अतः बम्बई वालों ने मौका पाकर अपनी दृष्टि बदल ली और सब शर्तों को तोड़कर साष्टी द्वीप ले लिया, फिर रघुनाथ-राव को आश्रय दिया। पाँच वर्षों से युद्ध प्रारम्भ है। इन दिनों में फ्रेंच आदि टोपी वालों ने अपना वकील भेज कर हम से मैत्री करने की बहुत उत्कंठा दिखलाते रहे, परन्तु दूर-दृष्टि से हमने यह सोचा कि आप कहेंगे कि हमें पहले सूचना देना उचित था, जिससे हम बम्बई वालों को तुम्हारी शर्तों के अनुसार चलने को बाध्य करते। इसी विचार के अनुसार और पहले के कौल-करारों को ध्यान में रखकर यह पत्र आपको भेजा जाता है। आप पूछेंगे कि बम्बई वालों से कौन सा व्यवहार अनुचित हुआ? उसी के उत्तर में आपको स्पष्ट और पूर्ण-रीति से उनके अनुचित व्यवहार यहाँ लिखे जाते हैं ताकि आप अच्छी तरह से जान जायें और आपको विश्वास हो जाय।

नाना साहब के स्वर्गवास के पश्चात् राज्य के अधिकारी माधवराव और नारायण राव थे। माधवराव साहब की भी मृत्यु हो गयी, जिससे नारायणराव राज्य करने लगे। उस समय हमारे कुटुम्बी रघुनाथराव ने दगा कर राज्य करने के इरादे से नारायणराव का खून किया। यह बात हिन्दू-धर्म के प्रतिकूल थी और राज्य का अधिकार भी हमारा था। अतः कारभारी और सब अमीर-उमरावों ने रघुनाथराव को अधिकार से वंचित कर दिया और कारभारी लोग सेना आदि के साथ रघुनाथ-राव को रोकने के लिये गये। यह अच्छा मौका देखकर मास्टिन साहब ने बम्बई वालों को लिखा और हमारी सरकार के साष्टी आदि चार द्वीप ले लिये। वहां हमारी

सरकार का शासन था और सरकार का तथा प्रजा का जो बहुत अधिक धन वहाँ था, वह सब अंगरेजों ने ले लिया। इस तरह दूर-दृष्टि न रखकर और सब शर्तों को तोड़कर अंगरेजों ने यह झगड़ा खड़ा कर दिया। टामस मास्टिन श्रीमान् का पत्र लेकर दरबार में रहने को आये थे। उसमें लिखा था कि यदि कोई अंगरेज बेअदबी करेगा तो उसे सूचित कर दोस्ती निबाही जायेगी। विजय-दुर्ग में आंग्रे की जो करोड़ों रुपयों की संपत्ति थी उसे हमारे हवाले कर देने का वचन था, सो उसे देना तो दूर रहा उलटे मास्टिन साहब ने यह नया खेल और खेला और स्वयं बेअदबी की। अब आप ही सोचिये, बादशाही हुक्म और कौल-करार कहाँ रहे ?

स्वर्गीय बाजीराव के समय से करीब चार-पाँच बार अंगरेजों से सन्धियाँ हुईं जिनमें अंगरेजों ने करार किया कि सरकार के शत्रुओं को और राज्य के या घर के किसी भी मनुष्य को, न तो हम आश्रय देंगे और न उनकी सहायता करेंगे, किन्तु उन्हें सरकार के अधीन कर देंगे। यह करार रहते हुए भी अंगरेजों ने रघुनाथराव को आश्रय दिया और उसके सहायतार्थ कर्नल कीटन ने अंगरेजों की फौज के साथ गुजरात प्रान्त के करोड़ों रुपये के प्रभृति प्रदेश को नष्ट कर दिया और चालीस-पचास लाख रुपये भी वहाँ से वसूल कर लिये। उनका सामना करने को जो हमारी फौजें गईं थी, उन पर भी करोड़ों रुपयों का खर्च हुआ। हमारे और अंगरेजों के बीच में जो शर्तें हुई थीं, उनको भी उन्होंने तोड़ डाला और साष्टी ले लेने के बाद हमें लिखा कि उसे पुर्तगाली लेने वाले थे, अतः हमने ले लिया। भला, यह कहां का न्याय है ?

कर्नल कीटन ने रघुनाथराव को साथ लेकर गुजरात प्रान्त में धूम मचाना शुरू किया। इसलिए उनका सामना करने को सरकारी फौज और सरदार भेजे गये। एक-दो युद्ध हुए और युद्ध चल ही रहा था कि इतने में ही कलकत्ते के जनरल और कौंसिल ने पत्र लिखा कि "अंगरेजों को किसी का राज्य नहीं चाहिए और अंगरेज बादशाह तथा कम्पनी यह चाहती है कि किसी को सैनिक सहायता देकर झगड़ा न किया जाय। बम्बई वालों ने जो बीच में यह झगड़ा खड़ा किया है उसके लिए कलकत्ते से लिखा गया कि झूठा झगड़ा मत खड़ा करो, सेना को वापस बुला लो। दोनों ओर से मैत्री की वृद्धि के लिए एक प्रतिष्ठित वकील को यहां से भेजा जा रहा है। सरकार भी अपनी फौज और सरदारों को युद्ध न करने के लिए आज्ञा दे।"

कलकत्ता वालों को बादशाह और कम्पनी का मुख्तार समझकर और उनका लिखना उचित, न्यायानुमोदित और मैत्री के अनुकूल होने से सरकार ने अपनी सेना तथा सरदारों को लौट आने की आज्ञा दे दी। उसके अनुसार सरकारी सेना लौट आयी। कर्नल कीटन ने इस समय मैदान साफ देखकर तथा हमारी फौज का डर न

रहने के कारण, कलकत्ता वालों की बातों पर ध्यान न देकर रघुनाथराव के साथ हमारी सरकार के सरदार फतहसिंह गायकवाड़ पर चढ़ाई कर दी और उनसे सम्पत्ति तथा बहुत-सा प्रदेश ले लिया। इतने में ही कलकत्ता के वकील कर्नल जान हाप्टन कलकत्ता से हुजूर के दरबार में आये। उन्होंने कहा—"सम्पूर्ण हिन्दुस्थान और दक्षिण के सभी बन्दरों की देखभाल के लिए कलकत्ते की कौंसिल और अंगरेज मुख्य अधिकारी हैं। उनका मुख्तारनामा लेकर हम आये हैं। अतः हम जो सन्धि करेंगे वह बन्दरों पर रहने वाले सभी अंगरेजों को मान्य होगी।" उस समय सरकार के मन्त्री ने कहा कि "सब झगड़े की जड़ बम्बई वाले हैं। कलकत्ता वालों के सूचना देने पर भी जब कर्नल कीटन ने झगड़ा बढ़ाया, तो तुम्हारी फिर मुख्तारी कहाँ रही? अतः पहले बम्बई वालों की ओर से किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को लाओ, तब सन्धि होगी।" इसका उत्तर उक्त कर्नल ने इस प्रकार दिया कि "अंगरेजों का नियम है कि वे मुख्तार की सब बात मानते हैं। इसलिए बम्बई वालों की क्या मजाल कि वे कलकत्ता वालों के ठहराव के विरुद्ध कुछ करें।" फिर उसने कम्पनी की मुहर लगा मुख्तारनामा दिखलाया। तब सरकार और अंगरेजों की सन्धि हुई और उसके अनुसार उक्त कर्नल ने कलकत्ता की कौंसिल के हस्ताक्षर सहित कम्पनी की मुहर लगा हुआ सन्धि-पत्र सरकार में दाखिल किया और सरकारी इकरारनामा लिया। कर्नल जान हाप्टन ने सन्धि की सूचना बम्बई वालों को दी और बम्बई वालों ने भी अपने शहर में सन्धि होने की डुन्डी पिटवाकर कर्नल जान हाप्टन को लिख दिया कि हमने आपकी की हुई सन्धि को स्वीकार किया है। इस इकरारनामे के अनुसार कर्नल हाप्टन ने और बम्बई वालों ने कर्नल कीटन को लिख दिया कि तुम रघुनाथराव का साथ छोड़ दो; परन्तु कीटन दो महीने तक टाल-मटोल करते रहे और अन्त में सूरत चले गये और रघुनाथराव को अपने पास बुला लिया। सरकारी फौज जब हमारे पास आ गयी तो रघुनाथराव को सूरत से खुश्की के मार्ग से बम्बई भेज दिया। उस समय सरकार के मकानों को रघुनाथराव ने मार्ग में हानि पहुँचायी। अतः फिर सरकारी फौज रघुनाथराव पर भेजी गयी, परन्तु बम्बई वालों ने जहाज भेजकर उनको बम्बई बुला लिया। यह सब स्थिति सरकार ने कलकत्ते को लिखी। तब कलकत्ता वालों ने उत्तर दिया कि "हमने लिख दिया है कि अब वे कम्पनी की ओर से रघुनाथराव को आश्रय न देंगे।" परन्तु बम्बई वालों ने फिर भी कलकत्ता वालों का कहना नहीं माना और रघुनाथराव को अपने आश्रय में रखकर सरकारी राज्य में उत्पात मचाना शुरू किया। नवीन सन्धि का भी जब यह फल हुआ तो फिर सदा के सरलतापूर्ण व्यवहार को पूछता ही कौन है?

कलकत्ता वालों ने लिखा था कि "अंग्रेज किसी का राज्य नहीं चाहते, और

किसी की सहायता करना भी बादशाह तथा कम्पनी को स्वीकार नहीं है। कम्पनी के सर्वेसर्वा हम हैं।" उनके इस लिखने को प्रामाणिक समझ कर तथा अंग्रेज बादशाह न्यायी हैं, अतः उनके कर्मचारी भी न्यायी होंगे, ऐसा जान कर बम्बई वालों ने जो दुर्व्यवहार और अन्याय किया था, उसका न्याय करने का काम कलकत्ते के गवर्नर जनरल और कौंसिल को दिया गया। इस पर उन लोगों ने कुछ नहीं किया। उन्होंने अपने स्वार्थवश, बम्बई वालों के हस्तगत किये हुए साष्टी आदि प्रदेश सरकार के सिपुर्द करने की आज्ञा बम्बई वालों को नहीं दी। ऐसी दशा में मुख्तारी और न्याय प्रियता कहां रही।

कोंकण प्रान्त में समुद्र के किनारे पर कुछ विद्रोहियों ने विद्रोह शुरू किया उन्हें दबाने के लिये सरकारी फौज भेजी गयी। तब विद्रोही लोग कुछ धन लेकर साष्टी की ओर भाग गये। वहाँ उन्हें आपके आदमियों ने आश्रय दिया। कोंकण की लाखों रुपयों की संपत्ति विद्रोहियों के पास ही रह गयी। विद्रोही लोग जब जहाज पर बैठकर बंबई जाने लगे तो राघो जी आंग्रे ने उन्हें कैद कर लिया। इस पर बम्बई के अंग्रेजों ने आंग्रे को लिखा कि "तुमने बम्बई आते हुए विद्रोहियो को क्यों कैद कर लिया? उन्हें हमारे पास भेज दो, नहीं तो हम तुम पर चढ़ाई करेंगे।" भला, सन्धि हो जाने के बाद ऐसी चाल चलना और विद्रोहियों को शरण देना किस राज-नियम के अनुसार है?

फ्रान्स के बादशाह ने स्वयं अपने वकील को हमारे दरबार में भेजा था। परन्तु हमने उन्हें अपने यहाँ अंग्रेजों की मैत्री का ख्याल रखकर नहीं रक्खा। यद्यपि हम रख सकते थे; क्योंकि कर्नल हाप्टन द्वारा जो अंग्रेजों से सन्धि हुई थी, उसमें यह शर्त कहीं नहीं है।" इस पर आप ध्यान दें।

फतेहसिंह गायकवाड़ सरकारके सरदार हैं। इनसे चिरवली आदि ताल्लुके अंग्रेजों ने ले लिया हैं। इस सम्बन्ध में कर्नल जान हाप्तन से बातचीत की, तो उन्होंने कहा कि—"यदि फतेहसिंह गायकवाड़ पत्र द्वारा हमें यह लिखें कि ताल्लुका आदि देने का अधिकार रावपन्त प्रधान को है हमको नहीं, तो हम लिए हुए स्थान आपको लौटा देंगे।" गायकवाड़ का पत्र भी मँगा दिया है, तो भी हमें ताल्लुके नहीं सौंपे गये। क्या यह कार्य उचित है?

सरकार ने सन्धि के अनुसार सब शर्तों का पालन किया है, परन्तु बम्बई वालों की ओर से एक भी शर्त पूरी नहीं की गयी, प्रत्युत अंग्रेजी सेना के साथ रघुनाथराव को लेकर बम्बई वाले कोंकण प्रान्त के सरकारी जिलों में आये और वहाँ से कम्पनी के मुहर किये हुए पत्र रघुनाथराव की ओर से सरकारी सरदार और मन्त्रियों को

भेजे, जिसमें लिखा था कि—"रघुनाथराव को गद्दी पर बैठाने की सलाह कौंसिल की, कलकत्ते के गवर्नर की और हमारी सेक्लेट कमेटी की है।" यह पत्र सरकार में ज्यों के त्यों मौजूद हैं। आप इसकी जाँच करें कि ऐसा लिखने का क्या कारण था और इन्हें क्या अधिकार था ?

सम्पूर्ण शर्तों को ताक पर रखकार रघुनाथराव को साथ में ले फौज के साथ कारनेक आदि अंग्रेज गाड़ियों पर चढ़कर पूना के पास तलेगाँव तक आये। सरकारी सरदार और कर्मचारी अपनी फौज के साथ सामना करने को तैयार हुए। जहाँ न्याय है, वहाँ जय है। यहाँ भी यही सर्वमान्य सिद्धान्त सत्य ठहरा। अंग्रेजों ने ये समाचार आपको लिखे ही होंगे। उस समय कारनेक आदि अंग्रेजों ने फिर सन्धि की और कम्पनी सरकार की ओर से युद्ध तथा सन्धि करने के अधिकार को अपने नाम का मुख्तारनामा बतलाया और कहा कि "कम्पनी की मुहर हमारे पास मौजूद है, हम जो करेंगे वह सब को मान्य होगा।" इस सन्धि के अनुसार साष्टी, जम्बुसर, गायकवाड़ के परगने और भड़ोंच लौटाने की प्रतिज्ञा अंग्रेजों ने की और रघुनाथराव का प्रदेश भी लौटाना स्वीकार किया। कर्नल हाप्तन की मार्फत जो सन्धि हुई थी, वह भी बम्बई वालों की ओर से अमल में नहीं आई, इसलिये वह सन्धि भी रद्द हो गयी। फिर एक नया इकरारनामा लिखा गया जिस पर मुहर लगायी गयी। इसके अनुसार यह ठहराव हुआ कि—"पहले की सन्धि के अनुसार दोनों पक्ष काम करें और साष्टी, प्रभृति द्वीप, जम्बूसर आदि परगने और भड़ोंच का शासन हमारे अधीन कर दिया जाय।" इस शर्त के पूरे होने तक चार्ल्स स्टुअर्ट और फारमर नामक अंग्रेजों को बतौर जमानत के पूना दरबार में रक्खा और कारनेक आदि अंग्रेजों को मार्ग में रक्षा के लिए सेना साथ देकर बम्बई पहुँचाया। रधुनाथराव अंग्रेजों के यहाँ से निकल कर हमारे यहाँ आये। इतना होने पर भी अंग्रेजों ने शर्तों के साथ काम नहीं किया, अलग कलकत्ते के अंग्रेजों से सैनिकों सहायता माँगी। कलकत्ते वालों ने भी बम्बई के लिखने पर लेस्लीन नामक सरदार को सेना के साथ बम्बई भेजा। पहले से यह नियम चला आता है कि अँग्रेज लोग समुद्री-मार्ग से आवागमन करते हैं, स्थल-मार्ग से नहीं। अत: कलकत्ते वालों का सरकार की ओर से लिखा गया कि खुस्की के रास्ते से सेना भेजने का कारण क्या है ? उन्होंने उत्तर दिया कि "बंबई वालों ने सेना मँगाई है, इसलिये वहाँ के बन्दरों पर प्रबन्ध करने को भेजी गयी है।" कर्नल लेस्लीन की मृत्यु रास्ते ही में हो गयी, अत: कर्नल गाडर मुख्यतार और सरदार होकर सेना सहित सूरत आये और वहाँ से सरकार को लिखा कि "किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को सन्धि करने के लिये भेज दीजिये। हम प्रतीक्षा कर रहें हैं अथवा स्थान नियत कीजिये तो हम स्वयं मैत्री करने को आ जावें।" यह लिखना विश्वास योग्य समझ कर सरकार

की ओर से प्रतिष्ठित पुरुष सूरत को रवाना किये गये। इतने में रघुनाथराव ने सरकारी सरदारों की फौज में उपद्रव खड़ा कर दिया और आप सूरत चला गया। कर्नल गार्डर ने भी अपनी निगाहें बदली। वे सवाल कुछ और जवाब कुछ देने लगे। हमारे वाकील को लौटा दिया। फिर कलकत्ते वालों का पत्र आया कि स्नेह (इसके आगे के शब्दों को नकल करने वालों ने छोड़ दिया है, ऐसा मालूम होता है)।

कर्नल गार्डर सेना के सहित सूरत से रवाना होकर गुजरात के सरकारी जिलों में उपद्रव कर रहे हैं। मार्ग में और भी दूसरे स्थानों को हानि पहुँचायी है। इसलिये उनका सामना करने के लिये सरकारी फौज और सरदार भेजे गये हैं, युद्ध जारी है। बम्बई वालों ने भी कोंकण प्रान्त में झगड़ा खड़ा कर दिया है। उनका बन्दोबस्त करने के लिये भी सरकारी सेना भेजी गयी है। इस समय दोहरी लड़ाई हो रही है। सरकार की ओर से पहले कोई बात शर्तों के विरुद्ध नहीं की गयी। बम्बई और कलकत्ता वालों से हमने सन्धि के अनुसार ही व्यवहार किया, परन्तु वे लिखते कुछ हैं और करते कुछ हैं। बम्बई वाले कहते हैं कि हमें कलकत्ता वालों की बातें स्वीकार नहीं हैं। कलकत्ता वाले कहते है कि बम्बई वालों ने सन्धि करने में भूल की है, हम उसे मंजूर नहीं कर सकते। दोनों एक-दूसरे पर डालते हैं। एक दूसरे से सहमत तो नहीं दीखते हैं, परन्तु दोनों के काम करने की पद्धति भीतर से एक है। अब हमें क्या समझना चाहिये। राज्य में सबसे बड़ी बात वचन पर दृढ रहना है। यदि इसमें भिन्न-भिन्न झगड़े खड़े हों और ठहरी हुई शर्तो का पालन किया जाय तो फिर लाचारी है। आपके ध्यान में सब बातें आ जाँय, इसलिये सब बातें साफ साफ लिखी गई हैं। आप जैसा उचित समझें वैसा प्रबन्ध करें।

"जब कलकत्ता वालों ने सेना भेजी थी, तब उन्होंने हमको लिखा था कि फ्रांसीसी गड़बड़ मचा रहे हैं उनके प्रबन्ध के लिये सेना भेजी जाती है, अत; सेना जाने दी जाय।" तब यहाँ से लिखा गया कि "—सरकारी खुश्की रास्ते से आने की हमारी आप की शर्त नहीं है।" उन्होंने लिखा कि—"अब हम सेना को लौटा नहीं सकते।" बम्बई वाले अपने को मुखतार बताते थे और जब कारनेक ने सन्धि की तब गार्डर को लिख दिया था कि तुम लौट जाओं तथा सरकारी तौर पर भी यहाँ से लिखा गया था, परन्तु उन्होंने नहीं माना और लिखा कि—"हम बम्बई वालों के अधीन नहीं हैं। उन पर सेना भेजने का विचार था, परन्तु स्नेह पर ध्यान देकर स्थगित कर दिया गया। कर्नल गार्डर सेना सहित सूरत चले गये। इन उदाहरणों पर से बन्दरों में रहने वाले अँग्रेजों की चालें आपके ध्यान में आ जायंगी। बंगाल प्रान्त नौ करोड़ रुपयों की आमदनी का है और वह कलकत्ते वालों के अधीन है। वहाँ

सहकारी फौज भेज कर लूट मार आदि करने से पैसे की आमदनी उन्हें नहीं होगी और यह कहना कोई कठिन भी नहीं है, पर अभी तक शर्तों पर ध्यान रख कर यह विचार हमने नहीं किया और भोंससे आदि की सेना को बंगाल पर आक्रमण करने से मना करते रहे हैं। अँग्रेजों ने जितनी बेअदबी की उसका बदला सरकार से दिया गया। बन्दर वालों ने आप को जो कुछ भी लिखा हो, परन्तु उनकी चालें बहुत सूक्ष्म रीत से आप ध्यान में लावें। भारतवर्ष में सुविज्ञ, सत्य भाषी, परषिक्षा करने वाले, न्याय निष्ठ दृढ़ निश्चय होने के सम्बन्ध में चारों ओर आप की ख्याति है, इसलिये दूरदर्शी होकर आप बम्बई और कलकत्ते वालों को स्वर्गीय रावपन्त प्रधान से जो करार हुई हैं उनके अनुसार चलने के लिए तथा अशिष्ट और छली व्यवहार न करने के लिये बाध्य करें। यदि वे लोग आपके आज्ञाकारी नहीं हैं और नोकरी के विरुद्ध आचरण करने का उनका विचार हो, तो फिर आप का बश ही क्या है? परन्तु ऐसा होने पर आप हमें तुरन्त उत्तर देवें, जिसमें दूसरा प्रबन्ध किया जावे। राज्य देना ईश्वराधीन हैं और यह बात सब धर्मों में प्रसिद्ध है कि जहाँ न्याय और नियमियता है, वहीं ईश्वर है। इसके बाद जो घटना होगी वह सामने आयेगी। हम उत्तर की प्रतीक्षा में रहेगें। यह पत्र विलायत के अँग्रेज बादशाह को सरकार के नाम से दिया जाता है। अँग्रेजों ने जगह-जगह विश्वास और वचन देकर और उन्हें फिर भंग कर कितनों ही के राज्य ले लिये हैं। नौ दस करोड़ आमदनी का देश अधीन कर लिया गया है, इस लिये न्याय अन्याय की खूब छान बीन करें।"

———

चौथा अध्याय

बाद की घटनायें

बड़गाँव की अपमान जनक सन्धि को बम्बई कम्पनी वालों ने स्वीकार नहीं किया और कलकत्ता की कम्पनी वालों का भी यही हाल हुआ, अतः उन्होंने तुरन्त ही कर्नल गोडर्ड को पूना पर आक्रमण करने का आदेश दिया और कह दिया कि यदि पुरन्दर की सन्धि को फिर से दोहराने की तथा फ्रेंचों को किसी भी प्रकार से सहायता न देने की शर्त स्वीकार करें तो नवीन सन्धि करने और यदि यह न हो सके, तो युद्ध करने का पूर्ण अधिकार तुम्हें दिया जाता है। परन्तु अधिकारी वर्ग भी बड़गाँव की सन्धि रद्द करने के लिए तैयार नहीं थे, अतः कर्नेल गोडार्ड बुन्देलखण्ड होकर पहले सूरत आया। वहाँ से डमोई आकर उसने गायकवाड़ से गुजरात का बटवारा करने की सन्धि की, फिर अहमदाबाद पर चढ़ाई करने को गयाकवाड से की गई नवीन सन्धि के के अनुसार अहमदाबाद पेशवा से छीन कर फतेसिंह राव गायकबाड़ को देना था, अतः अहमदाबाद पर घेरा डालकर और धावा करके गोडार्ड ने उसे छीन लिया। इतने ही में उसे समाचार मिला कि सिन्धिया और होलकर चालीस हजार सेना के साथ मुझ पर चढ़े चले आते हैं तब वह बड़ोदा पर आक्रमण करने को निकला। गोडार्ड को आते देख सिन्धिया ने बड़गाँव की सन्धि के अनुसार जो दो अङ्गरेज जामिन बना कर रक्खे थे उन्हें छोड़ दिया और अपना वकील साथ में देकर गोडार्ड के पास भेज दिया और यह बात-चीत शुरू की कि "रघुनाथराव, ठहराव के अनुसार गद्दी का सब हक छोड़ देवें और उनके लड़के बाजीराव को पेशवा का दीवान नियत कर सब कारभार हमारी देखरेख में चलना स्वीकार करें तो बड़गाव की सन्धि का संशोधन करने का विचार हम कर सकते हैं।" परन्तु, गोडार्ड ने यह स्वीकार नहीं किया, अतः दोनों ओर से युद्ध करने का विचार निश्चित हुआ। उस समय बबंई कम्पनी की सम्मति थी कि कर्नल गोडार्ड सिन्धया और होलकर पर चढ़ाई न करके पहले बसई का प्रबन्ध पक्का कर लें तो अच्छा हो; परन्तु कर्नल गोडार्ड ने उनकी सम्मति पर ध्यान न दिया तथा कर्नल हार्टले को बम्बई की सेना के साथ बसई भेजा और वर्षा ऋतु आ जाने के कारण अधिक हलचल होने की सम्भावना न देख सिन्धया और होलकर भी अपने-अपने स्थान को लौट गये। इसी समय समाचार आया कि हैदरअली ने साठ हजार सेना के साथ

कर्नाटक पर चढ़ाई कर दी है, इसलिये कर्नल गोडार्ड को कलकत्ता से आज्ञा मिली कि पूना की तरफ का काम बहुत शीघ्रता से पूर्ण करो। दिसम्बर में गोडार्ड ने बसई ले लिया और उसी सिल-सिले में पूना पर चढ़ाई करने के लिये सन् १७८१ के फ़रवरी मास में वह वोरघाट आ पहुँचा। यहाँ उसे मालूम हुआ कि आगे बढ़ने में बड़ा खतरा है। इधर बम्बई कम्पनी के लोगों ने कल्याण को वापस लौट आने और वर्षा ऋतु में बम्बई में सेना की छावनी रखने का आग्रह किया, इसलिये उसने अपना मोर्चा फिराया और कल्याण का रास्ता पकड़ा, परन्तु रास्ते में मराठों की फौज ने छापे मार-मार कर उसे जर्जर कर दिया। इस काम में हरिपन्थ परशुराम माऊ मुखिया थे। इस तरह से पूना पर का यह संकट टल गया। जिस समय गोडार्ड पूना की ओर बढ़ा चला आ रहा था, उस समय यह देख कर कि मराठों की बड़ी भारी सेना होते हुए भी वह घाटियों तक आ पहुँचा है, पूना वासी बड़े घबड़ाये और भाग खड़े हुये, परन्तु अन्त में ऊपर लिखें अनुसार गोडार्ड को ही लौट जाना पड़, तारीख १६-२६ और २६ मार्च तथा फिर तारीख २० और २३ अप्रैल को दोनों ओर से भयंकर मार-काट हुई जिसमें अँग्रेजों की भारी हानि हुई और बम्बई से रसद आने का रास्ता भी भय पूर्ण हो गया, परन्तु इतने कष्ट सह कर अन्त में गोडार्ड पनवेल पहुँच ही गया।

इसी समय उत्तरी हिन्दुस्तान में अँग्रेजों और सिन्धिया के बीच युद्ध छिड गया था। मार्च महीने में सिन्धिया तथा कमेक और कर्नल मूर की सेना में मार काट हुई। यद्यपि इस युद्ध में अँग्रेजों को थोड़ी बहुत सफलता मिली तथापि अभी तक सिन्धिया उन की छाती पर छावनी डाले पड़ा ही रहा। इधर हैंदर अली के सर उठाने के कारण अँग्रेज और मराठों का युद्ध धीरे-धीरे सिथिल पड़ने लगा। हिन्दुस्तान भर के अँग्रेजों से युद्ध करने के लिये निजामअली, हैदरअली तथा भोंसले आदि अराठों ने निश्चय किया था, परन्तु निजाम अली ने कुछ नहीं किया। भोंसले ने कुछ नहीं किया मोसले ने बंगाल पर चढ़ाई करने का बहाना करके अन्त में अपनी अलग सन्धि कर ली। रह गये हैदर अली और मराठे—ये दोनों लड़ रहे थे और इन दोनों में से भी मराठों का झगड़ा बहुत कुछ मिटने पर आया था क्योंकि पहले के युद्ध में अँग्रेंजों ने मराठों से हार, रघुनाथराव का पक्ष छोड़ कर सन्धि कर ली थी, परन्तु उत्तर हिन्दु-स्तान को जाते समय रघुनाथराव ने सिन्धिया के सरदार हरि बाबा जी को मार कर उसका पड़ाव लूट लिया और फिर सूरत जाकर वह कर्नल गोडार्ड से मिल गया। अँग्रेजों ने भी उसे पाँच हजार रुपये मासिक देना ठहरा कर अपने आश्रय में रख लिया। इसलिये कर्नल गोडार्ड ने पूना के अधिकारियों द्वारा की हुई सन्धि की उपेक्षा की और कहने लगे कि पहले शाष्टी प्रान्त और रघुनाथपाव को हमारे अधीन करो तब हम सन्धि लेगें। इस प्रकार उत्तर मिलने पर फिर युद्ध आरम्भ हुआ और ऊपर लिखे

अनुसार किसी को भी उसमें जय नहीं मिली, किन्तु असन्तोष रूपी बृक्ष बढ़ता ही गया और उसमें शखाये फूटने लगीं। इसी समय अकेले हैदर अली ने सिर उठाकर अँग्रेजों को पराजित किया और अर्काट प्रान्त ले लिया फिर पूना के अधिकारियों को यह सन्देशा भेजा कि—'अब मद्रास के अँग्रेजों का भय न रहने के कारण मैं बड़ी भारी सेना के साथ बम्बई के अँग्रेजों से युद्ध करने के लिये तुम्हें सहायता देने को आने वाला हूँ।"

यह सब स्थिति ध्यान में रख कर मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के अंग्रेजों ने विचार किया कि इस समय हैदर अली को वलवान होने देना उचित नहीं है और इसके लिये मराठों से जो युद्ध चल रहा है, उसे बन्द करना पड़े और रघुनाथराव का पक्ष छोड़ना पड़े तो भी कुछ हानि नहीं। इसलिये इन दोनों ने फिर जोर शोर से अधिकारियों से सन्धि करने की बात-चीत चलाई। नागपूर के भोंसले भी अंग्रेजों से सन्धि कर ही चुके थे, अतएव इस सन्धि के लिये मध्यस्थता करने लगे; परन्तु अंग्रेज लोगों को आज तक के अनुभव से यह वात अच्छी तरह से विदित हो गई थी कि दूसरे पक्ष के अधिकारियों से बातचीत करने के लिये महाद जी सिन्धिया के समान प्रभाव शाली और वजनदार मनुष्य दूसरा नही है, अत: उन्होंने अन्य प्रयत्नों को छोड़ कर सिन्धिया से श्रद्धा पूर्वक वातचीत करना शुरू किया और इसलिये उसके प्रान्तों में तथा मालवा प्रान्त में उन्होंने जो धूमधाम मचा रक्खी थी, उसे बन्द करना ठीक समझा। अंग्रेजों ने कर्नल मूर को आज्ञा दी की तुम युद्ध बन्द करो जिससे कि सिन्धिया को सन्धि करने का अवसर मिले, अत: वे यमुना उतर कर चले गये। सन् १७८१ के दिसम्बर मास में अंग्रेजों की ओर से मिस्टर डेविड एन्डरसन और महाद जी सिन्धिया के द्वारा सन्धि का प्रयत्न आरम्भ हुआ और अन्त में तारीख १७ मई सन् १७८२ को सालवाई गाँव में अंग्रेज और पेशवा के बीच सन्धि हो गई। उसमें यह निश्चय हुआ कि पुरन्दर की सन्धि के पश्चात अंग्रेजों ने मराठों से जो स्थान लिये हों उन्हे वापस दिये जाँय और हैदरअली ने अंगरेजों के पास से जो स्थान लिये हों वे अंगरेजों को लौटा दिये जाँय। मराठों के राज्य में अंगरेजों और पोर्तुगीजों के सिवा दूसरे यूरोपियन देशों के मनुष्य न रहने पावें। सिन्धिया को सन्धि कराने में तथा सन्धि की शर्तें पालन करने के बदले की तौर पर भड़ोच का इलाका दिया जाय और अंगरेज रघुनाथराव का पक्ष सदा के लिए छोड़ दे तथा रघुनाथरव पचीस हजार रूपये मासिक लेकर गोदावरी के किनारे जहाँ उनकी इच्छा हो, वहाँ रहें। इस सन्धि पर तारीख २४ फरवरी सन् १७६३ तक पेशवा के हस्ताक्षर नहीं हुए थे, परन्तु तारीख ७ दिसम्बर सन् १७८२ के दिन हैदरअली के मरने का समाचार आने के कारण मालूम होता है कि इससे अधिक समय लगाना उन्होंने उचित नहीं समझा

होगा। तारीख १० फरवरी सन् १७८३ के दिन पूना में सवाई माधवराव का विवाह बहुत धूमधाम से हुआ। इस अवसरपर श्रीमन्त महाराज छत्रपति आदि महाराष्ट्र प्रान्त के मुख मुख्य व्यक्ति उपस्थित हुए थे। सालबाई की सन्धिहो जाने के कारण इस आनन्दोत्सव में बहुत विशेषता उत्पन्न हो गई थी।

सालवाई की संधि हो जाने पर भी रघुनाथराव अधिकारियों के अधीन रहना स्वीकार नहीं करते थे परन्तु संधि हो जाने के कारण उन्हे अपने राज्य में रहने देना अथवा उन्हें मासिक वृत्ति देते रहना शक्य नही था, अपने राजनैतिक कार्यों के लिये अतिशय उपयोगी और स्नेही रघुनाथराव से अंगरेजों को स्पष्ट कह देना पड़ा कि अब तुम सूरत छोड़कर अन्यत्र चले जाओ। यद्यपि सिन्धिया ने रघुनाथराव को लिखा था कि यदि तुम पूना दरबार के राज्य में नहीं रहना चाहते हो तो मेरे राज्य में रहो। मैं तुम्हें आश्रय देने को तैयार हूँ परन्तु रघुनाथराव ने यह नहीं माना और गोदावरी के तट पर स्नान सन्ध्या में समय व्यतीत करते हुए रहना स्वीकार किया। बाद में वे परशुराम भाऊ, हरिपन्त फड़के तथा तुकोजी होलकर से अलग अलग लिखित आश्वासन और शयथ लेकर तात्पी नदी के किनारे होते हुए खान देश आए और कोपरगाँव में रहने लगे। परन्तु इतनी चिन्ता और अपमानपूर्ण वृत्ति का उपयोग करने के लिए वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। कोपरगाँव में रहने के बाद नवम्बर में उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और तारीख ११ दिसम्बर सन् १७८३ के दिन उनकी मृत्यु हो गई। इस समय उनके अमृत राव नामक दत्तक पुत्र तथा बाजीराव नामक और सुपुत्र जिसका जन्म धार में सन् १७७५ में हुआ था मौजूद थे और तीसरा पुत्र चिभाजी आधा गर्भ में था।

उनकी मृत्यु के बाद दो वर्ष शान्ति से व्यतीत हुए, क्योंकि इन वर्षों में अंगरेजों को अवकाश न होने के कारण इनमें और अंगरेजों में कोई झगड़ा नहीं हुआ। अंगरेजों को अवकाश न मिलने का कारण यह था कि हैदरअली का देहान्त हो गया था और उसके पुत्र टीपू ने अपने पिता का अनुकरण कर अंगरेजों से युद्ध चालू रक्खा था। पहले तो अंगरेजों ने उसके बहुत से स्थान ले लिये थे, परन्तु तुरन्त ही उसने एक लाख सेना तथा तोपखाने के साथ उन पर चढ़ाई की और जनवरी सन् १७८४ तक समुद्र के किनारे तक के प्रदेश जो अंगरेजों ने जीत लिया था अपने अधीन कर लिया।

सालबाई की सन्धि के तीन वर्षों बाद अंगरेजों का विचार पेशवा के दरबार में सदा के लिए अपना वकील रखने का हुआ, अंगरेजों को यह विश्वास था कि यह काम सिवा सिन्धिया के दूसरे से होना कठिन है, अतः उन्होंने पहले इस विषय में सिन्धिया से ही बातचीत करना उचित समझा और इसके लिए पेशवा दरबार के भावी वकील

मिस्टर चार्ल्स मेलेट ता० १५ मार्च सन् १७८५ को सूरत से रवाना होकर उज्जैन और ग्वालियर होते हुए आगरा गये और वहाँ से मथुरा जाकर सिन्धिया से मिले। उस समय यहाँ पर मुगल बादशाह शाहआलम भी ठहरे हुए थे। मेलेट ने उनसे भी भेंट की; परन्तु पोशाक और नजराना देने के सिवा मुगल बादशाह से मेलेट का कोई काम नहीं था, क्योंकि इस समय मुगल बादशाह की सब सत्ता सिन्धिया के हाथों में आ गई थी। मेलेट साहब की और सिन्धिया की इस मुलाकात से पूना में अंगरेजों का वकील रखने का काम पूरा नही हुआ, क्योंकि सिन्धिया इसके विरुद्ध थे। सिन्धिया के दरबार में कलकत्ता वालों का वकील रहता ही था, अतः सिन्धिया नहीं चाहते थे कि अंगरेजों का वकील पूना में रहे और अंग्रेजों से जो व्यवहार चल रहा है वह दुमुँही हो जाय। परन्तु बम्बई के अंगरेजों को पूना में वकील रखना इष्ट था, क्योंकि इनका काम पूना में था और जिसके द्वारा काम हो, वह रहे पूना से सैकड़ों मील की दूर पर, यह वे कब पसन्द कर सकते थे? सम्भव है कि पेशवा को भी यह बात प्रिय न रही हो कि अंग्रेजों का वकील पूना में न रहकर सिन्धिया के दरबार में रहे। इधर सिन्धिया ने दिल्ली के बादशाह से इसी समय पेशवा के नाम पर वकील उल्मुतल की सनद लें ली थी, अतः इस काम में और भी अधिक उलझनें पैदा हो गई थी। क्योंकि सिन्धिया पूना दरबार में अंगरेज वकील रखने के विरोधी थे और उन्होंने बादशाह से जो सनद प्राप्त की थी, उसके कारण बंगाल में जो बादशाही प्रदेश अंग्रेजों के अधीन था उसकी चौथाई वसूल करने का अपना हक सिन्धिया बतलाने लगे थे, अतः अंगरेजों के महत्व का काम पेशवा की अपेक्षा सिन्धिया से हीं अधिक था और उनके दरबार में कलकत्ते वालों का वकील रहता ही था, अतः इन कारणों से कलकत्ता वाले पूना में वकील रखने की बम्बई वालों की सूचना को व्यवहार में लाने के लिए तैयार न थे। मेलेट से मिल कर महादजी ने इधर उधर बात चीत करके उससे कहा कि "इस सम्बन्ध में मुझे पूना के अधिकारियों से विचर करने की आवश्यकता है, क्योंकि मुझे यह मालूम नही है कि अंग्रेजों के वकील रखने की योजना उन्हे पसन्द है या नहीं।" इतना कह कर सिन्धिया ने उन्हे रवाना किया। मेलेट साहब आगरा होकर कानपुर गये। कई महीने बाद सिन्धिया की स्वीकृति मिलने पर गवर्नर जनरल की ओर से मेलेट साहब को अंग्रेज वकील का अधिकार पत्र दिया गया।

सालबाई की सन्धि के बाद कुछ वर्षों तक मराठों और अंगरेजों में खूब हेल-मेल रहा। सन् १७८३ ई० में पेशवा ने टीपू पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई में उन्हे निजाम भोंसलें वगैरह की सहायता थी। अंगरेजों को भी इस चढ़ाई में शामिल होने के लिए नानाफड़नीस ने बहुत प्रयत्न किये थे। परन्तु अंगरेजों ने कहा कि टीपू से हमारी सन्धि

हाल में हुई है; अत: उसे तोड़कर अपनी अप्रतिष्ठा करवाने को हम तैयार नहीं हैं। अंग्रेजों ने उस समय केवल अपनी पाँच पलटने निजाम और पेशवा की सीमा पर उनके मुल्क के रक्षार्थ भेजना स्वीकार किया पर पेशवा ने यह सहायता लेना स्वीकार नहीं किया और टीपू को यह प्रगट करने के लिए कि अंगरेजों की तथा हमारी मैत्री है; अतः अंगरेजों से सहायता की आशा करना व्यर्थ है, नाना फड़नवीस पूना दरबार के अंगरेज वकील सर चार्लस मेलेट को अपनी छावनी में जो कि बदामी में थी लाये और अपनी सेना के साथ उन्हें भी रक्खा। ता० २० मई को मराठी फौज ने बदामी किले पर धावा किया और टीपू के सरदार के हाथ से छीन लिया। निजाम बदामी लेने के पहले ही लौट गये थे और फिर नाना फड़नवीस परशुराम भाऊ तथा भोंसले भी लौट गये। केवल हरिपन्त फड़के ने ७५ हजार सेना सहित युद्ध का काम चालू रक्खा। होलकर आदि सरदार ४० हजार सेना के साथ सावनूर हुबली की ओर थे। इस लड़ाई में बहादुर टीपू ने मराटों के समक्ष अपना युद्ध कौशल बहुत दिखलाया। उसने अनेक छापे मार कर मराठों को हानि पहुँचाई। उसके एक छापे में तो होलकर की सेना के साथ जो डिण्डारी लोग थे उन्होंने यह समझ कर कि लूटने का यह बहुत बढ़िया अवसर है, स्वयम् अपनी ही फौज को—मराठी फौज को—लूटा इसके सिवा सन्धि करने का होलकर को विश्वास दिलाकर उसने कई बार फँसाया, अनेक स्थान ले लिये और अंत में १७८७ के अप्रैल मास में दोनों ओर से सन्धि होकर यह ठहरा कि टीपू मराठों को ४८ लाख रुपये, कुछ राज्य और किले देवे। इस युद्ध में मराठों का सवा करोड़ रुपया खर्च हुआ था। इस दृष्टि से मराठों को हानि ही उठानी पड़ी। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि टीपू का पलला जबरदस्त होने पर भी उसने सन्धि क्यों की? इसका उत्तर यही है कि उसे ये पक्के समाचार मिले थे कि मुझपर चढ़ाई करने के लिये अंग्रेज तैयारी कर रहे हैं।

इस समय के दो ही वर्ष बाद मराठे और निजाम ने मिलकर टीपू पर फिर चढ़ाई की। इस समय उन्हें अंग्रेजों की प्रत्यक्ष सहायता थी। इसलिये, यह भी कहा जा सकता है कि यह युद्ध कराने में मुखिया भी वे ही थे, अंग्रेज वकील का यह आग्रह था कि स्वयम पेशवा युद्ध क्षेत्र में जावे, परन्तु अन्त में, परशुराम भाऊ को ही भेजना निश्चित हुआ और निजाम बराबर बराबर समानता से बाँट लेंगे। इस त्रिपुटी में से मराठों को फोड़ने का प्रयत्न टीपू ने किया था; परन्तु वह सिद्ध न हो सका। नाना-फड़नवीस ने मीठे बोल बोल कर टीपू से गत सन्धि के अनुसार जितनी मिल सकी उतनी रकम वसूल की। सन १७९० के मई-जून माह में बम्बई से अंग्रेजों की फौज जयगढ़ की खाड़ी में से होकर संगमेश्वर पर से अम्बा घाटी के ऊपर चढ़कर तासगाँव आई। कप्तान लिटिल उस समय अढ़ाई हजार सेना का प्रथम अधिकारी था। इसके

साथ परशुराम भाऊ अगस्त मास में चढ़ाई करने को निकले। घटप्रभा नदी उतर जाने पर पहले ही धारवाड़ पर घेरा डाला गया, अन्यत्र भी सरदार भेजे गये। धारवाड़ के युद्ध में अंग्रेजों ने खूब वीरता प्रगट की और तोपों की मार अच्छी तरह करके मराठों से धन्यवाद प्राप्त किया। किले में लड़ने वाले, टीपू के सरदार, बद्रीजमाल ने बड़े वीरता का काम किया; पर परिणाम कुछ नहीं निकला। तारीख ५ अप्रैल सन १७९१ के दिन सात मास तक युद्ध करने के पश्चात् उसे किला छोड़ना पड़ा। धारवाड़ ले लेने के पश्चात् मराठा और अंग्रेज श्रीरंगपट्टन की ओर रवाना हुए। मई मास में हरिपन्त फड़के सेना के साथ आ रहे थे, उनकी ओर भाऊ की सेना मिल गई। लार्ड-कार्नवालिस निजाम की सेना के साथ तीसरी ही ओर से आ रहे थे। इस प्रकार सबों ने मिल कर चारों ओर से टीपू को घेर लिया और उसे हानि पहुँचाई। अन्त में टीपू को सन्धि करके श्रीरंगपटम का घेरा उठाना पड़ा। टीपू ने ३० करोड़ रुपये और आधा राज्य देना स्वीकार किया। इसके अनुसार प्रत्येक के हिस्से में चालीस २ लाख रुपयों की आमदनी का प्रदेश आया। मराठों ने वर्धा तथा कृष्णा नदियों के बीच का प्रान्त तथा सोंडूर आदि स्थान और गुती, कड़ापा, कोपल, आदि कृष्णा तथा तुंगभद्रा के बीच का प्रान्त निजाम को दिया गया। अंग्रेज और मराठों की यह चढ़ाई सहकारिता-पूर्वक हुई थी। इससे भी थोड़ा बहुत मन-मुटाव हुआ, परन्तु अन्त में किसी तरफ बिगाड़ न होकर दोनों ने काम पूरा किया। लार्ड कार्नवालिस ने परशुराम भाऊ को जाते समय १७ तोपें नजर किया। परशुराम भाऊ की सेना को आते समय मार्ग में बहुत कष्ट उठाने पडे और अंग्रेजों की सेना जहाजों पर बैठकर बम्बई को चली गई।

टीपू पर तीसरा आक्रमण करने के समय फिर इस सहकारिता का योग नहीं आया। इसी बीच में सवाई माधवराव की भी मृत्यु हो गई थी और बाजीराव गद्दी पर बैठा था, पर वह दौलतराव सिन्धिया के पंजे में पूरी तरह से था। सन १७९८ मे निजामअली ने अंग्रेजों से नवीन सन्धि की, जिसके अनुसार निजाम दौलत ने अपनी कवायदी सेना को तोड़कर अंग्रेजों की छः हजार सेना और तोपखाना अपने यहाँ रखना और उसके खर्च के लिए २४ लाख रुपये देना स्वीकार किया, निजाम चौथाई तथा सरदेशमुखी का कर अब तक मराठों को देते थे। उसे न देने के लिए ही अंग्रेजों से यह मैत्री की गई थी, क्योंकि निजाम जानता था कि इस कार्य में अंग्रेजों के सिवा दूसरे से यह काम नहीं हो सकता। अंग्रेजों का काम भी मुफत में बन गया, क्योंकि निजाम की इस सन्धि से सेना का खर्च निजाम के सिर पर था और फौज अंग्रेजों के अधीन थी तथा निजाम अंग्रेजों के शुत्र मराठों के आश्रय से सदा के लिए निकल जाने वाला था। इस तरह अंग्रेजों का चारों ओर से लाभ ही था। इन्हीं शर्तों पर अंग्रेजोंने पेशवा से भी सन्धि करने का निश्चय किया था; परन्तु दौलतराव सिन्धिया और नाना ने इस

प्रकार की सन्धि न करने की सम्मति दी; अतः वह न हो सकी; परन्तु बाजीराव ने टीपू के विरुद्ध युद्ध करने में सहायता देने का वचन अंग्रेजों को दिया और पहले के अनुसार परशुराम भाऊ को सेना के साथ अंग्रेजों के सहायतार्थ भेजने का निश्चय किया। साथ में रास्ते, बिञ्चूरकर आदि सरदारों को भी भेजने का नाना० ने विचार किया, परन्तु दौलतराव सिन्धिया ने इस विषय में यह आग्रह किया कि टीपू के साथ युद्ध करने में मराठों को प्रत्यक्ष में शामिल होना उचित नहीं है। कहा जाता है कि टीपू ने सिन्धिया द्वारा पेशवा को तेरह लाख रुपये दिये थे। यह सच है या झूठ यह तो नहीं कह सकते; पर इतना अवश्य हुआ कि बिलकुल मौके पर बाजीराव पेशवा ने अंग्रेजों को सहायतार्थ सेना भेजना रोक दिया। इससे नाना० को भी बहुत आश्चर्य हुआ। अन्त में, अंग्रेजों को अपने बल पर श्रीरंगपट्टन पर चढ़ाई करनी पड़ी। टीपू से मित्रता कर निजाम पर चढ़ाई करने का दौलतराव सिन्धिया और बाजीराव पेशवा का विचार था; परन्तु अंग्रेजों के साथ की गई श्रीरंगपट्टन की लड़ाई में उसे असफलता हुई और उसकी मृत्यु भी हो गई; अतः बाजीराव का विचार जहाँ का तहाँ रह गया। टीपू की मृत्यु का समाचार सुनकर बाजीराव ने प्रगट किया, और तुरन्त ही मुँह फेर कर अंग्रेजों के कान में यह भर दिया कि आपके सहाययार्थ सेना न भेजने देने के कारण नाना० ही थे। टीपू की मृत्यु के पश्चात् जब मैसूर के राज्य के बँटवारा करने का समय आया, तो अंग्रेजों ने थोड़ा हिस्सा मराठों को देने के लिए भी निकाला; परन्तु उसके लिए यह शर्त डाली कि निज़ाम के समान हमारी सेना अपने आश्रय में रखने की जो सन्धि पहले ही हो चुकी थी, वह अब मान्य की जाय, परन्तु नाना अच्छी तरह जानते थे कि यह शर्त बहुत हानिकारक और घातक है। अतः इसे अस्वीकार करने में बाजीराव को नाना की सहायता मिली। तब मराठों को देने के लिए निकाला हुआ प्रान्त भी अंग्रेज और निजाम ने आपस में बाँट लिया। फिर निजाम और अंग्रेजों में एक संधि और हुई जिसके अनुसार सन १८०२ और सन १७९९ में निजाम के हिस्से में जो टीपू का प्रदेश आया था वह अंग्रेजों को मिला और उसके बदले में अंग्रेजों की आठ हजार की सेना आत्म-रक्षणार्थ निजाम को अपने गले में बाँधनी पड़ी। सारांश यह है कि मराठों और अंग्रेजों की सच्ची सहकारिता से एक ही चढ़ाई हुई और वह टीपू पर सन १७९१ में की गई थी।

नाना फड़नवीस और बाजीराव को फिर शीघ्र ही अंग्रेजों से सहायता लेने की आवश्यकता हुई; परन्तु यह सहायता नहीं थी; यह तो अपने ही हाथों से दूसरी बार अपने गृह कलह में अंग्रेजों को घुसाना था। पहली बार और इस बार में अन्तर यह दिखाई देता था कि पहले अपयश रघुनाथराव ने अपने सर लिया था और उस समय सब लोगों

ने इसके लिये उन्हें भला भी कहा था, लेकिन फ़िर ऐसा समय आया कि रघुनाथराव के स्वयं प्रतिपक्षी और राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस को यह बात करनी पड़ी। नाना फड़नवीस और महाद जी सिन्धिया में यद्यपि परस्पर स्पर्धा थी, तो भी दोनों अपने अपने राज्य के स्तम्भ थे। महादजी की मृत्यु से नाना फड़नवीस का दाहिना हाथ अर्थात् अस्त्र धारण करने वाला हाथ ही टूट गया और उत्तर हिन्दुस्तान में नाना फड़नवीस की कार्य पद्धति संकुचित होते होते दिल्ली से मराठों के पैर उखड़ने लगे, परन्तु महाद जी की मृत्यु के दूसरे ही वर्ष खरड़ा की लड़ाई जीतकर नाना फड़नवीस ने जगत को यह दिखला दिया कि मराठों का तेज, वह चाहे दक्षिण ही तक क्यों न हो, पर अभी तक कायम है। खरड़ा की लड़ाई में नाना फड़नवीस के वैभव मन्दिर पर मानो कलश चढ़ा दिया, परन्तु इसके दूसरे ही वर्ष सवाई माधवराव की असामयिक मृत्यु हो जाने से और नाना फड़नवीस के शत्रु बाजीराव के गद्दी पर बैठने का प्रसंग आने से सब उलट पुलट हो गया। बाजीराव से नाना फड़नवीस को दो प्रकार का भय था। एक तो यह कि शायद वह अपने पिता का बदला लेने के लिये कष्ट दे अथवा घात करे और दूसरा, जो कि पहले से भी अधिक घातक था, यह था कि ऐसे बुद्धिहीन पुरुष के गद्दी पर बैठने से कभी न कभी उसकी विडम्बना हुए बिना न रहेगी। इन विचारों के कारण नाना फड़नवीस ने बहुत शीघ्रता से सब बड़े बड़े सरदारों को पूना बुलाया और उन्हें यही समझाया कि बाजीराव के गद्दी पर बैठने से अंग्रेजों का हाथ किस प्रकार से दरबार के राजकाज में घुसेगा। परशुराम भाऊ और पटवर्धन नाना फड़नवीस के अनुकूल ही थे, किन्तु बाहर के बड़े बड़े सरदारों में से होलकर ने भी नाना फड़नवीस की पद्धति को पसन्द किया। यद्यपि सिन्धिया के कर्मचारियों और नाना फड़नवीस में मतभेद था, फिर भी उन्होंने यह निश्चय किया कि हमारे स्वामी दौलतराव सिन्धिया के अल्प वयस्क होने के कारण होलकर के समान वयोवृद्ध मराठे नीतिज्ञ जो करेगें वह सिन्धिया को भी मान्य होगा। इस प्रकार सबने मिलकर निश्चय किया कि सवाई माधवराव की विधवा स्त्री को गोद में कोई दत्तक देकर गद्दी चलाई जाय और बाजीराव को कैद में ही रक्खा जाया जब ये समाचार बाजीराव को मालूम हुए तब उसने सिन्धिया के कारभारी बाला जी तात्याँ को मिलाकर नाना फड़नवीस के निश्चय को धूल में मिलाने का प्रयत्न किया। विकल्प शुरू होने पर अनेक प्रकार के कारण खड़े होने लगे। बहुतों को यह बात विचारणीय दीखने लगी कि बाला जी विश्वनाथ का वंश मौजूद होते हुए भी दूसरे घराने का लड़का गोद में क्यों लिया जाय ? इधर बाजीराव ने सिन्धिया को चार लाख का प्रान्त और गद्दी पर बैठाने में जो खर्च पड़े वह सब देने का लोभ दिखाया, अतः इस प्रश्न को और भी महत्व प्राप्त हो गया।

नाना फ़ड़नवीस को जब ये सब समाचार मालूम हुए तो उन्होंने परशुराम भाऊ को तुरन्त पूना बुलाया और सलाह करके यह निश्चय किया कि सिन्धिया अपनी सेना के बल जैसे बनेगा वैसे बाजीराव को गद्दी पर बैठाये होगा, इसलिये यही काम यदि हमकर डालें तो सिन्धिया भी एक ओर रह जायगा और सम्भव है कि बाजीराव भी उपकार के भार से दबकर अपने हाथ में आ जाय। इस निश्चय के अनुसार परशुराम भाऊ ने शिवनेरी जाकर बाजीराव को बन्धन-मुक्त किया और परशुराम ने जब शपथ-पूर्वक यह कहा कि यह कपट नहीं है तब बाजीराव अपने छोटे भाई चिमाजी अप्पा के साथ पूना आकर नाना फड़नवीस से मिला, उपरी ढङ्ग से दोनों के दिल की सफाई हो गई और नाना फड़नवीस को बाजीराव ने लिख दिया कि "जो बातें हो चुकी है उन्हें सब भूल जावें। राज-काज तुम्हारे ही हाथ में रक्खूँगा और तुम्हारी सलाह से ही सब काम करूँगा।" बाजीराव गद्दी पर बैठाये गये; परन्तु यह समाचार सुनकर बालोबा ताँत्या (सिन्धिया के कारभारी) को क्रोध उत्पन्न हुआ और उसकी सलाह से दोलतराव सिन्धिया अपनी गोदावरी के तट पर की सेना लेकर पूना पहुँच गया। सिन्धिया का सैन्य-समुदाय देखकर नाना फड़नवीस मन में डरे कि इसके आगे अपनी कुछ नहीं चलेगी। परशुराम भाऊ ने नाना० को बहुत धीरज बँधाया और समझाया कि आवश्यकता पड़ने पर हम लोग सिन्धिया से युद्ध कर सकेगें। उसकी क्या मजाल जो हम से लड़े ? परन्तु बालोबा ताँत्या के भय और बाजीराव पेशवा के इस अविश्वास से कि न मालूम किस समय वह क्या कर डाले, नाना फड़नवीस ने कारभार छोड़ कर पूना से चले जाने का ही विचार किया। बाजीराव के विश्वासघात के कारण सिंधिया उससे असप्रन्न था ही और इस विश्वासघात के प्रायश्चित में उसे गद्दी से उतारना चाहता था। इस षड़यन्त्र में वह परशुरामभाऊ को शामिल करने का प्रयत्न करने लगा। इधर नाना फड़नवीस भाऊ को फँसाकर पूना से चले गये, अतः भाऊ की स्थिति निःसहाय सी हो गई। इसलिए अकेले सिन्धिया के सत्रुता करनै की अपेक्षा उनके षड़यन्त्र में शामिल हो जाना ही उन्होंने उचित समझा। बाजीराव को गद्दी से च्युत कर चिमाजी अप्पा को सवाई माधवराव की विधवा स्त्री की गोदी में बिठला कर गद्दी पर बैठाने के लिए यह षड़यन्त्र रचा गया था। इस नये पेशवा का कार भारी परशुराम भाऊ को नियत करना निश्चित हुआ था। परशुराम भाऊ ने नाना फड़नवीस से बिना पूछे इस षड़यन्त्र में शामिल होने की स्वीकृति नहीं दी; परन्तु अन्त में नाना फड़नवीस, परशुराम भाऊ और बालोबा का एक विचार हो जाने पर बाजीराव के कैद होने का फिर मौका आया।

नाना फड़नवीस पहले पूना से पुरन्दर गये और फिर वहाँ से वाई जाकर वहाँ रहने लगे। वहाँ उन्होंने यह विचार कर कि सतारा के महाराज को बन्धन-मुक्त

कर राजकाज चलाने से मराठा सरदारों के एकत्र होने; और सत्ता के एक-मुखी होने की सम्भावना होगी; इसके लिए प्रयत्न किया; परन्तु वह सफल न हो सका। इधर चिमाजी अप्पा का दत्त विधान हो गया था; अतः इस नये पेशवा के लिए वस्त्र लेने को नाना फड़नवीस स्वयम् सतारा गये और वहाँ से पेशवाई के वस्त्र प्राप्त किये। पहले यहाँ यह निश्चय हुआ कि नये पेशवा के कारभारी का काम परशु-राम भाऊ करें; परन्तु फिर यह विचार उत्पन्न हुआ कि कारभारी नाना फड़नवीस ही रहें और सेनापति का काम भाऊ करें। अतः इस विचार के अनुसार नाना फड़नवीस से पूना आने के लिए बातचीत की गई; परन्तु बाजीराव के कहने से नाना फड़नवीस को भी कैद में रखने का सिन्धिया का विचार है ऐसी खबर सुनते ही नाना फड़नवीस पूना न आकर पहाड़ की ओर चले गये और राय गढ़ से लड़ने का इन्होंने प्रयत्न किया। इस प्रकार आकस्मिक रीति से बाजीराव और नाना फड़नवीस पर सम-दुःखी होने से एक विचार करने का अवसर आ पड़ा और बालोवा कुंजर की मध्यस्थता में इन दोनों का पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। तुकोजी होलकर की सेना की सहायता नाना फड़नवीस ने बोलवा तात्या के प्रतिस्पर्धी रायाजी पाटिल के द्वारा सिन्धियाँ को दस लाख रुपये की आमदनी का प्रान्त, अहमदानगर का किला, परशुराम भाऊ की जागीर और घाटगे की सुन्दरी कन्या देना कबूल किया। मानाजी फाकड़े इसी दृष्टि से सिन्धियाँ की सेना की भर्ती करने काम कर रहा था; परन्तु बाजीराव के कुछ कार्यों से यह षड़यन्त्र प्रगट हो गया। अतः बालोवा तात्या ने बाजीराव को उत्तर भारत की ओर रवाना किया; परन्तु बाजीराव ने अपने रक्षक घाटगे को मिला लिया और उसे सिन्धिया की दीवानगिरी तथा सिन्धिया को दो करोड़ रुपये देना स्वीकार कर बीच ही में मुकाम करवाया। इधर नाना फड़नवीस ने रघुजी भोसले को अपने पक्ष में मिला लिया और नाना फड़नवीस सेना सहित पूना आये तथा बाजीराव को वापिस लाकर ४ दिसम्बर सन् १७९६ में फिर गद्दी पर बैठाया और अपने हाथ में सब कारबार लेकर शास्त्रियों के द्वारा चिमाजी अप्पा का दत्तक विधान शास्त्र-विरुद्ध ठहरा दिया।

इतना कार्य पूरा होते न होते पाँसा फिर उलटा। तुकोजी राव होलकर की मृत्यु हो गई नाना फनड़वीस ने निजाम को जो वचन दिये थे उन्हें बाजीराव ने पूरा करना स्वीकार नहीं किया; अतः निजाम भी नाराज हो गये तथा बाजीराव ने यह विचार किया कि बन जाय तो सिन्धिया और नाना फड़नवीस को एक ओर रखकर अपनी मनमानी करूँ, परन्तु उसके इस विचार के अनुसार सिर्फ नाना फड़नवीस ही के विरुद्ध षड़यन्त्रों ने अधिक जोर पकड़ा। तारीख ३१ दिसम्बर के दिन नाना

सिन्धिया से मिलने गये, उसी समय सिन्धिया के सेना पति माइकेल फिलोज ने अपनी सेना के पड़ाव में ही नाना को कैद कर लिया और सर्जेराव घाटगे ने अपने नौकरों को भेजकर शहर में नाना फड़नवीस का बाड़ा और उनके पक्ष के लोगों को लुटवाया। इसके बाद पूना में कितने ही दिनों तक धर-पकड़ और खून-खराबी के सिवा और कुछ दीखता ही न था। यदि किसी को बाहर निकलना होता तो कई लोगों के साथ हाथ में ढाल-तलवार लेकर निकलना पड़ता था। जब नाना फड़नवीस कैद कर अहमद नगर के किले में भेज दिये गये तब बाजीराव, सिन्धिया का प्रभाव नष्ट करने के उद्योग में लगे। यह सुनकर सिन्धिया ने अपनी फौज का बीस लाख रुपया मासिक खर्च देने का अड़ङ्गा बाजीराव के पीछे लगाया, परन्तु बाजीराव इतना खर्च देने में असमर्थ थे अत: उन्हें यह शर्त मान्य करनी पड़ी कि घाटगे, बाजीराव का कारभारी होकर रहे और वह जिस मार्ग से चाहे रुपये वसूल करे। इस समय घाटगे ने पूना में जो कुहराम मचाया था और प्रतिष्ठित आदमियों की जिस प्रकार इज्जत ली थी उसका स्मरण करते ही आज भी रोमांच हो आता है, इस अत्याचार के कारण सिन्धिया पूना में अप्रिय हो गये, इस बात से लाभ उठाते हुए बाजीराव ने अमृतराव की सहायता से अंग्रेजों के हाथों-तले सेना तैयार कर सिन्धिया को कैद करने का विचार किया और सिन्धिया को दरबार में बुलाकर भय भी दिखलाया, परन्तु अन्त में उसे कैद करने का साहस बाजीराव को न हो सका।

सिन्धिया, यह कह कर कि अब मैं लौटा जाता हूँ दरबार से चला आया, परन्तु उसने पूना नहीं छोड़ा। तो भी चारों ओर से विशेषत: गृह कलह के कारण उसकी इतनी बेइज्जती हो गई थी कि अन्त में उसको अंग्रेजों से सहायता और मध्यस्थता के लिये याचना करनी पड़ी। इसके पहले बाजीराव ने स्वत: कर्नल पामर की मार्फत सिन्धिया से मैत्री की बातचीत छेड़ी थी, परन्तु सिंधिया ने उस बात को अमान्य कर दिया। अब उसे स्वयं सहायता मांगनी पड़ी। उसने यह भी विचार किया कि अपनी सेना लेकर यहाँ से स्वदेश को चले जाँय। परन्तु सेना बिना वेतन लिये कैसे जा सकती थी? अत: सिंधिया ने विचार किया कि नाना-फड़नवीस को बंधन मुक्त कर देने से द्रव्य लाभ अवश्य होगा और बाजीराव पर भी प्रभाव पड़ेगा। अत: वह नाना फड़नवीस को पूना लाकर छोड़ दिया और उससे दस लाख रुपये लेकर अपना काम निकाल लिया। नाना फड़नवीस को बन्धन मुक्त करने में अंग्रेजों की सहायता लेनी पड़ी और इससे उन्होंने लाभ भी तुरन्त उठाया। मराठों से मैत्री करके अंग्रेजों को टीपू के नाश करने का निश्चय था; पर वे जानते थे कि यह काम तब होगा जब सिंधिया पूना से चले जावें और नाना फड़नवीस अकेले रह जाँय; अत: अंग्रेजों ने बाजीराव से यह कहना शुरू कि—"सिंधिया को जाने दो, तुम्हारी रक्षार्थ

हम सेना देंगे चिन्ता मत करो।" परन्तु अंग्रेज जैसे बार-बार कहते थे वैसे ही वैसे बाजीराव को यह सन्देह अधिक होता जाता था कि कहीं यह नाना फड़नवीस का ही षड़यन्त्र न हो और वे सिंधिया को दूर कर अंग्रेजों को घर में घुसेड़ना चाहते हों, बस, ऐसी कल्पना उत्पन्न होते ही उसके षड़यन्त्र के चक्र फिर उलटे फिरने लगे और सिंधिया से लौट जाने की अपेक्षा वह भीतर ही भीतर यह कहने लगा कि—"अभी रहो जाओ मत" और इधर नाना फड़नवीस से मिला और कहा—"तुम मेरे पिता के समान हो, तुम जो कहोगे मैं वही करूँगा।" ऐसा कह कर उसने नाना फड़नवीस के पैरों पर पगड़ी रख कर कसम खाई और नाना फड़नवीस को फिर काम काज सम्हालने को लगाया, परन्तु उसी समय वह नाना फड़नवीस को कैद करने के लिये सिंधिया से बात चीत भी करने लगा।

नाना फड़नवीस ने ऊपरी दिखाऊ ढंग से काम हाथ में ले लिया, पर भीतर से वे उदास ही थे, क्योंकि उस समय किसी का भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। उन्होंने मनमें यही निश्चय किया कि इस समय अंग्रेजों से सहायता लेने की आवश्यकता होने के कारण यदि उनका विश्वास करना ही पड़े तो उसके करने में कोई हानि नहीं है और आपत्ति काल में सहायता भी उन्हीं की लेना ठीक है। परन्तु इसी स्थिति में दो वर्ष व्यतीत हो गये और अन्त में १३ मार्च सन् १८०० के दिन नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से बाजीराव और सिंधिया की स्थिति तो नहीं सुधरी किन्तु उनका एक मुख्य आधार स्तम्भ टूट गया। अब सिंधिया को अपना प्रदेश छोड़ कर पूना में रहना कठिन हो गया था, क्यों कि यशवन्तराव होलकर ने अमीर खाँ से मैत्री कर सिंधिया के प्रदेश को लूटने का काम शुरू कर दिया था। सन् १८०० के नवम्बर में सिंधिया ने पेशवा से ४७ लाख रुपये लेकर पूना में घालगे की अधीनता में कुछ सेना रख दी और आप उत्तर हिन्दुस्तान के लिये रवाना हो गया।

नाना फड़नवीस की मृत्यु हो जाने और सिंधिया के अपने स्थान को चले जाने पर बाजीराव को शान्ति से दिन व्यतीत करने चाहिये थे, परन्तु ऐसा न करके उसने अपने पिता रघुनाथराव के विरुद्ध रहने वाले सरदारों से बदला लेना शुरू किया। सरदार रास्ते को कैद में डाला और विठो जी होलकर को हाथों के पावों से मरवा डाला। सिन्धिया के उत्तर भारत में आने पर उससे थोड़ी बहुत छेड़ छाड़ कर यशवन्तराव होलकर ने फिर दक्षिण भारत का रास्ता पकड़ा और विठोजी होलकर के खून का बदला लेने के लिये पूना को भस्म करने का उद्देश्य प्रगट करते हुए वह खानदेश जा पहुँचा। अत: बाजीराव को फिर सिन्धिया और अंग्रेजों के सेना की सहायता माँगने की आवश्यकता हुई, परन्तु अँग्रेजों की शरतें कड़ी होने के कारण सिन्धिया

की सेना पर उसे अवलम्बित होना पड़ा। इस समय पटर्धन प्रभृति सरदारों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी, परन्तु सरदार रास्ते से सरदारों को लूटने का प्रारम्भ करने के कारण सब सरदार अपने अपने स्थानों पर उदासीन और सशंकित वृत्त से रहते थे। ता २३ अक्टूबर को यसवन्त राव होलकर हड़पसर के पास आ पहुँचा। इधर सिन्धिया की सेना धोर पड़ी के समीप पड़ी हुई थी अतः तारीख २५ अक्टूबर को दोनों में वड़ी भारी लड़ाई हुई, जिसमें सिन्धिया को हारना पढ़ा और उसकी सेना का पड़ाव लूट लिया गया। तब बजीराव सात हजार सेना के साथ भाग कर सिंहगढ़ चला गया और वहाँ से कर्नल क्लोज की मार्फत अंग्रेजों से सहायतार्थ बात चीत करने लगा।

अंग्रेज बाजीराव को सहायता देने के लिये सदा तैयार रहते थे। भला जिन अंग्रेजों ने नाना फड़वीस के जीवन काल में और पेशवा का ऐश्वर्य सूर्य जिस समय मध्यान्ह में था उस समय रघुनाथ राव को सहायता देकर मराठों से युद्ध छेड़ा था वे अंग्रेज गद्दी पर बैठे हुए बाजीराव को जब कि वह निराश्रित होकर स्वयं सहायता माँग रहा है और नाना फड़वीस भी जीवित नहीं है, क्यों न सहायता देवें ? उनका तो बहुत दिनों से यही प्रयत्न रहा कि बाजीराव हमारी सहायता लें और लार्ड कार्नवा-लिस बहुत जोर से इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि निजाम के समान सब राजे राजबाड़े हमारी सेना की सहायता लेना स्वीकार करें परन्तु एक भी मराठा सरदार अंग्रेजों की इस प्रकार की सहायता लेने को तैयार नहीं होता था। महाद जी सिन्धिया नाना फड्नवीस और दौलत राय सिन्धिया ने तो इस झूठी सहायता को अस्वीकार करने के लिये पेशवा को पहले ही सलाह दी थी और स्वयं बाजीराव को भी इस सहायता का भीतरी पेंच समझ सकने की बुद्धि थी। अतः उसने भी जहाँ तक हो सका इसका विरोध ही किया था। अंगरेज अधिकारियों के अधिकार में रहने वाली अंग्रेजी सेना को अपने राज्य में रख उसके खर्च के लिये अँगरेजों को कुछ प्रदेश दे देना और आवश्यकता पड़ने पर अपनी रक्षा के लिये अँगरेजों का मुँह आकना भला कौन समझदार स्वीकार कर सकता था ? यह व्यवस्था निजाम को भले ही सुभीते की की जँची हो क्योंकि दक्षिण भर में वह अकेला ही था और दूसरे किसी की भी सहायता न थी परन्तु मराठों को अँगरेजों की आज्ञा से चलने वाली इस प्रकार की भड़ेतू सेना के सहायता की आवश्यकता नहीं थी, पर गृह कलह के कारण उन्हें भी हुई और पहले चार बार जिस बात को झिड़कार दिया था, वही बात बाजीराव को निरुपाय होकर करनी पड़ी।

सबाई माधवराव की मृत्यु के बाद से पूना के दरबार में जो गड़बड़ी मचनी शुरू हुई उसे अँगरेजों के वकील मैलेट साहब संगम तट पर बैठे हुए ध्यान से देख रहे थे।

सिन्धिया, होलकर और पटवर्धन आदि सरदार, नाना, परशुराम भाऊ आदि नीतिज्ञ और बाजीराव पेशवा इनमें परस्पर झगड़ा चलने के कारण अंग्रेजों को भयभीत होने का कोई कारण नहीं था। इस गृह-कलह के कारण अंग्रेजों की ओर तिरछी दृष्टि से देखने का न तो किसी को अवसर ही था और न कोई कारण ही। अंग्रेजों की भलमन्सी सबके काम में आती थी और अंग्रेजों की सैनिक सहायता की आकाँक्षा भी सब ही करते थे। पेशवा की राजधानी में यद्यपि पाँच छः वर्षों से धूमधाम चल रही थी, पर संगम पर अंग्रेजों के अथवा उनके आश्रित लोगों के मार्ग में कभी कोई बाधा नहीं पड़ती थी। संगम से तीन मील की दूरी पर सिन्धिया और होलकर की सेना का तुमुल युद्ध हुआ, पर उस समय अंग्रेज रेजीडेन्ट कर्नल क्लोज संगम ही पर एक ऊँचा अंग्रेजी निशान लगाकर आनन्द से रहे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस निशान को दोनों ओर से सन्मान मिलेगा। दूसरे दिन यशवन्त राव होलकर ने कर्नल क्लोज को अपने डेरे में बुला कर सिन्धिया, पेशवा और होलकर का झगड़ा मिटाने में मध्यस्थ बनने की अपील की।

होलकर पूना पर चढ़ आया था और उसकी सेना ने जय भी प्राप्त की थी, तो भी पहले उसने पूना में अपनी सेना को पांव भी नहीं रखने दिया। उसने अपने पत्र-व्यवहार में बाजीराव से नम्रता का ही व्यवहार रक्खा और सिंहगढ़ से पूना आने के लिये प्रार्थना की थी। परन्तु बाजीराव डर रहे थे, इसलिए वे सिंहगढ़ से रायगढ़ चले गये और वहाँ से पहाड़ जाकर अंग्रेजों को लिखा कि जहाज और आदमी भेजकर मुझे बम्बई बुला लो। इधर जब होलकर ने देखा कि बाजीराव नहीं आते तब उन्हें पकड़ने के लिये उन्होंने अपनी सेना कोंकन को भेजी। तब बाजीराव अंग्रेजों के आदमियों के आने की प्रतीक्षा न कर स्वयम् सुवर्णदुर्ग होकर खेदण्ड को गये और वहां से अंग्रेजों के जहाज में बैठकर तारीख ६ दिसम्बर को बसई पहुँचे।

इधर होलकर ने पूना से बहुत खण्डनी वसूल की और जुन्नर से अमृतराव को लाकर गद्दी पर बैठाया। तब नाना फड़नबीस के और बाजीराव के शत्रु चतुरसिंह भोंसले बाबी वाले ने अपने प्रभाव को काम में लाकर सतारा के महाराज से अमृत-राव को पेशबाई के वस्त्र दिलवाये। अमृतराव के गद्दी पर बैठते ही होलकर ने पूना-निवासियों की जो दुर्दशा की थी उसे आंख खोलकर देखने का काम इन पेशवाओं को करना पड़ा। पहले तो इतना ही था कि जरा भय का कारण उपस्थित होते ही लोग भागकर अपनी रक्षा कर लेते थे, पर होलकर ने तो शहर की नाकेबन्दी पहले से ही करके फिर लोगों को कष्ट देना प्रारम्भ किया था।

बाजीराव के पूना छोड़कर चले जाने पर रेजीडेन्ट कर्नल क्लोज भी बसई को चले गये। होलकर ने रेजीडेन्ट से ठहरने के लिये बहुत कहा, परन्तु उन्होंने होलकर

से सन्धि करने की अपेक्षा अपने हाथ में आये हुये पेशवा से सन्धि करना अधिक लाभ दायक और सुभीते की बात समझी और उसके द्वारा अंगरेजों और बाजीराव के बीच में तारीख ३१ दिसम्बर सन् १८०२ के दिन सन्धि हुई। सन्धि की मुख्य शर्तें अंग्रेजी सेना को अपने यहां रखने के सम्बन्ध में थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों की ६००० पैदल सेना पेशवा के राज्य में रखना स्थिर हुआ और युद्ध के समय पेशवा को रक्षा के लिए एक हजार सेना बाजीराव के पास रहना स्थिर किया गया। इसके खर्च के लिये पेशवा ने अंग्रेजों को छव्वीस लाख की आमदनी का प्रदेश देना स्वीकार किया तथा सूरत पर से पेशवा के अपना अधिकार उठा लेने, गायकवाड़ और निजाम पर का दावा अंग्रेजों की मध्यस्थता में निपटा लेने, अन्य रजवाड़ों से जो युद्ध सन्धि अथवा अन्य कार्य हों वह बिना अंग्रेजों को मालूम हुये न होने और दूसरे यूरोपियन लोगों को आश्रय न देने की शर्तें भी इस सन्धि में रक्खी गई। इस सन्धि पर ग्राएट डफ ने अपने ये निन्दापूर्ण उद्गार निकाले है कि "बाजीराव ने अपने स्वतन्त्रय को मूल्य के रूप में देकर अपने शरीर की रक्षा कर ली थी।" इस सन्धि से सिन्धिया बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने बाजीराव की रक्षार्थ अपनी सेना भेजी, परन्तु उसने सन्धि करने के पहले सिन्धिया और दूसरे हिचचिन्तक रघुजी भोंसले से एक शब्द भी नहीं कहा। इस सन्धि के कारण पेशवा तो अंगरेजों के हाथ के खिलौने हो गये और सिन्धिया, होलकर इत्यादि सरदारों और पेशवा के परस्पर सम्बन्ध के सब सूत्र अंग्रेजों के हाथ में चले गये। इस सन्धि से मालिक को मालिकी चले जाने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना दुःख सेवकों को सेवकाई के चले जाने का हुआ। बाजीराव ने अपने साथ साथ दूसरे की स्वतन्त्रता भी नष्ट कर दी और अंगरेजों ने भी इस सन्धि को करने की शीघ्रता में दूसरों की ओर झांका तक नहीं। जो सिन्धिया सालबाई की सन्धि के समय अंगरेजों के जामिनदार थे उन से यह सन्धि करते समया पूछा तक नहीं। यह देखकर कि जब समय का लाभ उठाकर सब ही स्वतन्त्र व्यवहार कर रहे हैं, तो सिन्धिया ने भी बसई की सन्धि स्वीकार नहीं की और नागपुर के भोंसले ने भी इस सन्धि के लिये कान पर हाथ रख कर मना कर दिया।

सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर होते ही बाजीराव को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न करना अंगरेजों के लिये आवश्यक हुआ, अतः उन्होंने हैदराबाद मैसूर आदि की ओर की सेना, जनरल बेलस्ली की अधीनता में एकत्रित्र करना प्रारम्भ किया। पटवर्धन, गोखले, निमाणीकर, बिच्चूरकर आदि मराठे सरदार भी अंग्रेजों के सहायतार्थ आ पहुँचे। तब होलकर के द्वारा गद्दी पर बैठाये हुये अल्पकालीन पेशवा अमृतराव ने पूना

शहर को जला कर अपनी नैराश्यता का बदला चुका लेने का विचार किया, परन्तु बाजीराव और अंगरेजों की सेना के आने के समाचार सुन वह पूना से भाग गया और होलकर रास्ते में लूटपाट मचाने और गाँवों को जलाते हुये औरङ्गाबाद होकर मालवा को चले गये। अमृतराव ने भी नासिक तक यही क्रम जारी रक्खा, पर अन्त में जनरल वेलस्ली से संधि कर और कुछ दिनों तक उनकी सेना के साथ में रह आठ लाख रुपये वार्षिक की जागीर लेना स्वीकार किया और वह काशी में जाकर रहने लगा। ता० १३ मई १८०८ के दिन बाजीराव पूना आये और फिर गद्दी पर बैठे।

लौटते समय सिन्धिया अंगरेजों का पतन करने का विचार करने लगा। भोंसले ने भी उसे सहायता देने का बचन दिया। तब दोनों ने मिलकर होलकर को शामिल करने के लिये प्रयत्न किया, क्योंकि उसके शामिल हो जाने की स्वाभाविकतया आशा थी, परन्तु उस समय इस मित्र-संघ में शामिल होने की बुद्धि होलकर को नहीं हुई। अतः दोनों ने मिलकर मुगलों की सीमा पर एक लाख सेना एकत्रित की। इधर अंगरेजों ने सब प्रान्तों से बुला कर ५० हजार सेना एकत्रित की। जनरल वेलस्ली ने अहमदनगर का किला अधिकृत कर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सन् १८०३ में उसने दिल्ली लेकर बादशाह शाह-आलम को अपने हाथ में ले लिया और अन्त में लासवारी में युद्ध हुआ, जिसमें सिन्धिया का पराभव हुआ और चम्बल नदी के उत्तर का सिन्धिया का सब देश अंग्रेजों के हाथ लगा।

सन् १८०३ के मई मास की ३० वीं तारीख को पूना के रेजीडेन्ट कनरल क्लांज को कलकत्ता के गवर्नर ने जो खरीता भेजा था उसमें उन्होंने अंग्रेजों की दृष्टि से मराठी राज्य की उस समय की स्थिति की परीक्षा की है। उसे जानना आवश्यक समझ खरीते के कुछ अंशों का अनुवाद यहाँ दिया जाता है। गवर्नर लिखते हैं कि—

"मैसूर का राज्य नष्ट हो जाने से अब मरोठों के सिवा हमारा दूसरा कोई प्रति पक्षी नहीं रहा है और उनसे भी, जब तक उन्हें किसी यूरोपियन राष्ट्र की सहायता न मिले, तब तक हमें भय नहीं है। कोई केन्द्रीय शक्ति यदि अन्य राज्य कर्ताओं को मिला कर संध निर्माण करे तो यह हमारे लिये अवश्य भय का कारण होगा, परन्तु ऐसे संध से भी बहुत अधिक भय करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, ऐसे प्रयत्न अवश्य होने चाहिये जिससे संध का निर्माण न होने पावे। इसका सबसे उत्तम उपाय यही है कि मराठों के मुख्य-मुख्य राजाओं से अपना स्नेह हो और वह भी इस तरह का कि उन पर हमारा प्रभाव रहे और वे हमारी सेना पर अवलम्बित

रहें। बाजीराव से बसई की सन्धि करने में भी हमारा यही प्रयोजन था। इस सन्धि से यद्यपि पेशवा को गद्दी मिलेगी, तथापि पूना दरबार में हमारा इतना प्रभाव जम जायगा कि मराठे सरदारों को अपनी हित-रक्षा का कार्य हमारे द्वारा ही कराना होगा। ऐसा कोई काम—विशेष कर अन्तर्व्यवस्था सम्बन्धी—मत करना जिससे पेशवा के स्वाभिमान में धक्का लगे और वह उसे अपमान—पूर्ण प्रतीत हो, किन्तु तुम उन्हें यह समझाने का प्रयत्न करो कि तुम्हारे ही प्रजा-जन, नौकर और माण्ड-लिकों ने जो झगड़े खड़े किये थे और तुम्हारा अपमान किया था, वह हमने निवारण कर दिया है और सिन्धिया, होलकर, भोंसलें और बेईमान अमृतराव के कारण तुम्हें जो सन्मान तथा शान्ति कभी न मिलती, वह हमने तुम्हें दिला दी है। देखा, हमारे आश्रय में आ जाने से निजाम को कितना लाभ हुआ है। बसई की सन्धि का एक मुख्य हेतु यह भी है कि फ्रेंच लोगों का पाँव मराठी राज्य में जमने न पावे, इसलिए फ्रेंचों को दरबार से निकालने के प्रयत्न में तुम तुरन्त लग जाओ। सन्धि के अनुसार अपने काम के लायक फौज रखकर बाकी लौटा दो और फौज के व्यय के लिए जो प्रदेश अपने को देने कहा है वह तुरन्त अपने अधिकार में कर लो। राज-काज में तुमसे जो सलाह लेवें सो खुशी से दो, परन्तु पेशवा के कार्य में विशेष उथल-पुथल करने की जरूरत नहीं है। हाँ, बिना थोड़ी उथल-पुथल के कार्य चलेगा भी नहीं, क्योंकि जागीरदारों की मध्यस्थता का काम हमने लेना स्वीकार किया है।

"बाजीराव विश्वास योग्य नहीं है और न उससे जागीरदारों के हितों की रक्षा ही होनी सम्भव है। अतः तुम जो उथल-पुथल करो उसके सम्बन्ध में पेशवा के मन में यह जमाजो कि हम यह सब न्याय के लिए ही करते हैं। काम लायक सेना, इससे भी अधिक पूना में रहे तो और भी अच्छा है, परन्तु इतना ध्यान रखना कि उससे पेशवा अथवा अन्य मराठे सरदरों के मन में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न न होने पावे और न पेशवा को यह मालूम पड़े कि हम जो हेतु ऊपर प्रदर्शित करते हैं उसके सिवा हमारा कोई अन्य हेतु है। दौलतराव सिन्धिया पूना पर सब सेना लेकर चढ़ाई करना चाहता है, परन्तु हम भी उसके इस विचार को छुड़ा देने के प्रयत्न हैं। बिना भोंसले और होलकर की सहायता के सिन्धिया को भी युद्ध करने का साहस नहीं होगा। यद्यपि अँगरेजों के नाम के भय से ही संध शक्ति निर्मित न हो सकेगी, परन्तु संध बनने की बातें तो बाजार में बहुत उड़ रही हैं या कि ये हमें डराने के लिए ही उड़ाई जाती हैं। ऐसी झूठी बातों को न उठने देने का प्रयत्न करना उचित है। यदि हमारे कार्यों से यइ दीख पड़ा कि हम डर गये, तो यह संध न भी बनता होगा, तो बन जायगा और मराठों में साहस आ जायगा। हम सिन्धिया और भोंसले को परस्पर भिड़ा रहे हैं और यदि सिन्धिया और होलकर के बीच परस्पर मनमुटाव रहा, तो

फिर चिन्ता का कोई कारण नहीं है। हम यह देखते हैं कि इन दोनों का यदि मिलाप भी रहा तो भी होलकर, निजाम या पेशवा के विरुद्ध उठते हैं या नहीं? पेशवा ने हमें जो प्रदेश देने को कहा है उससे अधिक सुभीते का प्रदेश कोंकन या बुन्देलखण्ड में हमें प्राप्त हो सकता है या नही, इसका हम विचार कर रहे हैं। पर तुम इस बीच में उन्होंने जो प्रदेश देना स्वीकार किया है, उसे तुरन्त अपने अधिकार में ले लो और यदि पेशवा देने में देरी करे तो उसकी नुकसानी भी उनसे माँगों।"

इस खरीते के तीन ही दिन बाद गवर्नर ने जो खरीता सिन्धिया दरबार के रेजीडेन्ट कर्नल कालिन्स को लिखा था उसका आशय इस प्रकार है "तुम जिस तरह से भी हो सके सिन्धिया को नर्मदा उतार कर उत्तर की ओर बढ़ने के लिए कहो और उसे इस बात पर राजी करो। सिन्धिया को इस प्रकार समझाओं कि सिन्धिया मराठी साम्राज्य के माण्डलिक हैं। उन्हें पहले ही यह चाहिए था कि होलकर से पेशवा का बचाव करते, परन्तु जब उन्होने ऐसा नहीं किया तब उन्हें पूना जाने का अब कोई कारण ही नहीं रहा है। तुम से सिन्धिया ने यह पहले कह ही दिया है कि बसई की सन्धि हमें मान्य है, परन्तु अब यदि उसके विचार कुछ भिन्न दिखाई देते है, तो भी उसे समझाओ कि कसई की सन्धि से हमारा प्रयोजन किसी की स्वतन्त्रता हरण करने का नहीं है, किन्तु सबके न्यायपूर्ण अधिकारों की रक्षा करने का है। किसी के कारबार में हाथ डालने का हमारा प्रयोजन नहीं है। हम केवल इतना ही चाहते हैं कि पेशवा की आज्ञा दूसरे दरबार मान्य करें और मान्डलिक होने के नाते सिन्धिया का हेतु भी यही होगा। यद्यपि सिन्धिया को यह खटकेगा कि पूना दरबार में मेरा प्रभाव कम हो गया, पर तुम उसे यह समझाओ कि यह प्रभाव बसई की सन्धि के कारण कम नहीं हुआ है, किन्तु जब होलकर ने पूना में सिन्धिया पर जो विजय प्राप्त की थी और सिन्धिया ने बीच-बचाव करने के लिए अंग्रेजों से विनय की थी उसी समय से कम हो गया है। सिन्धिया को यदि यह भ्रम हो कि पेशवा, सिन्धिया से बिना पूछे सन्धि नहीं कर सकते, तो उसका यह भ्रम निकाल डालो। सालबाई की सन्धि के समय अंग्रेजों ने महादजी सिन्धिया की मध्यस्थता और जमानत मंजूर की थी, वह वंश परम्परा के लिए नहीं थी। वह समय गया और वे मनुष्य भी गये। अब उसके उदाहरण का प्रयोजन नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु संपूर्ण मराठाशाही के मुख रूप पेशवा ने जो संधि की है उसे उनके मांडलिकों को मानना उचित है और वह उन्हें अपने लिए बंधन-कारक समझना चाहिये। मराठाशाही की पुरानी रचना अब नहीं रही है। महादजी और दौलतराव सिन्धिया ने यद्यपि अपने अड़ोसी-पड़ोसी राजाओं से युद्ध और सन्धि की है, परन्तु उन्होंने पेशवा को गद्दी का अधिकार कभी अस्वीकार नहीं किया। बरार के भोसलें के सम्बन्ध में कदा-कित् यह नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि भोंसलें कहते हैं कि

शाहू महाराज का अधिकार हमें मिला है, परन्तु शाहू महाराज के प्रतिनिधित्व की वंश-परम्परा पेशवा चला रहें हैं, अतः पेशवा की स्वतन्त्रता कम करने के अधिकार भोंसले को नही है। पेशवा, भोसलें से उच्च मानें जांय अथवा भोसलें स्वतन्त्र माने जाँय, पर इन दोनों अवस्थाओं में भी भोसले को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वे पेशवा से यह पूछें कि तुमने अमुक सन्धि क्यों किया और यहीं बात सिन्धिया के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये, तो भी सिन्धियां का पेशवा अथवा होलकर से किसी हित-सम्बन्ध में झगड़ा हो, तो सिन्धिया हमसे कहें, हम उनकी मध्यस्था करने को तैयार है।"

इसी दिन गवर्नर जनरल वेलस्ली साहब ने दौलत राव सिन्धिया को भी एक पत्र लिखा, जिसमें स्पष्ट रीति से ये समाचार लिखे थे कि तुमसे स्नेह भाव रखने की हमारी पूर्ण इच्छा है, परन्तु जो व्यवस्था हो चुकी है उसमें यदि तुम कुछ अदल-बदल करना चाहोगे, तो वह हमें सहन नहीं होगा और हम उसका यथा-शक्ति प्रतिकार करेंगे।

अंगरेजों से खुले मैदान सिन्धिया और भोंसले का युद्ध कर अपना पराभव करा लेना होलकर को पसन्द नहीं आया। उनका कहना था कि यदि दाव-पेंच की लड़ाई दोनों करते तो उसका अन्तिम परिणाम इस प्रकार नहीं होता, परन्तु होलकर की इस चतुरता का उपयोग मराठों के कार्य में न हो सका, क्योंकि सिन्धिया और भोंसले के युद्ध करते समय होलकर स्वयम् उनसे अलग रहा था और इतना ही नहीं, किन्तु अपने ही देशभाइयों के राज्य में उसी समय उसने लूटपाट भी मचा रक्खी थी। होलकर को आशा थी कि सिन्धिया का पराभव हो जाने से हमारा और सिन्धिया का दर्जा समान हो जायगा और फिर हमारा प्रभाव भी बढ़ेगा, परन्तु उसकी यह आशा सफल न हो सकी। सिन्धिया का प्रभाव हो जाने पर जब सिन्धिया और अंग्रेजों की सन्धि हो गई तब होलकर को अंग्रेजों से युद्ध करने कीं स्फूर्ति हुई और अंग्रेजों से सिंधिया की जो सन्धि हो चुकी थी उसे तोड़ने की सम्मति वह सिन्धिया को देने लगा और राजपूत, रोहिले, सिक्ख; प्रभृति की सहायता मिलने के लिये भी खूब प्रयत्न करने लगा। सिन्धिया का थोड़े ही समय में पराभव कर देने का कारण अंग्रेजों में भी युद्ध करने की उत्तेजना हो आई थी और होलकर से युद्ध करना उन्हें लाभदायक भी था। होलकर की शर्तें भी कठिन थी। अतः १८०४ में होलकर और अंग्रेजों का युद्ध प्रारम्भ हो गया। पहले तो होलकर ने अंग्रेजों को खूब हानि पहुंचाई और उनकी बहुत सी तोपें छीन लीं परन्तु अन्त में डीग में होलकर की हार हुई। दक्षिण के बहुत से होलकर के किले और मालवा के भी किले तथा इन्दौर शहर

अंगरेजों के अधिकार में चले गये। उधर भरतपुर के किले को भी अंग्रेजों ने घेर लिया था, अत: उस प्रान्त में भी होलकर के आश्रय-योग्य स्थान न होने के कारण वह पंजाब चला गया। अब कहीं सिन्धिया के मन में भी होलकर से मिलने के विचार उत्पन्न हुए, क्योंकि गोहद के राणा की स्वतन्त्रता स्वीकार करने के लिए अंग्रेज सिन्धिया को दबाते थे और सिन्धिया को यह स्वीकार नहीं था, परन्तु अब वह कुछ कर नहीं सकता था, क्योकि देरी बहुत हो चुकी थी। इतनें में ही अंग्रेजों ने सिन्धिया और होलकर से सन्धि करने का प्रयत्न किया, क्योंकि इस समय कम्पनी सरकार पर ऋण बहुत हो गया था इसलिए लार्ड वेलस्ली की सैनिक पद्धति विलायत में नापसन्द हुई और लार्ड कार्न वालिस, यहां गवर्नर जनरल बना कर फ़िर भेजे गये। उन्होंने सन्धि के काम को पूर्ण किया और सन् १८०५ के लगभग सिन्धिया, होलकर, भोसले और गायकवाड़ से सन्धि होकर मराठा संघ सदा के लिच नष्ट हो गया और एक बड़ा युद्ध होने से रुक गया।

सालवाई की सन्धि से तो मराठी सत्ता के नाश का प्रथम भाग अंग्रेजों को मिला ही था और अब इस सन्धि से दूसरा भाग भी उन्हें मिल गया। इस समय किसी भी मराठे राजा में अंगरेजों से युद्ध करने की वास्तविक शक्ति नही थी, तो भी उसे स्थिति-परिवर्तन का क्रोध सबके मन में मौजूद था पर जब कि मिल कर काम करने को मराठों की पद्धति ही नहीं, इच्छा भी नष्ट हो चुकी थी, तब उन्हें अंग्रेजों पर क्रोध करने की अपेक्षा अपने आप पर ही क्रोध करना बहुत उचित था। इस समय अंग्रेजों का भाग्य अवश्य अच्छा था, इसी से उन्होने केवल पांच वर्षों में ही इतना राज्य विस्तार कर लिया था कि विलायत के अंग्रेज उसके प्राप्त होने की आशा ही नहीं कर सकते थे। इधर होलकर, सिन्धिया और भोंसले के अधीन इतना कम राज्य रह गया कि खर्च वगैरह बाद देकर साठ लाख रुपये वार्षिक की भी आमदनी उससे नहीं हो सकती थी। राज्य कम होने के कारण इन्हें सेना भी तोड़ देनी पड़ी। अकेले होलकर को ही २० हजार सवार कम करने का मौका आया। पहले तो ये वेतन न मिलने के कारण होलकर के सिपाही दरवाजे पर धरना देकर बैठे और जब वेतन मिल गया तो इन्हें उदर-विवाह के लिए उद्योग करने की चिन्ता हुई। क्योंकि इन्हें फौजी नौकरी का अभ्यास था। खेती-बाड़ी करना भूल गये थे और कितनों के पास खेती भी नहीं थी इधर शस्त्र न रखने का कानून बनने वाला था यह तो होलकर के सिपाहियो दशा थी। उधर सिन्धिया ने यद्धपि सेना तोड़ी नही थी, परन्तु राज्य की आमदनी कम हो जाने के कारण कुछ न कुछ काम निकाल कर सेना को उस काम पर भेज देते थे और उनकी लूट खसोट की ओर ध्यान नहीं देते थे। अथवा जिन छोटे मोटे

राजाओं की रक्षा करने की स्वीकृति अंगरेजों ने नही दी थी, उनसे अपना पुराना दावा उगाहने का एक काम रहा था, इसे सेना की मार्फत कराते थे परन्तु यह काम बहुत दिनों तक न पूर सकें और अन्त में पहले से जो बेकार पिंडारी थे उसमें सिंधिया के बहुत से सैनिकों के मिल जाने पर उनकी संख्या खूब बढ़ गई और पहले होलकर, सिन्धिया आदि की सेना के नाम से काम करने वाले पिण्डारियों को जब दूसरों का आश्रय न रहा तब वे अपने ही नाम से उदर निर्वाह करने लगे। उनके लिए मानों कोई बन्धन न होकर दशों दिशायें खुली थी पर इनका अधिक जोर चम्बल नदी तक ही था। इन लोगों ने शान्तिप्रिय और सुखी गृहस्थों को बहुत दु:ख दिया। इन लोगों को दबाने में अंगरेजों को भी बहुत कष्ट उठाना पड़ा। क्योंकि कभी इन पिण्डारियों की सेना २०,२५ हजार तक पहुंच जाती थी और कभी सौ पचास मील पर ही बड़े बड़े धावे कर देते थे। पिण्डारियों में प्राय: मुसलमान ही अधिक थे और उनके अगुआ भी मुसलमान ही थे। इनमें मराठे नाम-मात्र को ही थे। क्योंकि मराठों के पास वंशपरम्परा से प्राप्त भूमि आदि थी तथा वे मुसलमानों के सामन नंगे नही हो गये थे। उनमें प्रतिष्ठा की थोड़ी चाह भी थी। पिण्डारियों में प्रत्येक हजार में चार सौ सवार थे और ६०,६५ लोगों के पास बन्दूकें होती थी। शेष लोगों के पास भाला अथवा चाकू, हँसिया वगैरह होते थे। ऐसे लोगों ने ब्रिटिश सत्ता को कुछ न गिन दस वर्षों तक सकैड़ों मील के प्रदेश में मनमाना राज्य किया। परन्तु उनका घर सदा अपनी पीठ पर ही रहता था। मराठाशाही सैनिक वृति की निर्मल नदी सूख गई थी और पिण्डारियों का यह दुर्गन्ध पूर्ण नाला मात्र बह रहा था। पिण्डारियों ने कोई भी अपराध करने में कसर नही की थी, परन्तु यहाँ उनके चरित्र से हमें कोइ प्रयोजन न होने से उस सम्बंध में अधिक चर्चा करना उचित नही हैं।

उत्तर भारत में इस प्रकार बहुत अशान्ति थी, पर बाजीराव पेशवा को इस समय सब प्रकार से शान्ति थी और अग्रेजों की सहायता से उन्होने महत्व भी प्राप्त कर लिया था, परन्तु उन्होने इस शान्ति और महत्व का उपयोग अपने शत्रुओं से बदला लेने में किया। लोग बाजीराव से नहीं डरते थे। किन्तु रक्षार्थ जो ६,००० अँग्रेजी सेना सदा तैयार खड़ी रहती थी, उससे डरते थे। पहले ही सन् १८०४ के भयंकर दुष्काल के कारण महाराष्ट्र में हाहाकार हो रहा था, उस पर बाजीराव ने फ़िर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। अत: बहुत से मराठे उस समय पूना छोड़कर उत्तर भारत में सिन्धिया के आश्रय में रहने को चले गये। बाजीराव ने शत्रु पक्ष के सरदारों की जागीर को तो जप्त किया ही, किन्तु उन लोगों को भी जो उससे सरलतापूर्वक व्यवहार करते थे, गृह-कलह में बिना कारण अपना हाथ डाल कर बैठे-बैठे, एक को भागने और दूसरे को पकड़ने को कहने को नीति से काम लेना प्रारम्भ किया। स्वयम् ग्राण्ट-डफ साहब कहते है कि, "यदि बाजीराव के इस जघन्य और आश्रित जनों को

दुख: देने वाले कार्य को अंग्रेजों ने उस समय रोका होता, तो लोग भी सुखी होते और बाजीराव का राज्य भी कुछ अधिक दिनों तक रहता । परन्तु अंगरेजों ने तो पहले से ही राजनितिक कार्यों में अपनी पद्धति, इस कहावत के अनुसार रक्खी थी कि बिना बिके फूल तोड़ना नहीं और कच्चा फोड़ा फोड़ना नहीं।" इधर सरदारों की जागीर जप्त करते समय बाजीराव अंगरेज रेजीडेन्टों से अपना व्यवहार बहुत अच्छा कर लिया था। बाजीराव के मित्र मण्डल की बात ही क्या पूछना है? उसमें तो नादान दोस्तों की ही भरमार थी। हरिदास, पनभरें, आदि सबको उसने अपने मित्र मण्डल में एकत्रित किया था। उनके काम यहीं थे कि हँसी मजाक करना, लोगों को ठगना और समय पड़ने पर सरकारी राजकाज में उथल-पुथल कर डालना। बाजीराव के समय में कर्नल क्लोज, हेनरी रसेल और एल्फिस्टन इस प्रकार तीन ब्रिटिश रेजीडेन्ट आये और उसने अपनी मीठी बोली से तीनों को वश में कर लिया। रेजीडेन्ट के जितने जासूस पेशवा के दरबार में रहते थे, पेशवा के उतने ही जासूस रेजीडेन्सी में थे। इस कारण से दोनों ओर के गुप्त विचार दोनों को मालूम हो जाते थे। परन्तु पेशवा की ओर के समाचारों का उपयोग करने की जितनी बुद्धि रेजीडेन्सी में थी उतनी बाजीराव में नहीं थी। यद्यपि अंग्रेजों की सहायता से बाजीराव ने जागीरदारों पर अपना दबदबा बैठा लिया था, परन्तु राज्य रक्षा के कार्य के उपयोग में सदा आने वाले सरदार उससे बहुत अप्रसन्न हो चुके थे। बाजीराव ने अपने आश्रय में एक भी सरंजामदार न रख, स्वतन्त्र नई वैतनिक पैदल सेना बनाने और उस पर अंग्रेज अधिकारी नियत करने का विचार किया, यह काम अंग्रेजों के लिए तो लाभदायक ही था। क्योंकि एक तो पहले ही सरदारों की जागीरें जप्त करने के कार्य में रोक-टोक न कर बाजीराव के सिर पर अपने उपकार का भार लाद अंग्रेजों ने पेशवा और सरदारों का सम्बन्ध सदा के लिए तुड़वा दिया था, दूसरे उक्त सेना सम्बन्धी कार्य से बाजीराव के पूर्णरूप से अंग्रेजों पर अवलम्बित हो जाने की सम्भावना थी। बाजीराव की नयी सेना पर केप्टन जान फोर्ड साहब अधिकारी नियत किये गये। इस सेना में मराठों की भर्ती न कर परदेशियों ही की भर्ती की गई और भरती होते समय उक्त अंग्रेज सरदार ने तथा अन्य सैनिकों ने राजभक्ति की शपथ ली। इस शपथ में भी एक पुछल्ला जोड़ दिया गया। शपथ इस प्रकार ली जाती थी कि हम बाजीराव के साथ ईमानदारी से तब तक व्यवहार करेंगे जब तक बाजीराव का व्यवहार अंग्रेजों से ईमानदारी का रहेगा। इस प्रकार शपथ के भरोसे पर अवलम्बित होकर अपने पैसे से सेना रखने वाले राजा का उदाहरण महाराष्ट्र के सिवा अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सकेगा। इस नवीन सेना की छावनी पूना से वायव्य की ओर चार मील की दूरी पर डाली गई।

बाजीराव के समान दूसरे किसी पेशवा को इतनी शान्ति नहीं मिली, परन्तु वे इस शान्ति का उपयोग राज्य की सुव्यवस्था करने में न कर सके। निकम्मेपन में जैसी खराब बातें सूझती है, वैसी ही दशा बाजीराव की हुई। न तो वह स्वयं राजकार्यों को देखता था और न दूसरों को ही देखने देता था। वह ठेके से कार्य-भार सम्पन्न करने देता और जो आमदनी होती उसमें से बहुत सा हिस्सा अपने पास रख लेता था तथा राज्य के और निज के द्रव्य का उपयोग अनैतिक अनाचार और धार्मिक अत्याचारों के कामों में करता था। अपने आश्रित सरदारों की अप्रतिष्ठा आदि करने में ही उसकी बुद्धि का व्यय अधिक होता था और इस कार्य से जो कुछ बुद्धि बच जाती थी उसका उपयोग दुष्ट सलाहगीरों के कहे अनुसार दरबार के कार्यों को खेल समझकर उनके करने में होता था। अन्त में, इन्हीं खेलों में से हाथ से राज्य निकल जाने का अवसर उत्पन्न हुआ।

एल्फिन्स्टन साहब ने अपने स्थान पर बैठे ही बैठे गुप्तचरों के द्वारा यह जान लिया था कि पूना तथा महाराष्ट्र की प्रजा बाजीराव पर मन से अप्रसन्न है, परन्तु उनकी अप्रसन्न[illegible] [illegible]ारण बाजीराव को गद्दी पर से हटा कर प्रजा का कल्याण करने की इच्छा एल्फिन्स्टन साहब को नहीं थी और यदि उसके मन में इस काम के करने की इच्छा आई भी होती तो भी बाजीराव और अंग्रेजों के सम्बन्ध पर विचार करने से विदित होता है कि केवल प्रजा की अप्रसन्नता के आरोप पर बाजीराव को राज्य च्युत करना अंग्रेजों से हो नहीं सकता था। क्योंकि सन्धि के अनुसार बाजीराव को गद्दी पर बैठाने के समान उस पर उन्हें टिकाये रखने के लिए भी अंग्रेज सरकार विवश थी। अंग्रेज सरकार की सन्धि बाजीराव से हुई थी, प्रजा से नहीं, ऐसे मनुष्य के हाथ से पेशवा-राज्य ले लेने का कार्य अंग्रेजों के लिए केवल एक यही था कि वे सोचें कि बाजीराव प्रजा के साथ बेइमानी का व्यवहार करते करते भूल से अंग्रेजों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगे। अंग्रेजों ने उसे अपने इच्छानुसार चलने की स्वतन्त्रता तो दी थी, परन्तु यह स्वतन्त्रता दूसरों ही तक परिमित थी। ज्यों ही उसने अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अंग्रेजों के साथ किया त्यों ही अंग्रेजों ने उसे घेर कर औंधा दे मारा।

इस कार्य में अंग्रेजों को बाजीराव के एक मित्र की सहायता मिल गई। इसका नाम त्र्यम्बकजी डेंगला था। वास्तव में त्र्यम्बकजी अत्यन्त शूर, साहसी, हाजिर जवाब, कल्पनाशील और कार्यदक्ष पुरुष था। यदि वह नाना फड़नवीस सरीखे नीतिज्ञों के आश्रय में रहा होता, तो इतिहास में उसने बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त की होती। उसे पेशवा गद्दी की इतनी अप्रतिष्ठा सहन नहीं होती थी और वह अंग्रेजों को ही इसका कारण समझता था। पहले

सिन्धिया और होलकर ने मराठाशाही को अंग्रेजों के पास से निकालने का जिस प्रकार विचार किया था वही महत्वाकांक्षा त्र्यम्बक को भी थी। यद्यपि किसी राज्य का स्वामी न होने से त्र्यम्बक कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति नही था, तो भी उसका मन होलकर और सिंधिया के समान ही विशाल था। परन्तु उसने इस बात का विचार नहीं किया किया कि ऐसी दशा में जब कि मराठाशाही अंग्रेजों के पास में बहुत कुछ फँस चुकी है, उसके स्वामी डरपोक और नादान हैं और आश्रित सरदारों का मन प्रतिकूल है, अंग्रेजों को महाराष्ट्र से निकाल देना कहाँ तक सम्भव है? वह समझता था कि प्रयत्न करने पर सिन्धिया, होलकर और भोंसले फिर सम्मिलित हो सकेंगे, परन्तु यह उसका भ्रम था। उसकी महत्वाकांक्षा को कोई महत्व ही नहीं देता था। क्योंकि एक तो वह स्वयं उच्चकुल का नहीं था, तिस पर भी स्वभाव का तीखा और तेज था। उसे न्याय-अन्याय की परवाह नहीं थी, कर्तव्य का विवेक भी नहीं था और छोटी जाति का होने के कारण ब्राह्मण और मराठे सरदारों में भी उसकी प्रतिष्ठा नहीं थी। केवल हँसी-मजाक करने और भीतरी सलाहगीर होने के कारण बाजीराव पर उसका बहुत प्रभाव था। परन्तु बाजीराव, इतना नादान था कि वह त्र्यम्बक के साहस में भी विघ्न उपस्थित करने से नहीं चूकता था। अतः इन दोनों ने अपने नाश के साथ २ छत्रपति शिवाजी महाराज की स्थापित मराठाशाही का भी नाश कर दिया।

त्र्यम्बकजी के कारण अंग्रेजों और बाजीराव में बहुत दिनों से मन मोटाव चल रही थी। अंग्रेजी रेजीडेन्ट अच्छी तरह जानते थे कि त्र्यम्बकजी अंग्रेजों का पक्का द्वेषी है, परन्तु प्रगट रीति से उस पर यह दोषारोपण करने का उन्हें साहस नहीं होता था और केवल द्वेष का प्रमाण भी क्या हो सकता है? अतः अंग्रेज भीतर ही भीतर त्र्यम्बकजी के नाश की इच्छा करते थे और किसी अवसर की बाट जोहते थे। दैवयोग से उन्हें यह अवसर गायकवाड़ी प्रसंग के कारण अकस्मात् मिल गया।

गायकवाड़ और पेशवा में खन्डनी के सम्बन्ध में बहुत दिनों से झगड़ा चल रहा था। पेशवा ने गायकवाड़ पर अपना बहुत सा कर्जा निकाला था, परन्तु गायकवाड़ उलटा कहता था कि पेशवा पर हमारा कुछ कर्जा निकलता है। अतः पेशवा से झगड़ा तोड़ने के लिए गायकवाड़ ने गंगाधर शास्त्री पटवर्धन नामक अपना एक कारभारी अंगरेजों की मार्फत सन् १८१४ में भेजा। शास्त्री यद्यपि बड़ौदा का दीवान था, परन्तु उसके जीवन का बहुत कुछ भाग नीचे दर्जे का काम करने में व्यतीत हुआ था। अतः ऐसे मनुष्य का वकील बनकर समानता के नाते से बातचीत करने को आना बाजीराव को पसन्द नहीं हुआ। एल्फिन्स्टन साहब ने एक स्थान पर इस शास्त्री का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन किया है। वे लिखते हैं—"गंगाधर शास्त्री बहुत धूर्त और चतुर हैं।

इसने बड़ौदा राज्य की व्यवस्था बहुत उत्तम कर रक्खी है। पूना में बहुत खर्च कर बड़े ठाठ से रहता है और अपनी सवारी इस सजधज से निकालता है कि लोग देखते ही रह जाते हैं। यद्यपि वह पुराने ढङ्ग का है तो भी ठेठ अंगरेजों के समान रहने का अभिमान करता है। जल्दी-जल्दी चलता है और शीघ्रता से बोलता है। चाहे जिसे लौटकर जवाब दे देता है। पेशवा और उनके कारभारी को मुर्ख कहता है। "डैम—रास्कल" शब्द उसकी जबान पर रहते हैं बातचीत में बीच बीच में अंगरेजी शब्दों का भी प्रयोग कर देता है।" गायकवाड़ की ओर से अंगरेजों के द्वारा ऐसे मनुष्य का आना बाजीराव के दरबार में अप्रसन्नता का कारण होना एक सहज बात थी। गंगाधर शास्त्री को पूना में हिसाब लेते देते और बातचीत करते कराते एक वर्ष व्यतीत हो गया, क्योंकि शास्त्री का स्वभाव झगड़ालू और बाजीराव का चिकटा था। वे किसी बात का निर्णय शीघ्रता से करने वाले न थे। सन् १८१५ में बाजीराव पन्ढरपुर को गये। उनके साथ साथ गंगाधर शास्त्री भी गये और तारीख १४ जुलाई की रात्रि को बिटोवा मन्दिर के महाद्वार के रास्ते पर शास्त्री जी का खून हुआ। अपनी मध्यस्थता में आये हुए वकील का खून होने से अंगरेजों को बहुत क्रोध आया और इस खून का सन्देह त्र्यबकजी पर कर बाजीराव से उसको अधीन करने के लिए एल्फिन्स्टन साहब ने बार बार तकाजा करना शुरू किया।

किसी भी राज्य में यह कोई नियमित बात नहीं है कि सभी खूनों का पता लगता ही हो और अपराधियों को दन्ड मिलता हो। अभी भी कलकत्ते में यही स्थिति है कि खून हो जाते हैं, पर पता नहीं लग पाता। समाचार-पत्रों के पाठकों को विदित होगा कि कुछ दिनों पहले कलकत्ता में दिन भर नाकेबन्दी कर गस्त लगानी पड़ती थी। सम्भव है कि गंगाधर शास्त्री का खून भी इसी प्रकार का हो, परन्तु उसके दरबारी वकील होने के कारण इस दुर्घटना को राजकीय महत्व दिया गया था। इसके सिवा उस समय बाजीराव स्वमम् पन्ढरपुर में थे और उनके साथ साथ त्र्यबकजी भी था तथा खून के पहले मन्दिर में आने के लिए बाजीराव की ओर से शास्त्री से बहुत आग्रह किया गया था। तभी वह मन्दिर को गया भी था और त्र्यबकजी ठहरा अंगरेजों का द्वेषी और शास्त्री था अंगरेजों के वसीले का शिरजोर कारभारी, अतएव इस खून का सन्देह त्र्यबकजी पर होना और उसका बाजीराव तक पहुँचना स्वाभाविक था, परन्तु अंगरेजों ने ऊपरी दिखाऊ ढङ्ग से बाजीराव पर इसका उत्तरदायित्व न डाल कर त्र्यबकजी पर ही सन्देह रक्खा और यदि बाजीराव अंगरेजों के कहते ही तुरन्त त्र्यम्बकजी को उनके अधीन कर देते तो बाजीराव के प्रति अंगरेजों का मन निर्मल हो गया होता।

इस खून पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करना उचित है। वह यह कि यद्यपि शास्त्री, पेशवा और गायकवाड़ के विवाद को निपटाने के लिए गायकवाड़ की ओर से

अंग्रेजों की उत्तेजना प्राप्त करने के निमित्त आया था, परन्तु उसके निज के शत्रु भी बहुत थे। शास्त्री गर्विष्ठ और महत्वाकांक्षी भी था और उसे गायकवाड़ का पक्ष सत्य सिद्ध कर देने से ही सन्तोष नहीं था, बल्कि वह स्वयम् पेशवा का कारभारी बनना चाहता था। इस सम्बन्ध में एक इतिहासकार ने लिखा है कि—"गंगाधर सास्त्री बड़ौदा से यहाँ आया। इस कारण कलहका प्रारम्भ हुआ। दो चार माह बाद प्रभु (पेशवा) के कारभारी सदाशिव माणकेशवर और समुद्र पार रहनेवालों (अंग्रेजों) की ओर के मोदी सेठ को निकाल कर स्वयम् कारबार करने की उसकी इच्छा हुई। पर मोदी ने आत्महत्या करली, अतः प्रभु (पेशवा) को बहुत बुरा मालूम हुआ।" दूसरे, शास्त्री अपने निज के एक झगड़े को लेकर भी पूना आया था। कहा जाता है कि इसी झगड़े के प्रतिपक्षियों ने पन्ढरपुर में इसका खून किया और इसका प्रमाण बड़ोदा के पटवर्धनी दफ़तर के बहुत से कागजों में मिलता है। इस सम्बन्ध में कुछ वर्षों पहले मराठी केशरी में एक पत्रमाला प्रकाशित हुई थी। उस समय केशरी के सम्पादक, इस ग्रन्थ के मूल लेखक, स्वयं थे। वे विश्वासपूर्वक कहते हैं कि वे पत्र शास्त्री पटवर्धन के दफ़तर में काम किये हुए एक पदवीधारी द्वारा प्राप्त हुए थे। एलफिन्स्टन साहब के पत्र पर से भी यह बात सिद्ध होती है कि खून के पहले त्रयम्बकजी और शास्त्री जी में गाढ़ी मैत्री हो गई थी। इसलिये इस बात का प्रयत्न चल रहा था कि शास्त्री को बहस में लाकर उन्हें पेशवाई के कारभारी पद का लोभ दिखाया जाय जिससे वे हिसाब में बेईमानी से गायकवाड़ की हानि और पेशवा का लाभ कर सकें तथा यह भी निश्चित किया गया था कि बाजीराव की साली के साथ नासिक में शास्त्री जी का विवाह तुरन्त कर दिया जाय। शास्त्री जी का यह व्यवहार एलफिस्टन साहब को भी अखरा और उन्होंने स्पष्टता पूर्वक शास्त्री जी से कह दिया कि तुम्हारा यह व्यवहार कि गायकवाड़ के वकील बनकर आना और फिर पेशवा के कारभारी हो जाना अच्छा नहीं है। अतः शास्त्री ने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इसके सिवा त्रयम्बक जी और शास्त्री में द्वेष होने के और कोई उचित कारण नहीं दिखाये दिये। गोविन्दराव, बंडोजी प्रभृति शास्त्री के शत्रु पूना पहुँचकर फिर वहाँ से पन्ढरपुर गये थे। उस समय शास्त्री का खून होने का हल्ला उड़ने से पेशवा ने पहले उसकी रक्षा आदि के लिए उचित प्रबन्ध किया था। ये सब बातें छिपी नहीं थी। एलफिन्स्टन साहब का कहना है कि शास्त्री के खून का यह हल्ला त्रयम्बकजी ने जान बूझ कर फैलाया था और पेशवा का उस पर विश्वास भी नहीं था, परन्तु तो भी वे ऊपरी ढङ्ग से ऐसा प्रगट करते थे मानों इसे सत्य मानते हों, परन्तु एलफिन्स्टन साहब की इस बात के सुबूत कुछ अधिक नहीं हैं।

शास्त्री के पक्षपाती और पृष्ठ पोषक बापू भेराल ने शास्त्री के खून के बाद जो समाचार एलफिन्स्टन को लिखकर भेजें थे, उनमें लिखा था कि, "खून हो जाने के

दूसरे दिन शास्त्री के कर्मचारी ने त्रयम्बक जी के पास जाकर कहा कि आप शास्त्री जी के स्नेही और पेशवा के कारभारी हैं, अतः आपको इस खून का पता लगाना चाहिए।" इस पर त्रयम्बक जी ने उत्तर दिया कि, "मैं तो प्रयत्न करता हो हूँ, पर सन्देह किस पर किया जाय, कुछ पता नहीं लगता।" कर्मचारी ने कहा कि, "आपको यह मालूम ही है कि शास्त्री के शत्रु कौन-कौन हैं। मालूम होता है कि इस कार्य में उन कर्नाटक वालों का हाथ रहा होगा।" त्रयम्बक जी ने कहा—"होनहार टलती नहीं है। एक तो प्रभु सीताराम है और एक गायकवाड़ में से तुमने कान्होजी गायकवाड़ को कर्नाटक में रक्खा है, परन्तु इनमें से किसी पर सन्देह किस प्रकार किया जाय ? तो भी मैं प्रयत्न करता हूं।" बापू भेराल की ये सब बातें रेजीडेन्ट ने एल्फिन्सटन साहब को लिखकर भेजी थी, परन्तु लिखने वाले ने एल्फिन्स्टन साहब को ऐसा ध्वनित नहीं किया है कि यह खून त्रयम्बजी ने कराया है। बड़ोदा के बराडोजी और भगवन्तराव पर शास्त्री के पक्ष वालों का सन्देह था, परन्तु वे कैद नहीं किये गये और पंढरपुर में साहब के मतानुसार इस खून का पता लगाने की कोशिश जैसी चाहिए वैसी नहीं कि गई। अतः एल्फिन्स्टन साहब ने इस पर अब यही निश्चय किया कि इस अपराध में त्रयम्बकजी का हाथ रहा होगा और इसी सन्देह पर आगे की कारवाई की इमारत उठाई गई। इतिहासकार ने लिखा है—"जलचरों (अंग्रेजों) ने प्रभु पेशवा से कहा कि शास्त्री से आपके लोगों ने दगा किया है, इसलिए उन लोगों को हमारे अधीन करो। तब पेशवा ने बहुत ही संकटपूर्ण त्रयम्बकजी डेंगल को अंग्रेजों के अधीन कर दिया। गँगाधर शास्त्री के खून के सम्बन्ध में जो वर्णन ऊपर किया गया है वह यदि सत्य माना जाय तो यह सहज ही समझ में आ जायगा कि त्रयम्बक जी को अंगरेजों के अधीन करने में बाजीराव को क्यों कष्ट होता था। त्रयम्बक जी अंगरेजों का द्वेषी होने के कारण एल्फिन्स्टन साहब के मन में खटकता था, परन्तु वे केवल इसी कारण से उसे अपने अधीन करने के लिए बाजीराव से भी नहीं कह सकते थे और यदि कहते भी तो बाजीराव भी उन्हें स्पष्ट उत्तर देते। राजकीय प्रति पक्षी पर खून का आरोप लगाना आग उभाड़ने के लिए एक उत्तम साधन है यदि यह साधन अनायास ही कर्म-धर्म सयोग से प्राप्त हो जाय, तो चतुर नीतिज्ञ उससे लाभ उठाने में नहीं चूकते, यह एक सर्वदेश और सर्वकाल की अनुभव सिद्ध बात है। मालूम होता है कि इसी तरह की यह भी एक धटना हुई होगी। क्योंकि शास्त्री जी के पक्षपातियों को खून के सम्बन्ध में त्रयम्बक जी पर सन्देह करने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल एल्फिन्स्टन साहब का ही उन पर सन्देह था और इसी सन्देह पर अंग्रेजों ने बाजीराव को चंगुल में ले लिया।

पूना-विवासियों के मतानुसार भी त्रयम्बक जी पर बाजीराव का बहुत विश्वास

था और इसीलिए उन्होंने त्रयम्बक जी को बड़े कष्ट से अंगरेजों के अधीन किया था, त्रयम्बक जी ने अंगरेजों की कैद से भाग जाने का साहस-पूर्ण प्रयत्न किया, तब तो उस पर उनका और भी अधिक विश्वास हो गया और वे समझने लगे कि यह पराक्रमी पुरुष अवश्य हमें अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ायेगा। अतः उन्होंने त्रयम्बक जी को गुप्त सहायता देने का और सिंहगढ़, रायगढ़ आदि किलों पर युद्ध सामग्री संग्रह करने का कार्य प्रारम्भ किया। इनसब बातों को देखकर अंगरेजों का सन्देह स्वभावतः दुगुना हो गया और वे कहने लगे कि त्रयम्बक जी श्रीमन्त से फूलगांव में आकर गुप्त रीति से मिलता है और पूना के आसपास जिन पिण्डारी सवारों की टोलियाँ फिरा करती है वे वास्तव में त्रयम्बक जी के आश्रित सवारों की टोलियाँ हैं तथा पिण्डारियों पर श्रीमन्त की अप्रसन्नता नहीं है। अंगरेजों के इस आरोप के समान ही लोगों का भी विश्वास था और त्रयम्बक जी पर बाजीराव का आश्रय होने के कारण उसके आने जाने के समाचार भी लोग छिपाते थे, अतः अंगरेजों ने यही निश्चय किया कि बाजीराव पर विना शस्त्र उठाये त्रयम्बक जी का हाथ नहीं लगेगा। सन् १८१७ के मई मास के लगभग एल्फिन्स्टन साहब, जनरल स्मिथ को पूना लाये और एक चिट्ठी बाजीराव के पास भेजी कि—"एक मास के भीतर त्रयम्बक जी को हमारे अधीन करो और उसकी जामिन के तौर पर रायगढ़, सिंहगढ़ और पुरन्दर के किले शीघ्र हमारे सुपुर्द करो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो तुम पर आक्रमण करने के लिए सेना को आज्ञा दी जायगी।" बाजीराव तो पहले से ही बड़े सोच विचार में पड़ा हुआ था, फिर उसके आश्रय में रहने वालों का स्वभाव प्रायः प्रत्येक बात के सम्बन्ध में टालमटोल करने और इस तरह समय निकाल देने का था। इसी तरह इस सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत कुछ समय तो निकाल दिया और जब तक मुद्दत का एक आध दिन ही रह गया तब बाजीराव के कर्मचारी प्रभाकरपन्त जोशी और बापू कवड़ीकर ने साहब के पास एक दो बार जाकर, बाजीराव से झूठ ही यह कह दिया कि साहब ने विचार करने के लिए दो दिन का समय और दिया है। बाजीराव इन दो दिनों के विश्वास में थे कि उधर एल्फिन्स्टन ने ता० ७ मई के प्रातःकाल तक बाजीराव के उत्तर की बाट जो ही और तारीख ८ का उदय होते ही पूना से दो मील की दूरी पर चारों ओर सेना का घेरा डालकर नाकेबन्दी की, अतः लाचार होकर बाजीराव को त्रयम्बक जी के पकड़ने का विज्ञापन निकाल कर, तीनों किले अंगरेजों के अधीन करने की चिट्ठी देना पड़ा। तब स्मिथ साहब ने घेरा उठाया और एल्फिन्स्टन साहब अपने स्थान संगम को लौट गये।

इतना सब कुछ हो जाने पर भी बाजीराव को समाधान नहीं हुआ। वह पूना से बाहर निकल जाने का विचार करता और बाड़े के पास सेना को सदा तैयार रखता

था। खोटी सलाह देने वाले कहते थे कि सिन्धिया, होलकर, भोसले और अमीर खाँ की सहायता से सरकारी सेना अंगरेजी फौज के छक्के छुड़ा देगी और ये बातें भोले बाजीराव को सत्य मालूम होती थी। परन्तु वह यह भी समझता था कि नाशकाल समीप होने पर इतनी दूर से सेना की सहायता मिलनी असम्भव है, अत: उसने ऊपर से सन्धि और भीतर से सेना एकत्रित करने का विचार किया। मोरोदीक्षित के द्वारा सन्धि की शर्तें तय हुई जिसमें पहले की बसई और पूने की सन्धियों का समर्थन करने के सिवा यह निश्चय किया गया कि—"राजा, सरदार आदि के वकील आदि बाजीराव अपने दरबार में न रक्खे, इनसे जो कुछ बातचीत करनी हो अंगरेजों के वकील के द्वारा की जाय, अंगरेजों से स्नेह रखने वाले करवीरकर, सावन्तवाड़ीकर प्रभृति पर बाजीराव अपना कुछ अधिकार प्रगट न करें और सिन्धिया, होलकर प्रभृति का राज्य जो नर्मदा और तुंगभद्रा के बीच में हो उस पर भी बाजीराव अपना अधिकार प्रगट न कर सकें, बाजीराव को अपने यहाँ अंग्रेजों के पाँच हजार सवार, तीन हजार पैदल, तोपखाना और अन्य सामान सदा रखना और उसका खर्च देना होगा, इस खर्च के लिए जो ३४ लाख की आमदनी का प्रदेश और उसके किले अलग निकाल दिये जाँयगे, उन पर पेशवा सरकार का कुछ हक न होगा, अहमदनगर के किले की सीमा के बाहर की चारों ओर की ४००० हाथ जमीन और अंग्रेजी सेना की छावनी के पास की चरोखर पेशवा अंगरेजों को देंगे, तैनाती फौज के सिवा अंगरेज अपने खर्च से मनमानी सेना पेशवा के राज्य में रख सकेंगे, इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जायगी और उत्तर भारत का अधिकार और शासन, पेशवा अंग्रेजों के अधीन कर देंगे और सन्धि की शर्तों की सत्यता के विषय में विश्वास दिलाने के लिए त्र्यम्बकजी के बाल बच्चे अंग्रेजों के सुपुर्द करने होंगे।"

इस सन्धि से बाजीराव के हाथ-पाँव तो खूब जकड़ गये, पर अंग्रेजों के पन्जे से छूटने की उसकी इच्छा नष्ट नहीं हुई। बाजीराव न मालूम किसके बल पर लड़ना चाहता था, पर इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध करने की उसकी पूर्ण इच्छा थी। ऊपर लिखी हुई सन्धि हो जाने के बाद जब पुरन्दर, सिंहगढ़ और रायगढ़ के किले उसे वापिस मिले, तो उसने अपने जवाहिरात, धन-दौलत और चीज-वस्तु सिंहगढ़ को तथा अपनी बड़ी स्त्री और घर की देव-मूर्तियाँ आदि रायगढ़ को भेज दी और आप स्वयम पहले पण्ढरपुर में और फिर अधिक श्रावण मास होने के कारण माहुली में जाकर रहे। वहाँ फिर आगे के लिये युद्ध की सलाह और जमाव होना शुरू हुआ।

इधर पिण्डारियों की धूमधाम चल रही थी। अत: उनका प्रबन्ध करने के लिए जनरल मालकम हैदराबाद से १८१७ के अगस्त मास में पूना आये और जब यह

देखा कि पेशवा पूना को नहीं आते हैं तो आप स्वयं बातचीत करने के लिए माहुली को गये और बाजीराव से कहा कि पिण्डारियों का प्रबन्ध करने के लिए अंग्रेजी फौज जा रही है, आप भी अपनी सेना दीजिए। बाजीराव सेना एकत्रित करना ही चाहता था, अतः उसे अनायास ही यह अवसर मिल गया और इससे लाभ उठाकर उसने सेना भर्ती करना आरम्भ कर दिया। बाजीराव की इच्छा थी कि मेरे कार्य में सतारा के महाराज भी सम्मिलित हों, क्योंकि उनके नाम पर सरदारों से जितनी सहायता मिलने की आशा थी उतनी बाजीराव के नाम से नहीं थी। सतारा के दरबार में इस विषय पर दो मत थे। परन्तु अन्त में बाजीराव की इच्छा पूर्ण हुई और यह निश्चय हुआ कि महाराज के साथी वंसोटा के किले में रहें और महाराज बाजीराव के साथ रहें। भाद्रपद मास में बाजीराव पूना लौट आये और अपने २००० सवार स्मिथ साहब के सहायतार्थ उत्तर भारत को रवाना किये। यद्यपि बाजीराव के इतने निजी सवार उनके पास से दूर होने वाले थे, पर साथ में जो अंगरेजी सेना जा रही थी वह भी दूर होती थी तथा इस काम में बाजीराव सन्धि पालन के लिए तन-मन से तैयार हैं। यह भी ऊपरी ढंग से प्रगट करता था। ऊपर तो मोरोदीक्षित तथा फोर्ड साहब के द्वारा अंग्रेजों से सफाई की बातचीत होती थी; परन्तु भीतर ही भीतर बापू गोखले के द्वारा झगड़ा करने की तैयारी हो रही थी। अन्त में सब सरदारों को मिलाने के प्रयत्न शुरू हुए और एक करोड़ रुपयों के व्यय से सैनिक सामान संग्रह करना निश्चित हुआ। घुलप के द्वारा सैनिक जहाजों की मरम्मत कराई जाने लगी, किलों पर अनाज भरा गया और सेना भर्ती होने लगी। पेशवाई के कितने ही कारभारियों को अंग्रेजों से विगाड़ करना उचित प्रतीत नहीं होता था। ऐसा मालूम होता है कि बाजीराव की अपेक्षा वे अपने पक्ष के बलाबल को अच्छी तरह जानते होंगे। कुछ भी हो पर उनका अतःकरण कहता था कि इस समय बाजीराव की बुद्धि ठिकाने नहीं है। इधर बाजीराव के निजके अनाचार भी कम नहीं हुए थे, वे भी बराबर जारी थे। एक बार पूना में यह जनश्रुति भी उड़ी थी कि बाजीराव ने अपनी एक प्रिय स्त्री को पुरुष का वेश करा और जवाहिरात पहिना कर गद्दी पर बैठाया और स्वयम श्रीमन्त ने (बाजीराव पेशवा ने) उसके सेवक बनकर उस पर चंवर करने का खेल खेला। इस पर लोगों ने यह कहना शुरू किया कि श्रीमन्त का अब पूर्ण दुर्देव आ गया है जिसके कारण जो दुराचार किसी ने नहीं किये उन्हें वे कर रहे हैं। अंग्रेजों से अन्तिम सामना कर राज्य नष्ट करने के अवसर पर केवल एक बापू गोखले पर अवलम्बित होना उचित नहीं था और न बाजीराव में ऐसे समय जिन उद्योग, आवेश और गाम्भीर्य आदि गुणों की आवश्यकता होती है वे भी नहीं थे, लोगों को यह सब साफ दिखाई दे रहा था।

पेशवा समझते थे कि अंग्रेजों से बिगाड़ करने में सिन्धिया हमारे सहायक होंगे परन्तु यह उनका भ्रम था। क्योंकि एक तो सिन्धियाँ सन्धि के कारण पहले ही जकड़े हुए थे, अतः बिगाड़ होने पर पहला तड़ाका लगने का उन्ही को भय था, दूसरें पन्द्रह वर्ष पहले सिन्धिया पूना में उथल-पुथल कर जब उत्तर भारत को चले गये थे तब से वह पेशवा से अलग-अलग रहते थे। फिर सिन्धिया तथा बाजीराव में प्रेम रहने का कोई कारण भी नहीं था। सन् १८१२ में सब मराठों का मिलकर अंग्रेजों को हानि पहुँचने की कल्पना सदा के लिए नष्ट हो चुकी थी। इधर अंग्रेजों ने जब देखा कि बाजीराव सिर उठाने वाला है तो उन्होंने पिण्डारियों का नाश करने के बहाने सिन्धिया से तारीख ५ नवंबर सन् १८१७ को बारह शर्तों की एक नवीन सन्धि की और हौलकर तथा भोंसले के यहाँ भी नई शर्तों का कुछ सिलसिला जमाया परन्तु वहाँ जैसा चाहिए वैसा फल नहीं हुआ। मालूम होता है कि अँग्रेजों की सेना को बहकाने का भी प्रयत्न किया गया था।

इतिहासकार ने लिखा है कि, "विनायक श्रोतो, वामन भटकर्वे और शंकराचार्य स्वामीश ने अंग्रेजों की सेना में षड़-यन्त्र कराने की सलाह दी और कुछ रकम लेकर षड़यन्त्र करने के लिए गये। न मालूम इस समय कितने लोगों ने बाजीराव से इसी षड़यन्त्र के बहाने कितने रुपये ठगे? सोड्रूकर यशवन्त घोरपड़े ने इसी सलाह के लिए ५० हजार रुपये लिये और इस सलाह को गुप्त रखने की प्रतिज्ञा की। परन्तु ग्राण्ट डफ साहब ने लिखा हैं कि—"यह भीतर ही भीतर सब समाचार एल्फिन्स्टन साहब को पहुँचाता था।" बाजीराव की इच्छा थी कि एक दिन एल्फिन्स्टन साहब को मेहमानी के लिए बुलाया जायँ और उनका खून किया जाय या त्रयम्बकजी के आश्रित रामोशिया के द्वारा किसी रात्रि को यह कार्य कराया जाय, परन्तु कहा जाता है कि बापू गोखले के विरोध करने से यह आसुरी कृत्य न हो सका। बाजीराव चाहता यह था कि अंग्रेजों की सेना में विद्रोह उत्पन्न हो; परन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि आश्रित लोगों के विद्रोह ने कैसा भयंकर रूप धारण कर रक्खा है। पेशवा के वाड़े में जो गुप्त सलाहें होती थी वे तुरन्त ही अंग्रेजी के पास पहुँच जाती थी। जिन्होंने प्रत्यक्ष में अंग्रेजों की नौकरी स्वीकार कर ली थी, वे बाला जी पन्त सरीखे मनुष्य तो बाजीराव के विरुद्ध थे ही, परन्तु जो बाजीराव के आश्रय में रहकर उसका वेतन लेते थे वे भी उस पर अप्रसन्न होने अथवा रिशवत लेने के कारण भीतर ही भीतर अंग्रेजों से मिले थे। बाजीराव यह अच्छी तरह जानता था कि लोग मुझसे अप्रसन्न हैं, अतः उसने जिन लोगों की जागीरें जप्त कर ली थी वे उन्हें वापस कर दी और सब लिखित अधिकार बापू गोखले को देकर अपने अविश्वास करने वाले सरदारों को विश्वास का प्रत्यक्ष आश्वासन दिया, परन्तु पटवर्धनादि बूढ़े-बूढ़े सरदारों की अप्रसन्नता

वह दूर नहीं कर सका। क्योंकि जप्त हुई जागीरें वापस करने का आग्रह कर एल्फिन्स्टन साहब ने पटवर्मनादि बहुत के सरदारों को अपना ऋषी और स्नेही वना लिया था।

बाजीराव और एल्फिन्स्टन साहब की मुलाकात बारम्बार होती थी। ये दोनों ही बड़े मिठ बोल थे। अतः इसकी कल्पना हर एक कर सकता है कि ये दोनों भरोसा और सफाई की बातें किस प्रकार करते रहे होंगे ? इन दोनों की अन्तिम मुलाकात ता० १४ अक्टूबर सन् १८१७ को हुई जिसमें बाजीराव ने दशहरा बाद पिराडारियों पर की हुई चढ़ाई के लिए अंग्रेजों के सहातार्थ सेना भेजना स्वीकार किया। दशहरा के दिन एल्फिस्न्टन सासब और बाजीराव सदा के समान सिलगन गये और वहाँ सेना की सलामी लेने को दोनों खड़े हुए, परन्तु नारोपन्त आपटे के सवारों ने कुछ अभिमान पूर्ण व्यवहार किया और फिर दोनों ने भी जैसी चाहिए वैसी परस्पर में सलामी नहीं की। दोनों शहर लौट आये। बस, यहीं से विगाड़ होना आरम्भ हुआ और वह दिन पर दिन शीघ्रता से बढ़ता गया। तारीख २५ अक्टूबर से पूना में चारों ओर से सवार और सिपाही एकत्रित होने लगे और अंग्रेजों की छावनी के आस-पास पेशवा की सेना की टुकड़ियाँ डेरा डाल कर रहने लगों। तब द्वीप के अँग्रेजों ने अपनी स्त्रियाँ दापोड़ी को भेज दी और बम्वई से गोरे सिपाहियों की पलटन बुलाने का प्रयत्न किया। उनके आ जाने पर उन्हें गारपिर की छावनी में न ठहरा कर खड़की में ठहराया। अश्विन कृष्ण ८ के दिन विश्रामसिंह नायक ने गणेश खिराडी के नजदीक लेफ्टिनेराट शा नामक गोरे अधिकारी को भाला भोंक दिया तथा अँग्रेजों की सेना गारपिर छावनी छोड़ कर खिड़की को जा रही थी तो मराठी फौज ने उनका पड़ाव लूट लिया। पहले तो छेड़-छाड़ शुरू करने का दोष एक दूसरे पर मढ़ने के प्रयत्न दोनों ओर से हुए, परन्तु अन्त में तारीख ५ को युद्ध प्रारम्भ हुआ। बाजीराव निकल कर पर्वतों पर चला गया और एल्फिस्न्टन भी संगम पर वकील की इमारत की रक्षा होना कठिन जान सब आदमियों के साथ खड़की को चला गया। शहर में धूम-धाम शुरू हुई। चतुःशृंगडी के पर्वत से लेकर भाँवुर्डा तक घोड़ों की टापों और तोपों की गाड़ियों की आवाज के सिवा कुछ भी सुनाई नहीं देता था। पहले दिन के आक्रमण में पेशवा के घुड़सवारों की विजय हुई, परन्तु पैदल सेना की सहायता समय पर न मिलने के कारण अन्त में उन्हें हारना पड़ा। बाद बापू गोखले ने स्वतः आक्रमण किया, परन्तु उन्हें भी पीछे हटना पड़ा। दूसरे दिन मराठी सेना के भाग खड़ी होने से उसका ही नाश हुआ और खड़की की लड़ाई में अँग्रेजों की विजय हुई। नारोपन्त, आपटे, माधवराव, रास्ते आवा, पुरन्दरे, पटवर्धन आदि में से कुछ सरदार बापू गोखले के सहायतार्थ थे, परन्तु अँग्रेजों की ओर से तोपों की मार शुरू होने के कारण

मराठी फौज को निरूपाय होकर पीछे हटना पड़ा। पेशवा की ओर के मोरोदीक्षित, प्रभृति कुछ प्रतिष्टित पुरुष भी मारे गये। यद्यपि पेशवा के सिपाहियों ने संगम पर अंग्रेजी बंगला जला दिया और लूटा भी, पर मुख्य युद्ध में हारने के कारण और घोड़ों आदि की खराबी होने के कारण बहुत नुकसान पेशवा का ही हुआ। बाजीराव २००० सवारों के साथ पर्वती पर थे। वहाँ से उन्होंने मन्दिर की छत पर से खड़की का युद्ध देखा और लड़ाई का अन्त होने के पहले ही उसके रंग-ढंग को देखकर वे सवारों के साथ सासवड़ को भाग गये। लड़ाई के पहले जब पर्वती को जाने के लिए वह शुक्रवार के बाड़े में से निकला उस समय उसके जरी के निशान का डंडा टूट गया और अन्त में इस टूटे हुए डंडे ने अपना गुण दिखला दिया अर्थात् बाजीराव ने शुक्रवार के बाड़े में से जो एक बार पाँव बाहर रक्खा वह फिर भीतर नहीं हुआ। बाजीराव फिर पूना न देख सके।

खड़की के युद्ध में अँग्रेजों को जय मिलने पर भी अँग्रेजी सेना खड़की ही में टिकी हुई थी, क्योंकि एल्फिन्स्टन साहब जनरल स्मिथ की बाट देख रहे थे। जनरल स्मिथ और एल्फिन्स्टन से यह संकेत हो चुका था कि जिस दिन तुम्हें पूना की डाक न मिले उसी दिन तुम समझना कि युद्ध प्रारम्भ हो गया और घोड़ नदी से अपनी तरफ सेना लेकर तुरन्त पूना पर आक्रमण कर देना। तारीख ५ नवम्बर की डाक चूकते ही स्मिथ साहब फौज लेकर रवाना हुए। रास्ते में मराठे सवारों की सेना ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। तारीख १३ को वे पूना पहुँचे। तारीख १५ और १६ को उनकी सेना और मराठी सेना के साथ घोरपड़ी नदी पर युद्ध हुआ। तारीख १६ की रात्रि को पेशवा की बची हुई सेना पीछे हटी और बापू गोखले आदि सरदारों के साथ उसने सासवड़ का रास्ता पकड़ा। तारीख १७ को एल्फिन्स्टन और स्मिथ साहब ने बालाजी पन्त, नातु प्रभृति लोगों के साथ पूना में प्रवेश किया और उसी दिन कार्तिक शुक्ल ६ सोमवार को तीसरे पहर से शनिवार के बाड़े पर अँग्रेजों का झंडा फहराने लगा और मानों यह प्रगट करने लगा कि अब मराठाशाही का अन्त हो गया।

बाजीराव के भाग जाने के कारण पूना चारों ओर से खाली हो गया था। जब स्वयम् स्वामी और उनके साथी मुख्य-मुख्य सरदार भी देश को छोड़ गये तो फिर पूना का बचाव कौन करता? यदि बाजीराव जनता को प्रिय होते तो उनके पीछे पूना की रक्षा करने के लिए जनता ने भी कुछ प्रयत्न किया होता, परन्तु बाजीराव ने कब इस पर विचार किया था? उन्होंने ने तो न कभी अपना बलाबल देखा और न कभी किसी को प्रसन्न रक्खा। यद्यपि उनके पास सेना और रसद बहुत

थी और बापू गोखले के समान शूर सिपाही भी थे, परन्तु उनकी सेना न तो सुशिक्षित थी, न उसका उचित प्रबन्ध था, न वह अस्त्र-शस्त्र से पूर्ण मुसज्जित ही थी, और न उसमें शासन और पद्धति ही थी। इसके सिवा लोगों की सहायता भी न थी। केवल ठग विद्या और उद्दण्डता थी। खड़की की लड़ाई का अन्त होने के पहले ही बाजीराव ने भागना प्रारम्भ कर दिया और उसके समाप्त होने पर पुरन्दरे, गोखले आदि सरदार भी भाग कर बाजीराव से जा मिले। पहले तो इन सरदारों को बाजीराव का पता ही नहीं लगा, पर अन्त से ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सासवड़ में जाकर बाजीराव से मिले। वहाँ से सब मिलकर पहले जूंजरी को और फिर माहुली को गये। लगभग छः माह तक बाजीराव के भागने का यह क्रम रहा कि वह आगे और अंग्रेजी सेना उसके पीछे रहती थी। इस समय पूना में जो कुछ हुआ उसका वर्णन इतिहासकार की फुटकर, किन्तु ओजस्विनी भाषा में, यहाँ दिया जाता है।

"शक १७३९ की आश्विन वदी ११ से पौष मास के अन्त तक पूना में खूब धूम धाम रही। बाजीराव के भाग जाने पर शहर की नाकेबन्दी की गई, परन्तु इससे लोगों की रक्षा न हो सकी। पेशवा के कितने ही राजवाड़ों की डेवड़ी पर सिवा सिपाहियों के और कोई नहीं रहा। बालाजीपन्तनाथ ने इन पहरेदारों को भी निकाल दिया और कहा कि अपने स्वामी के आने के बाद तुम आना अभी तुम्हारे लिए कुछ काम नहीं है। तब इस पर वे लोग अपना सामान और अस्त्र-शस्त्र लेकर चले गये। इन लोगों में कुछ ऐसे भी थे जो सिर देकर पड़े रहे, हटे नहीं तब इन्हीं लोगों से बाड़े के प्रबन्ध का काम कराया गया। पूना में प्रति रात को तोप छूट कर नाकेबन्दी होने की रीति थी। तदनुसार पहले दिन तोपें छोड़ने की आज्ञा दी गई, परन्तु उस दिन यह स्थिति थी कि गोलन्दाजों के पास न तो बारूद थी और न बारूद ठूँसने के गज। दूसरे दिन बारूद आदि का प्रबन्ध कर तोपें छोड़ने का कार्य प्रारम्भ किया गया। केवल मुहर्रम में कतल की रात के दिन तोप नहीं छोड़ी गई और खेलने वालों को तथा ताजिया वालों को खेलने और जुलूस निकालने की इजाजत दी गई। साहब ने अपने आदमियों को आज्ञा दे दी थी कि इन लोगों से कोई न बोले और जैसी चाल चली आई हो उसी के अनुसार काम करने दिया जाय। इस प्रकार की डुग्गी पिटाई गई कि पहले की लूट की जिसके पास जो चीजे हो, लौटा दी जायँ। तब जकाते की हवेली के पास लूटे हुए माल का ढेर हो गया। राज्य क्रान्ति के समय चोरों को इस प्रकार के अवसर मिलते ही है। साहब ने एक सूचना शहर की कोतवाली पर लगा दी कि सब लोग उद्यम व्यापार करें, दंगा-फसाद न करें। किसी प्रकार का नवीन कर आदि नहीं बैठाया

जायगा। परन्तु व्यापार उद्यम किसे सूझता था? सबको यहीं चिन्ता थी कि जो कुछ है वह किस प्रकार बचाया जाय? पूना में डाके पड़ने लगे। अपराधियों को भय दिखलाने के लिए मालमता सहित पकड़े हुए कुछ चोरों को फांसी भी दी गई, परन्तु उससे भी काम नहीं चला। तब सब लोग मिलकर एलफिन्स्टन साहब के पास गये। साहब की नजर करने के लिए कोई शक्कर और कोई बादाम ले गये थे। हरेश्वर भाई अगुआ थे। साहब ने कहा—"कि प्रसन्नता से रहो। तुम्हारे स्वामी शीघ्र आवेंगे, हम तुम्हारे स्वामी को लेने जाते हैं। हरेश्वर भाई और बालाजीपन्त नाथ से कहा गया कि नये आदमी नौकर रखकर नगर का प्रबन्ध करो। साहब भी ऐसे समय में चोरों का प्रबन्ध कहाँ तक कर सकते थे। साहब से कहने गये तो साहब ने कहा कि "उसकू ल्याव, हम फांसी देगा।" पहले चोर पकड़ा भी तो जाय फिर उसे फाँसी दी जाय? व्यापारियों ने कहा साहब वह कैसे पकड़े जावेंगे। साहब ने उत्तर दिया—"तो हम क्या करें। चोर उपर हम जाते नहीं।" यह उत्तर सुनकर व्यापारी रोते-रोते घर लौट आये और अपनी ओर से वेतन देकर पहरे वाले नौकर रख अपना प्रबन्ध आप करने लगे।

एल्फिन्स्टन साहब द्वीप छोड़ कर गारपिर में छावनी डाल कर रहते थे और वहीं से उनका काम चलता था। उनकी छावनी पर भी पत्थर फेंके जाते थे और सौ पचास रामोशी मिलकर जो कोई मिलता उसे लूट लेते थे। इस लिए रात भर गश्त दी जाती थी। अन्त में अरजुनी नायक रामोशी ने शहर में डाके न पड़ने देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। तब उसे पगड़ी बँधाई गई।

कार्तिक बदी ३ से पूना में बाजीराव के सम्बन्ध में प्रतिदिन एक दूसरे के विरुद्ध बेसिर पैर की नई अफवाहें फैलने लगी। उनके फैलाने वाले तथा सुनकर विश्वास करने वाले भी ऐसे बहादुर होते थे कि वे कहने-सुनने में आगा पीछा सोचते ही न थे। बाजीराव जीतें या हारें, इसकी उन्हें परवाह न थी, पर उन्हें विश्वास था कि बाजीराव एक बार पूना फिर आवेंगे। लोगों को यह बात निस्सन्देह मालूम होती थी कि उत्तर भारत में पहुँचने पर सिन्धिया और होलकर बाजीराव की सहायता करेंगे। जनता को दिल से यह विश्वास था कि अन्त में फिरंगियों की बात नीची और श्रीमन्त की ऊँची अवश्य होगी, परन्तु अन्त में ये आशायें व्यर्थ हुई। पूना में कितने ही दिनों तक यह क्रम रहा कि लोग दिनभर मनसूबा बांधते और छिपछिप कर बातें करते थे तथा रात्रि को नाकेबन्दी की तोप की आवाज सुनकर निराश हो जाते थे। पूना के बाहर से सिन्धियाँ, होलकर, भोंसलें आदि के पास से जो डाक आती थी उस पर देख रेख रक्खी जाती थी। बाजीराव के आने के समाचारों से लोगों में बार बार हलचल हो उठती थी, अतः अंग्रेजों को शहर में बारम्बार स्थान-स्थान पर नाकेबन्दी करनी पड़ती

थी और शनिवार बाडे पर तोपें भी चढ़ाई गई थी। कुछ सरकारी भगवा निशान जो कोतवाली और बाजार के बाकी बच गये थे वे भी निकाल डाले गये और उनकी लकड़ियाँ उखाड़ डाली गई। इन झंडों के पास वाले अंग्रेजी निशान ही बाकी बच रहे। और वह ठीक भी है, भगवां निशान रहने देने का कारण ही क्या था। क्योंकि बाजीराव के सुख समाधान पूर्वक शीघ्रता से अधीन हो जाने पर उसे पूना ला कर गद्दी पर बैठने का एल्फिन्स्टन साहब का विचार तो था ही नहीं।

तारीख २२ नवम्बर से जनरल स्मिथ ने बाजीराव का पीछा करना प्रारम्भ किया। इधर पूना में शान्ति हो जाने पर महाराष्ट के सम्पूर्ण जागीरदारों और सरदारों के नाम तारीख ११ फरवरी सन् १८१८ को सूचना भेजकर यह कहा गया कि बिना कारण और बिना कुछ झगडे के पेशवा ने अंग्रेजों से बिगाड़ किया परन्तु इसके लिए अँग्रेज दूसरों को हानि नहीं पहुँचाना चाहते। सबको अपने अपने स्थान पर सुख सन्तोष से रहना उचित है जिससे कि युद्ध के पहले के दिनों के समान सब अपना अपना कार्य कर सकें। इस सूचना के कारण बाजीराव को कहीं भी अधिक सहायता न मिल सकी। सिंहगढ़ और रायगढ़ में युद्ध हुआ और सासवड़ में भी दोनों ओर से कुछ तनातनी हुई। यों तो अंग्रेजों की बहुत सी छोटी बड़ी गढ़िया युद्ध करके ही लेनी पड़ी, परन्तु बाजीराव के लिए या पेशवा के लिए किसी भी सरदार या जागीरदार ने सिर नहीं उठाया।

बाजीराव सासवड़ से माहुली को गया। वहाँ उसने सतारा के महाराज को कुटुम्ब सहित अपनी सेना में लाने की व्यवस्था की, परन्तु उनके आने की बाट न देखकर फिर भाग खड़ा हुआ और माहुली से पंढरपूर, पन्ढरपुर से जुन्नर और जुन्नर से ब्राह्मणबाड़ा को गया। ब्राह्मणबाड़ा में कुछ दिन मुकाम हुआ। यहाँ त्र्यम्बकजी डेंगला पेशवा से प्रगट रीति से आकर मिला। उसके रामोशी आदि भी आस-पास के पहाड़ों की खोह में छिपे रहते थे। पन्ढरपुर से रवाना होने के बाद सतारा के महाराज भी पेशवा से आ मिले थे। इतने ही में जलरन स्मिथ संगमनेर के पास आ पहुँचा। तब बाजीराव दक्षिण की ओर चल दिया। इस पर से यह जनश्रुति उड़ी कि बाजीराव पूना पर चढ़ाई करने आता है। यह सुनते ही पूना की ओर जो कर्नलवेवर नामक अंग्रेजों का सरदार था उसने घोड़ नदी से सेना बुलाई। इस सेना की ओर मराठी सेना की कोरेगाँव में तारीख १ जनवरी १८१८ को बहुत बड़ी लड़ाई हुई। उसमें अंग्रेजों की बहुत हानि हुई और उन्हें हार कर पीछे घोड़ नदी तक हट जाना पड़ा। कोरेगांव के युद्ध में गोखले और त्र्यम्बकजी ने बड़ी भारी वीरता दिखाई, परन्तु मराठी सेना इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकती थी, क्योंकि जनरल स्मिथ पीठ पर बैठे ही हुए थे।

१०

बाजीराव भीमा नदी से दो मील की दूरी पर की एक टेकड़ी पर से युद्ध देख रहे थे। सतारा के महाराज भी साथ थे। उन्हें इस समय अपनी आवदागिरी को छुट्टी देकर धूप में खड़े रहना पड़ा, क्योंकि उन्हें सन्देह था कि कहीं अंग्रेज गोलंदाज आवदागिरी को देखकर गोला न मार दें।

कोरेगांव से भी बाजीराव रवाना हुये और सालपा के घाट से ऊपर चढ़कर कर्नाटक में घुसे और ठेठ घटप्रभा नदी पर जा पहुँचे, परन्तु जब वहां सुना कि मद्रास से जनरल मनरो आ रहे हैं तो फिर लौटे और कृष्णा नदी को पार कर सालपाघाट से ऊपर की ओर चढ़ शोलापुर की ओर रवाना हुये। इधर जनरल स्मिथ ने तारीख १० फरवरी को सतारे का किला ले लिया। उस पर पहले अंग्रेजों की और फिर महाराज की ध्वजा लगाई गई। सतारा के महाराज पेशवा के साथ कुछ समय तक भले ही रहे हो, पर वे अंग्रेजों के शत्रु नहीं माने जाते थे। इसी बीच में कलकत्ता से बाजीराव की सब व्यवस्था करने का पूर्ण अधिकार एल्फिन्स्टन साहब के लिये आ गये थे। उस में एक विज्ञापन निकाला गया कि पेशवा को गद्दी नहीं दी जायगी, उनका राज्य खालसा कर लिया जायगा। केवल सतारा के महाराज के लिए एक छोटा सा राज्य अलग कर उनका पद स्थिर रक्खा जायगा।

शोलापुर से पन्ढरपुर को जाते समय आष्टी स्थान पर जनरल स्मिथ ने बाजीराव को घेर लिया। बापू गोखले ने भी स्मिथ साहब का सामना किया। दोनों ओर से बड़ी भारी लड़ाई हुई। तारीख २० फरवरी सन् १८१८ को बापू गोखले ने इस युद्ध में शौर्य का अन्त कर दिया और रणक्षेत्र में अपने प्राण दिये। गोविन्दराव घोरपड़े आदि सरदार भी इस युद्ध में मारे गये। पेशवा और सतारा के महाराज का साथ भी यहीं छुटा। बाजीराव ने महाराज से जसा व्यवहार कर रक्खा था वह वह सतारा महाराज के मन्त्रियों को पसन्द नहीं था। अंग्रेजों से युद्ध होने के दो तीन वर्ष पहले ही से उनकी गुप्त बात-चीत चल रही थी। आष्टी की लड़ाई के लगभग उस बातचीत का परिणाम निकला। महाराज भी भागते भागते उकता गये थे और अंग्रेजों तथा सतारा के कारभारियों के समाचार उनके पास पहुँच चुके थे। अतः युद्ध में हार होते ही वे माता के साथ बाजीराव के चक्र से स्वतन्त्र हो गये। स्मिथ साहब नें महाराज को एल्फिन्स्टन साहब के सुपुर्द किया और फिर आप बाजीराव का पीछा करने को गये। आष्टी के युद्ध में बाजीराव बहुत झगडे में पड़ गये और उन्हें पालकी छोड़ कर घोड़े पर बैठकर भागना पड़ा। लड़ाई खतम होने के पहले ही बाजीराव बापूराव गोखले को छोड़ कर भाग खड़ा हुआ था। वह जाकर गादा नदी के तीर पर कोपरगाँव में ठहरा। बहुत दिनों से जनश्रुति उड़ रही थी कि होलकर की ओर से

पेशवा के सहायतार्थ राम दीन नामक सरदार आ रहा है। अन्त में, यह सरदार कोपर गाँव में आकर महाराज से मिला। पटवर्धन सरदार ने पेशवा से आगे न जाकर यहीं से लौट जाने की आज्ञा ली और बाजीराव भी कुछ देशी और परदेशी सेना के साथ उत्तर भारत की ओर रवाना हुआ। बाजीराव को नागपुर के भोंसले से सहायता मिलने की पहले बहुत आशा थी, परन्तु दिसम्बर मास में अप्पा साहब भोंसले का पराभव कर अंगरेजों ने सीतावर्दी का किला ले लिया था। इसलिए नागपुर की ओर जाने से अब कोई लाभ नहीं था। फिर भी गणपतराव भोंसले की सहायता से चाँदा (चन्द्रपुर) तक जाने के लिए बाजीराव वर्धा नदी तक गया भी, परन्तु वहां भी अंगरेजों की सेना सामना करने को तैयार थी। अतः वह वर्धा नदी के पश्चिम की ओर पांढरकवाड़ा को और वहाँ से सिवनी को गया। यहाँ से उसके भाई चिमाजी अप्पा और देसाई निपाणकर तथा नारोपन्त आपटे आदि सरदार दक्षिण को लौट गये और तुरन्त जनरल स्मिथ के अधीन हो गये। सिवनी से बाजीराव उत्तर की ओर मुड़ा और तारीख ५ मई को उसने ताप्ती नदी को पार किया। यहां से नर्मदा उतर कर सिन्धियाँ के राज्य में जाने और सिन्धियां से सहायता लेने का उसका विचार था, परन्तु जब उसे यह विदित हुआ कि जनरल मालकम की सेना सिर पर तैयार खड़ी है तब वह हताश हो गया और असीरगढ़ के पास धोलकोट में ठहरा। वहां से तारीख १६ मई को बाजीराव ने अपना वकील जनरल मालकम के पास मऊ की छावनी को भेजा। बाजीराव, इस समय, बहुत बुरी दशा में था। उसके आश्रित-जन उसे छोड़ गये थे। दूसरे लोगों से सहायता मिलने की कोई आशा नहीं थी। उसकी सेना में अरब और पुरवियों की ही भर्ती थों और अपना वेतन न मिलने के कारण वे विद्रोह करने की तैयारी में थे। उन्होंने बाजीराव को कैदी सा कर रखा था, इसलिए बाजीराव को अंगरेजों की शरण में जाने के सिवा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं था। जनरल मालकम ने बाजीराव को आठ लाख रुपयों की जागीर अपनी जिम्मेदारी पर देना तथा उसके पक्ष के सरदारों को आंच न आने देना स्वीकार किया। तब बाजीराव उनकी छावनी में जाकर रहा। लार्ड हेस्टिंगंज ने पहले तो इन शर्तों को बहुत उदार बतलाया, परन्तु अन्त में उन्हें स्वीकार कर लिया। बाजीराव ने बचन दिया "कि मैं कभी दक्षिण को न जाऊँगा और न मैं तथा मेरे उत्तराधिकारी पेशवाई राज्य पर कभी अपना अधिकार प्रगट करेंगे।" तब बाजीराव को गंगा किनारे रहने की आज्ञा दी गई और बहुत जांच पड़ताल के बाद कानपुर के पास बिठूर अथवा ब्रह्मावर्त में रहना बाजीराव ने स्वीकार किया। अतः वे उस स्थान को रवाना किये गये।

ब्रह्मावर्त में आठ लाख रुपये वार्षिक नकद देने के सिवा एक छोटा सा प्रदेश राज्य के समान दिया गया था। यह राज्य छः वर्गमील के लगभग था। उसके पास

एक स्वतन्त्र रेजोडेन्ट रक्खा गया था। इस राज्य की जनसंख्या दश पन्द्रह हजार थी और यहीं बाजीराव की प्रजा भी थी। बाजीराव की मराठी पदवी महाराज अथवा श्रीमन्त थी, परन्तु अंगरेज हिज हाइनेस के नाम से उनका उल्लेख करते थे। ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव के नाम से और अंगरेजों का सम्बन्ध स्नेह पूर्ण रहा। एक प्रसंग पर बाजीराव ने छ लाख रुपये और एक हजार सवार तथा पैदल की सहायता अंग्रेजों को दी थी। ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव को धार्मिक कृत्य करने के लिए मन माना समय मिला। उसी प्रकार पूना के राजवाड़े के समान तमाशे भी बन्द नहीं हुए। ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव ने और ५ विवाह किये जिनसे उन्हें दो पुत्रियाँ हुई। इनमें से एक बयाबाई साहब आपटे थी जिनका देहान्त गत-वर्ष (सन् १९१७ में) हुआ। इनका जन्म बाजीराव की ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ था। सन् १८५१ में बाजीराव की मृत्यु हुई। उस समय उनकी अवस्था ७६ वर्ष की थी। बाजीराव ने जिस प्रकार बहुत से विवाह किये उसी प्रकार बहुत से दत्तक लड़के भी गोद लिये। बड़े लड़के धोडोपन्त उर्फ नाना साहब की, बाजीराव की मृत्यु के बाद उनकी ८ लाख की जागीर अंगरेजों ने जब्त कर ली और नाना साहब को केवल उदर-निर्वाह के लिए वृत्ति नियत कर दी, तो भी नाना साहब ने १८५७ तक अंगरेजों से व्यवहार रखने की अपनी पद्धति में बहुत अधिक अन्तर नहीं होने दिया। ब्रह्मावर्त्त, कानपुर के पास होने के कारण नाना साहब प्रायः कानपुर में ही रहते थे। वहाँ मुल्की और सैनिक अधिकारियों से उनका खूब स्नेह हो गया था। वे निरन्तर इन लोगों को भोज-आदि देते और विनोदार्थ नाच करवाते रहते थे। सन् १८५७ में अपने भाई और भतीजे के आग्रह से तथा विद्रोही पुरुषों की इस धमकी से कि हम लोगों में मिल जाओ तो अच्छा है, नहीं तो तुम्हारा खून करेंगे, नाना साहब को लाचार होकर विद्रोही दल में शामिल होना पड़ा। विद्रोहियों ने उन्हें अपने दल में शामिल कर उनकी इच्छा और आज्ञा के विरुद्ध कानपुर में कतल आदि उनके नाम पर करना आरम्भ कर दिया। ब्रह्मावर्त्त के लोकमत के अनुसार देखा जाय तो साहस और शौर्य का आरोप भी उन पर बिना कारण लादा गया। नाना साहब का अंत किस प्रकार हुआ, यह कोई भी ठीक नहीं कह सकता।

पाँचवाँ अध्याय

मराठा राज-मंडल और अंग्रेज

सतारे के भोंसले और अंगरेज

गत दो प्रकरणों में, शिवा जी, सम्माजी, राजाराम और शाहू तक छत्रपति के घराने का तथा बालाजी विश्वनाथ से लेकर दूसरे बाजीराव तक पेशवाओं का जैसा संबन्ध अंगरेजों से रहा उसका वर्णन किया जा चुका है और मुख्य कथा भाग भी यहीं समाप्त होता है परन्तु पेशवा के समान दूसरे मराठे राजाओं का अंगरेजों से कब और कैसे संबन्ध हुआ इसका वर्णन करना भी आवश्यक है क्योंकि यह ध्यान में रखना चाहिए कि मराठा शाही का इतिहास केवल पेशवा घराने से ही नहीं बना उसमें सतारा 'कोल्हापुर' नागपुर और सावन्तवाड़ी के भोंसलें (छत्रपति और सरदार) तथा सिन्धिया, होलकर आदि मराठा-शाही के सरदारों का भी भाग है। अतः इन सरदारों का अंगरेजों से स्वतंत्र अथवा पेशवा के द्वारा जैसा संबंध रहा उसका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

मराठाशाही राज्य में सतारे के भोंसलें घराने का नाम मुख्य है। इस घराने के मुख्य पुरुष शिवाजी, सम्भाजी और राजाराम का इतिहास प्रसिद्ध ही है और इनके राजत्वकाल में अंग्रेजों से जैसा सम्बन्ध रहा उसका वर्णन पहले किया जा चुका है। राजाराम के बाद शाहू महाराज के समय में अंग्रेजों की हैसियत एक प्रार्थी के समान थी। अंग्रेजों को शाहू से व्यापार के लिए आज्ञा और सुभीते प्राप्त करना था। अतः उन्होंने नजराना और वकील भेजकर कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु इस समय राजकार्य का अधिकार शाहू के पास न होकर पेशवा के पास थे और यह जानकर अंग्रेजों ने भी अपने राजकार्यों का सम्बन्ध पेशवा से प्रारम्भ कर दिया। शाहू महाराज के राज्यकाल में बाला जी विश्वनाथ और बाजीराव प्रथम का कार्यकाल समाप्त हो चुका था और नाना साहब, पेशवाई की गद्दी पर थे। इनका भी लगभग आधा समय व्यतीत हो चुका था। शाहू के मरने के पश्चात् सतारे के महाराज निर्माल्यवत् हो गये थे, इसलिए आगे इनसे अंग्रेजों को कोई काम नहीं पड़ा। केवल इनका सम्बन्ध दूसरे बाजीराव के शासनकाल के अन्त में हुआ। क्योंकि वे उस समय बाजीराव की कैद में थे और यह कारावास उन्हें तथा उनके मित्रों को असह्य होने के कारण महाराज ने अंग्रेजों की सहायता से छूटने का प्रयत्न किया था।

सतारे के महाराज निर्माल्यवत हो गये थे, तो भी उनका सम्मान गद्दी के स्वामी के ही समान था। सतारे के छोटे से राज्य की सीमा में सम्पूर्ण अधिकार और हुकूमत महाराज ही की थी। पेशवा के परिवर्तन के समय ने पेशवा को अधिकारों के वस्त्र महाराज द्वारा ही दिये जाते थे और जब तक वस्त्र प्राप्त न हों तब तक पेशवा के अधिकारों को तात्विक दृष्टि से नियमानुकूलता प्राप्त नहीं होती थी। दूसरे बाजीराव को यद्यपि अंग्रेजों ने गद्दी पर बैठाया था, पर वस्त्र उन्हें सतारे से ही लेने पड़े थे। पेशवा पूना में राजा थे, परन्तु सतारे की सीमा में वे नौकर ही माने जाते थे और वहाँ वे भी अपनी नौकरी के नाते का स्मरण कर उसी के अनुसार चलते थे। यदि पेशवा सेना सहित सतारे को जाते तो सतारे की सीमा लगते ही उनकी नैवत बजना बन्द हो जाती थी और पेशवा हाथी या पालकी पर से उतर कर पैदल चलते थे। महाराज के दर्शनों के लिए हाथ बाँध कर जाते और महाराज के सन्मुख नजर देते थे तथा उनके पैरों पर सिर रखकर प्रणाम करते थे। इसी प्रकार अपने हाथ में चँवर लेकर महाराज पर ढुलाते थे और महाराज के सामने सादी बैठक पर या पीछे खबासखाने में बैठते थे।

सन १८०९ के लगभग महाराज को बाजीराव की कैद से छुड़ाने के लिए चतुरसिंह भोंसले बावी वाले के नेतृत्व में प्रयत्न हुए। चतुरसिंह ने इस कार्य के लिये जब विद्रोह किया तब बाजीराव ने उसे भी बाल-बच्चों के साथ कैद कर लिया। पहले तो यह मालेगाँव में और फिर कांगोरी के किले में रक्खा गया था। इस पर देख-रेख रखने का काम त्र्यम्बकजी डेंगला के सुपुर्द किया गया था। सन १८१६ में उक्त किले में ही चतुरसिंह की मृत्यु हो गई। चतुरसिंह के साथ ही साथ महाराज के कितने ही हितचिन्तकों को बाजीराव ने कैद में रक्खा था। चतुरसिंह के विद्रोह के कारण महाराज की कैद और भी सख्त कर दी गई। सतारे के महाराज, महाराजा प्रतापसिंह स्वभाव के धीमे और शान्त थे, परन्तु इनकी माता बहुत चतुर और महत्वाकांक्षिणी थीं। अतः उन्होंने अपना वकील गुप्त रीति से अंगरेजों के पास भेजकर पुत्र को छुड़ाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। अंगरेजों को बाजीराव के विरुद्ध यह बहुत अच्छा कारण मिल गया। अतः उन्होंने महाराज के वकील की सब बातें सुनकर उनकी माता के पास सहानुभूति-पूर्ण उत्तर भेजने और धैर्यपूर्वक रहने के लिये कहने का क्रम जारी रक्खा। परन्तु, अंगरेजों को बाजीराव के काम में प्रत्यक्ष रीति से हाथ डालने का अधिकार न होने के कारण वे इस सम्बन्ध में उनसे कुछ भी नहीं कहते थे। उन्होंने महाराज के वकील से कह रक्खा था कि बाजीराव से युद्ध हो, तो महाराज को हमारा पक्ष लेना होगा, क्योंकि एल्फिन्स्टन साहब का अनुमान था कि बाजीराव से युद्ध अवश्य होगा।

बाजीराव को भी इन बातों का समाचार मिल गया, अतः उसने महाराज की देख-रेख का और भी अधिक प्रबन्ध कर दिया।

सन् १८१७ में जब युद्ध का निश्चय हो गया तब बाजीराव ने महाराज सतारा को अपने हाथ से न जाने देने के लिए महाराज से कहलवाया कि "मैं आपका केवल नौकर हूँ, राज्य सब आपका है, यह आपही को शासन करने के लिए प्राप्त होगा।" फिर महाराज को सतारा से लाकर वासोटा के किले में रक्खा और वहाँ से फिर बाजीराव ने उन्हें अपनी सेना में लाकर भागदौड़ में आष्टी के युद्ध तक साथ में रक्खा। आष्टी के युद्ध में अंगरेजों से पहले से ही ठहरे हुए संकेत के अनुसार काम करने का अवसर मिला और उस अवसर का महाराज के अनुयायियों ने लाभ उठालिया। राज्य खास स्वामी के हाथ में आ जाने के कारण अंगरेजों को भी बहुत लाभ हुआ और उन्होंने एक घोषणा निकाली कि यद्यपि राजविद्रोही पेशवा का शासन नष्ट हो गया है, पर वास्तविक राज्य तो अभी मौजूद ही है, इसलिए सब मराठे सरदार हमारी शरण में आकर अपने अपने घर जावें। हम मराठी राज्य को पहले के समान ही चलाना चाहते हैं। पेशवा का राज्य नष्ट हो गया है, परन्तु महाराजा का राज्य अभी अबाधित है। इसके बाद प्रतापसिंह महाराज को सतारे की गद्दी पर बिठला कर उनके लिए एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य पृथक कर दिया और ग्रान्ट डफ उसके रेजीडेन्ट बनाये गये। सतारा-नरेश का यह नवीन राज्य भी आगे केवल ३० वर्ष ही टिका। सन १८३९ में अंगरेजों के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप महाराज प्रतापसिंह पर लगाया गया और इसलिये वे काशी को भेज दिये गये। मालूम होता है कि दक्षिण के राजा महाराजाओं को अंग्रेजों के उपदेश से उत्तर भारत के तीर्थों में रहना बहुत पसन्द था। तभी तो बाजीराव ब्रह्मवर्त में जाकर रहे और उनके स्वामी ने काशी वास स्वीकार किया। महाराज प्रतापसिंह के बिद्रोह के सम्बन्ध में सतारे के इतिहासकार ने लिखा है कि "सन् १८१८ में अंगरेज सरकार और छत्रपति सरकार प्रतापसिंह महाराज का बिगाड़ हो गया। तब पूना से अंगरेजों की सेना आई। उस रात्रि के समय में छत्रपति महाराज के पास फौज के मुख्य सेनापति बलवन्तराव-राजे भोंसले थे। उन्होने विचार किया कि एक पल्टन के साथ युद्ध कर अपनी सैनिक वृत्ति का अन्त कर दिया जाय, परन्तु महाराज ने सेनापति का हाथ पकड़ कर उन्हें बैठा लिया और सुबह होने तक बाहर नहीं जाने दिया।" इसी इतिहासकार ने यह भी लिखा है कि "बालाजी नारायणराव ने छत्रपति के विरुद्ध झूटी-झूठी गवाहियाँ अंगरेजों के यहाँ देकर महाराज को काशी भिजवाया।" शक सम्वत् १७६६ में काशी में महाराज प्रतापसिंह का देहान्त हुआ। प्रतापसिंह के काशी चले जाने पर

उनके दत्तक पुत्र शाहजी राजगद्दी पर बैठाये गये, परन्तु शाहजी की भी कोई और सन्तान नहीं थी, इसलिये उन्होंने वैंकौजी को गोद लिया और उन्हें रेजीडेन्ट ने गद्दी पर भी बैठाया, परन्तु पीछे से यह आज्ञा आने पर कि अब दत्तक-विधान की आज्ञा नहीं है, सन् १८४८ में सतारा राज्य खालसा कर दिया गया।

कोल्हापुर के भोंसले और अङ्गरेज

शिवाजी महाराज और सम्भाजी के समय में मराठाशाही की राजधानी रायगढ़ में थी। उस समय कोल्हापुर के पास का पन्हाला और सतारे का अजीमनारा केवल किले समझे जाते थे। सम्भाजी के बध होने के पश्चात् आठ वर्ष तक मुगलों से स्वतन्त्रता के रक्षार्थ युद्ध हुआ और जब राजाराम महाराज जिंजी से वापिस लौटे तब सन् १६९८ में राजधानी सतारे में लाई गई। इस परिवर्तन में सब सरदारों की सम्मति थी। पन्हाला की अपेक्षा सतारा मध्यवर्ती स्थान था और यहाँ से सम्पूर्ण राज्य का निरीक्षण अच्छी तरह किया जा सकता था।

राजाराम की मृत्यु हो जाने के ७ वर्ष बाद जब शाहू देहली से वापस लौटे तो सतारा की गद्दी के सम्बन्ध में ताराबाई और शाहू में झगड़ा शुरू हुआ। सन् १७०७ में खेड़ नामक स्थान पर युद्ध हुआ और १७०८ में शाहू सतारा में आकर गद्दी पर बैठे। इसी समय के लगभग ताराबाई ने कोल्हापुर में स्वतन्त्र गद्दी स्थापित कर नवीन अष्टप्रधान बनाये। यहीं से कोल्हापुर और सतारे के भोंसले की ओर से पेशवा का मनोमालिन्य शुरू हुआ और वह सतारे का राज्य नष्ट हो जाने तक रहा। आज भी तन्जोर की आमदनी के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोल्हापुर के महाराज और सतारे के महाराज वादी प्रतिवादी हैं। नाना साहब पेशवा के समय में शाहू महाराज की मृत्यु के अवसर पर कोल्हापुर और सतारे के महाराजाओं का परस्पर मेल हो जाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु वह सफल न हो सका। पानीपत के युद्ध में पेशवा के नाश के समाचारों को सुनकर ताराबाई को बहुत सन्तोष हुआ और फिर उसकी मृत्यु हो गई। उन दिनों पेशवा के शत्रु कोल्हापुर महाराज के मित्र और कोल्हापुर महाराज के शत्रु पेशवा से मित्र होते थे। निजाम पेशवा के शत्रु होने के कारण कोल्हापुर महाराज के मित्र थे। इस बात से अप्रसन्न होकर बड़े माधवराव ने कोल्हापुर राज्य का कुछ हिस्सा अधिकृत कर लिया और उसे पटवर्धन को जागीर के रूप में दिया। इस तरह पटवर्धन पेशवा की ओर से कोल्हाँपुर के पहरे वाले के समान हो गये फिर रघुनाथराव के झगड़े से कोल्हापुर वालों ने रघुनाथराव का पक्ष लेकर खोये हुये परगने वापिस ले जिये, परन्तु माधवराव सिन्धिया की फौज ने दुबारा इनको जीत

लिया। सवाई माधवराव के राज-काल में जो विद्रोहियों का उपद्रव हुआ उसमें कोल्हापुर वालों का ही हाथ था। बाजीराव के समय में नाना फड़नवीस की सूचना से कोल्हापुर वालों ने परशुराम भाऊ पटवर्धन की जागीर पर आक्रमण किया और सतारे में चतुरसिंह ने जो विद्रोह किया उसमें पेशवा के विरुद्ध कोहायुर वालों ने मदद दी। पट्टणकुड़ी की लड़ाई में चतुरसिंह और कोल्हापुर की सेना ने परशुराम भाऊ का पराभव कर उसे मार डाला, तब नाना फड़नवीस ने विंचुरकर प्रतिनिधि और मेजर ब्राउनरिंग को सिन्धिया की सेना देकर कोल्हापुर भेजा और शहर पर घेरा डाला। यह घेरा बहुत दिनों तक रहा, परन्तु अन्त में पेशवा ने घेरा उठा लिया।

अंगरेजों और कोल्हापुर के महाराज का सम्बन्ध पहले पहल सन् १७६५ में हुआ। मालवण का किला कोल्हापुर के राज्य में था और खलासी लोग अंगरेजों के जहाजों को बहुत सताते थे। सन १७६५ में बम्बई के अंगरेजी जहाजी बेड़े में से मेजर गार्डन और केप्टन वाटसन के नेतृत्व में सेना ने इस किले को सर किया और इसे अपने अधिकार में रखने के लिए इसका नाम "फोर्ट-आगस्टस" रक्खा, परन्तु उस किले को बहुत उपयोगी न समझ उसकी हदबन्दी गिरा देने का विचार किया और अन्त में इस तरह पटवर्धन पेशवा की ओर से नकद लेकर उस किले को कोल्हापुर वालों को ही दे दिया। सन १८११ में अंगरेजों ने कोल्हापुर वालों से स्वतंत्र सन्धि करने का प्रयत्न किया। तब बाजीराव ने इस सन्धि में बाधा डाली, परन्तु अंगरेजों ने उस पर कुछ ध्यान न देकर सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार पेशवा को चिकोड़ी और मनोली प्रान्त वापिस लौटाये गये और अंगरेजों को मालवण का किला तथा उस के नीचे का प्रदेश मिला। इसके सिवा सामुद्रिक लुटेरे लोगों को बन्दर में आश्रय न देने, शत्रु के जहाजों को बन्दर में न आने देने, स्वयम् लड़ाऊ जहाज न रखने, लड़ाऊ जहाज मिलने पर अंगरेजों को लौटा देने, अंगरेजो के टूटे हुए जहाज किनारे लगने पर अंगरेजों को वापिस कर देने और अंगरेजों की सम्पति के सिवा किसी से युद्ध न करने आदि की शर्तें कोल्हापुर वालों की ओर से सन्धि में स्वीकार की गई। अंगरेजों ने कोल्हापुर के पुराने दावे स्वीकार किये और कोल्हापुर राज्य की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया।

शाहू से विवाद उपस्थित होने पर ताराबाई के अधिकार में बहुत थोड़ा प्रदेश रह गया था। कोल्हापुर के महाराज अथवा उनके मन्त्रियों ने फिर कोई प्रदेश राज्य में नहीं मिलाया। उनकी चढ़ाई प्राय: कोल्हापुर के आस-पास पटवर्धन की जागीर पर ही हुआ करती थी। इनके पास सेना भी बहुत थोड़ी थी। पेशवाओं के ७५ वर्ष के शासन-काल में कभी न कभी इसी राज्य का अन्त हो ही जाता, परन्तु सुदैव से यह बच

गया और बाजीराव के समय से तो इस राज्य को सिवा अंगरेजों के और किसी का डर नहीं रहा। अंगरेजों से लड़ने के लिये कोल्हापुर राज्य के सन्मुख बहुत से कारण भी उपस्थित नहीं हुए और अपनी कमजोरी के कारण इसने अंगरेजों से पहले ही सन्धि कर ली। सन १८१७-१८ में पेशवा और अंगरेजों से जो युद्ध हुआ उसमें कोल्हापुर वालों ने अंगरेजों का ही पक्ष लिया था। इस युद्ध के बाद कोल्हापुर वालों से जो फिर नवीन सन्धि हुई उसके अनुसार तीन लाख की आमदनी के ताल्लुके चिकोड़ी और मनोली कोल्हापुर वालों को वापस दिलाये गये। सन् १८२२ में एल्फिन्स्टन साहब कोल्हापुर गये। सन १८२५ में महाराज कोल्हापुर नरेश ने "कागल" के जागीरदारों से शत्रुता कर "कागल" छीन लिया और उन्हें लूट लिया तब बेवर साहब धारवाड़ से छः हजार सेना लेकर कोल्हापुर पर चढ़ आया। महाराज ने उसको शरण दी और युद्ध के लिए जो तोपें गाँव के बाहर निकाली थी उन्हीं से बेवर साहब की सलामी ली गई। इस बार फिर सन्धि हुई। उसके अनुसार अंगरेजों की आज्ञा बिना फौज न रखने, अंगरेजों की सम्मति के अनुसार राज्य चलाने और अंग्रेज जो निश्चय करें उसके अनुसार जागीरदारों को नुकसानी देने की शर्तें कोल्हापुर सरकार ने स्वीकार की। इसके लिए चिकोड़ी और मनोली ताल्लुके अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिये गये। इसके पश्चात् मालवण के किले से तोपें मंगाकर महाराज अपनी प्रजा को ही कष्ट देने लगे। तब फिर अंग्रेजों ने बेलगाँव से एक पलटन कोल्हापुर को भेजी। सन १८३७ में जब यह सेना कोल्हापुर आई तब फिर नवीन सन्धि हुई। इसके अनुसार सब तरह की बारह सौ से अधिक सेना न रखने, तोपों से काम न लेने और चिकोड़ी तथा मनोली प्रान्त जिनके मिलने की आशा से महाराज असन्तुष्ट थे, सदा के लिए अंग्रेजों को देने का निश्चय हुआ। इसके सिवा महाराज कोल्हापुर नरेश के खर्च से पन्हालगढ़ पर अंग्रेजी सेना रखने और बिना अंग्रेजों की सम्मति के कोई दीवान न रखने की शर्तें भी इस सन्धि में की गई थीं।

नागपुर के भोंसले और अंगरेज

नागपुर के भोंसले के कुटुम्ब के मूल पुरुष परसोजी सन्ताजी घोरपड़े के आश्रय में एक छोटा सा सरदार था। इसका जन्म सतारे के पास देऊर नामक गाँव में हुआ था यह इस गाँव के निवासियों में से एक था। किसी किसी का कहना है कि पूना के पास वाला हिंगणवन्डी नामक गाँव नागपुर के भोंसले का मूल गाँव है। परसोजी ने सन्ताजी के आश्रय में आने के पहले भी शिवाजी के हाथ के नीचे सिपाही का काम किया था। इनका और शिवाजी का भोंसला घराना एक ही था और ये भी बड़े

महत्वाकांक्षी थे। पेशवाई का पद बाजीराव को न मिलने देने में दाभाड़े के समान परसोजी भोंसले का भी मत था। परसोजी के लड़के कान्होजी को शाहू महाराज ने "सेना साहब सूबा" की पदवी दी थी, परन्तु आज्ञा-भंग के अपराध पर कान्होजी सतारे में कैद किये गये और उनका पद उनके भतीजे राघोजी को दिया गया। इनके पहले राघोजी कान्होजी के हाथ के नीचे सिपाही का काम करता था। इसी तरह गोंडवाना प्रान्त के एक मुसलमान राजा के आश्रय में भी इसने नौकरी की थी। राघोजी यद्यपि एक साधारण सिपाही था तो भी उसकी बुद्धि तीव्र थी और वह बहुत साहसी तथा चपल था। राघोजी शिकार बहुत अच्छा करता था। शिकार खेलने का प्रेम छत्रपति शाहू महाराज को भी बहुत था, इसलिए शाहू राघोजी पर प्रसन्न हो गये और इस गुण से राघोजी ने लाभ उठा लिया। राघोजी भोंसला घराने का था, इसलिए उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए शाहू महाराज ने सिरके घराने की एक लड़की अर्थात् अपनी ही साली से उसका विवाह कर दिया और फिर उसे बरार प्रान्त की सनद दी। इसके बदले में राघोजी ने ५ हजार सवार रखकर सतारा की गद्दी की नौकरी करने और नौ लाख रुपया वार्षिक वसूली देने का करार किया। उसने इसी प्रकार अवसर पड़ने पर १० हजार सेना लेकर पेशवा के साथ चढ़ाई पर जाने का भी करार किया था।

कन्होजी भोंसले के समय से ही गोंड़वाने का बहुत सा भाग अपने अधिकार में करके कटक प्रान्त पर भोंसलों ने चढ़ाइयाँ करना शुरू किया था। राघोजी ने भी यही क्रम रक्खा और इसमें वृद्धि की। सन् १७३८ के लगभग राघोजी ने कटक लूटा और उत्तर प्रान्त में इलाहाबाद तक चढ़ाई कर वहां के सूबेदार शुजाखान को जान से मारा और लूट का बहुत-सा माल लेकर वह लौटा। इस आक्रमण में बाजीराव या शाहू महाराज की सम्मति नहीं थी, इसलिए आज्ञा भंग करने की बात उठाकर बाजीराव ने आवजी कवड़े नामक सरदार को बरार प्रान्त पर आक्रमण करने के लिए भेजा, परन्तु राघोजी ने उसको पराजित किया। यह सुनकर स्वयम बाजीराव पेशवा ने जाने का निश्चय किया, परन्तु नादिरशाह के चढ़ आने के समाचारों के कारण उन्हें अपना विचार बदल देना पड़ा। बाजीराव का कहना था कि नर्मदा के उत्तर की ओर आक्रमण करने और कर वसूल करने का अधिकार राघोजी को नहीं है और न शाहू महाराज या पेशवा की आज्ञा पाये बिना राघोजी देश-विजय के लिए चढ़ाई ही कर सकते हैं। राघोजी का कहना था कि पेशवा का पद सदा ब्राह्मणों को देने की आवश्यकता नहीं है।

राघोजी मौका लगने पर पेशवाई का काम बाजीराव से ले लेने के सिवा, शाहू के पुत्र-रहित मरने पर, स्वयम्, गद्दी पर बैठने का हौसला भी रखता था।

यह झगड़ा बढ़ते-बढ़ते युद्ध का रूप धारण करने वाला ही था कि इतने में दिल्ली का बड़ा भारी राजकीय झगड़ा आ जाने से बाजीराव ने इस घर के झगड़े को तोड़ डाला और प्रत्यक्ष मिलकर उसे आपस में तय कर लिया। कितने ही लोगों का यह तर्क है कि रावोजी भोंसले की बड़ी भारी महत्वकांक्षा जानकर बाजीराव पेशवा ने पूर्वी किनारे के ऊपर बंगाल प्रान्त से कर्नाटक तक के प्रदेश पर चढ़ाई करने का मार्ग बतलाया और इस तरह अपना एक प्रतिस्पर्धी कम कर लिया। इससे आगे की भोंसले की चढ़ाईयाँ भी इसी क्रम के अनुसार हुईं। सन् १७४० में कर्नाटक पर मराठों ने फिर चढ़ाई की उस समय सेना का आधिपत्य रावोजी को ही दिया गया था। यह सेना कम से कम ५० हजार थी। राघोजी ने कर्नाटक के नवाब दोस्त-अली को पराजित कर उसे जान से मारा और उसके मन्त्री मीर-असद को कैद किया। इस विषय के कारण दक्षिण भारत के लोगों तथा फ्रैंचों पर मराठों का बहुत दबदबा जम गया। उक्त मंत्री मीरअसद ने ही नवाब सफदरअली और मराठों से सन्धि करवा दी। उसमें वह निश्चय हुआ कि नवाब साहब मराठों को एक करोड़ रुपये किस्तबन्दी से देवें। सफदरअली के प्रति-स्पर्द्धी चन्दा साहब को निकाल देने के लिए मराठी फौज नवाब साहब को सहायता दे और पूर्वीय किनारे पर के जिन हिन्दू राजाओं का राज्य सन् १७३६ के पश्चात् फ्रेन्चों ने ले लिया हो, वह जिनका हो उनको लौटा दिया जाय। इसके बाद राघोजी ने फ्रेन्चों के पीछे तकाजा लगाया, क्योंकि वह त्रिचनापल्ली अपने अधिकार में करना चाहता था।

राघोजी ने पांडुचेरी के फ्रेन्च गवर्नर को एक पत्र लिखा कि "हमारे महाराज ने तुम्हें पांडुचेरी में रहने की जो आज्ञा दी थी उसे ४० वर्ष हो गये। हमें विश्वास था कि तुम हमारी मर्जी के पात्र हो और अपने करारों का पालन करोगे, इसलिये तुम्हें रहने के लिये यह स्थान दिया गया था। तुमने इसके बदले में जो वार्षिक कर देना स्वीकार किया था वह अभी तक नहीं पूरा हुआ। अब हमें जिन्जी और त्रिचनापल्ली के किले लेकर उनका प्रबन्ध करने और किनारे पर के यूरापियनों से कर वसूल करने की आज्ञा हुई है। हम तुम पर कृपा करते हैं, पर तुम हमसे विरुद्ध चलते हो। हमने अपना आदमी भेजा है, सो कर की रकम और चन्दा साहब के बाल बच्चे तथा उनकी जो कुछ सम्पत्ति हो वह इनके सुपुर्द कर देना। बम्बई की जो स्थिति हुई वह तुम्हें मालूम ही है। हमारा जहाजी बेड़ा भी उधर जाने वाला है, इसलिए झगड़े को तुरन्त

निपटा देना उचित होगा।" इस पत्र का उत्तर पांडुचेरी के गर्वनर ड्यूमा ने इस प्रकार दिया—"फ्रेंन्च राष्ट्र पर आज तक किसी ने भी कर नहीं बैठाया। यदि हमारे स्वामी यह सुनेंगे कि मैंने कर देना स्वीकार किया है तो वे मेरा सिर उड़ाये बिना नहीं रहेंगे। इधर के राजाओं ने समुद्र किनारे की बालू पर किला बांधने और शहर बसाने की आज्ञा दी थी। उस समय हमने केवल यहाँ के धर्म और देवालयों को क्षति न पहुँचाने की शर्त ही की और यह शर्त हमने पालन भी की है, अतएव आपकी सेना के यहाँ आने का कोई कारण नहीं है। आप लिखते हैं कि हमारी मांग स्वीकार न करने पर सेना सहित आवेंगे, सो आपका सत्कार करने के लिब हमारे यहाँ भी पूर्ण तैयारी है। वसई में क्या हुआ यह हमें अच्छी तरह मालूम है। आप केवल इतना ही ध्यान में रक्खें कि बसई की रक्षा फ्रेंन्च लोगों के हाथ में नहीं थी।" अन्त में पाडुचेरी पर आक्रमण न कर मराठों की सेना लौट आई।

सन् १७४० में प्रथम बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवाई के वस्त्र नाना साहब को मिले। राघोजी ने ये वस्त्र न मिलने देने का प्रयत्न किया। कर्नाटक से लौट आने का यह भी एक कारण था। बाजीराव और बाबूजी नायक काले अमरावती वालों के बीच में बाजीराव के कर्ज ली हुई रकम के कारण परस्पर वैमनस्य हो गया था, अत: उसे आगे कर और शाहू को रिश्वत में बड़ी भारी रकम देने का भी प्रयत्न कर पेशवाई के वस्त्र राघोजी ने नायक को दिलाना चाहा, पर उसे इसमें सफलता न मिली। तब राघोजी नायक को साथ लेकर फिर कर्नाटक गया वहाँ तंजोर के मराठों की सहायता से उसने सन् १७४१ में त्रिचनापल्ली अपने अधिकार में ले ली और मुरारराव घोरपड़े को वहाँ का किलेदार बनाया तथा चन्दा साहब को पकड़ कर सतारे में नज़र-कैद किया।

जिस समय राघोजी कर्नाटक में थे उसी समय मुर्शिदकुली खाँ के दीवान मीर हबीब ने राघोजी के दीवान भास्करपन्त को कटक प्रान्त पर चढ़ाई करने का निमन्त्रण दिया और उन्होंने स्वीकार भी किया। इसी समय लगभग और इसी काम के लिये नाना साहब पेशवा भी उत्तर-हिन्दुस्थान में देश विजय करने को निकले और उन्होंने नर्मदा-तट का गढ़ामंडले का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। उनका विचार इलाहाबाद पर चढ़ाई करने का था, परन्तु राघोजी ने मालवे में फिसाद मचा रक्खी थी, अत: उन्हें पूर्व की चढ़ाई के काम को रोककर पश्चिम की ओर मुड़ना पड़ा और मालवे का प्रबन्ध कर इलाहाबाद होते हुये मुर्शिदाबाद तक जाना पड़ा। इधर राघोजी भी कटवा और बर्दमान तक पहुँचा, परन्तु उसके पहुँचने के पहले ही नवाब अलीवर्दी

खाँ से कर लेकर पेशवा ने हिसाब साफ कर दिया था, अतः राघोजी को लौटना पड़ा। मालवा के फिसाद पर ध्यान रखकर पेशवा ने राघोजी पर चढ़ाई की और उसका पराभव किया, तब पेशवा से सन्धि कर राघो जी सतारा को जाने के लिये रवाना हुए। राघोजी भोंसले को दमाजी गायकवाड़ और दमाजी शिवदेव की सहायता मिलने वाली थी, अतः पेशवा ने झगड़े में पड़ कर अपना कुछ काम साध लिया और बङ्गाल की कर-वसूली का अधिकार उन्होंने राघोजी को दिया। इस प्रकार दोनों ने मैत्री कर भारतवर्ष के दो भाग किये और वसूली के रुपये आपस में बाँट लिये। इस सन्धि के अनुसार लखनऊ, पटना, बिहार, दक्षिण बङ्गाल और बरार से कर्नाटक प्रान्त तक के प्रदेशों पर राघोजी भोंसले का अधिकार हुआ। इसके बाद ही राघोजी के दीवान भास्कर पन्त ने बीस हजार सेना के साथ बङ्गाल पर चढ़ाई की, परन्तु अलीवर्दी खाँ ने सन्धि करने के बहाने भास्कर पन्त को भोजन करने को बुलाया और उसे तथा उसके बीस साथियों को जान से मार डाला। इसके बाद स्वयं राघोजी ने उड़ीसा प्रांत पर चढ़ाई की, परन्तु गोंड़वाने में बलीशाह और नीलकंठशाह के विद्रोह करने के कारण राघोजी को लौटना पड़ा। फिर देवगढ़ और चाँदा पर अधिकार करके उन्हें अपने राज्य मिलाया।

सन १७४९ में हैदराबाद के सूबेदार नासिरजंग ने राघोजी को अपने सहायतार्थ सेना लेकर बुलाया और पारितोषिक स्वरूप कुछ राज्य देना स्वीकार किया। राघोजी ने यह काम अपने पुत्र जानोजी को सौंपा और उसे दस हजार सेना देकर नासिरजंग के सहायतार्थ कर्नाटक को भेजा। इस समय शाहू महाराज का मरणकाल समीप आ रहा था, अतः उन्होंने पेशवा, यशवन्तराव दाभाड़े, राघोजी भोंसले आदि सब पक्षों के सरदारों को अपने पास बुलवाया। भट्टों के घराने से पेशवाई छीनकर अपने हाथ में लेने के लिए राघोजी को यह बहुत अच्छा अवसर मिला था, परन्तु उसके पास सेना कम होने तथा नाना साहब के प्रेमपूर्ण व्यवहार से वश में हो जाने के कारण उस समय वह कुछ न कर सका। शाहु महाराज के द्वारा नाना साहब पेशवा के नाम पर राज-कार्य चलाने की स्थायी सनद दी जाने पुर राघौजी ने कुछ भी आपत्ति नहीं की। उस समय यह जनश्रुति सुनाई देती थी कि रामराजा नामक एक गोंधल जाति के लड़के को झूठा उत्तराधिकारी बनाकर छत्रपति की गद्दी दी जाने वाली है इसके कारण राघोजी भोंसले बिगड़ पड़ा और जब ताराबाई ने अपने जाति वालों के सन्मुख भोजन की थाली पर हाथ रखकर अन्न की शपथ ले यह स्वीकार किया कि यह वास्तव में मेरा ही नाती है तब कहीं वह माना। पेशवा के पीछे राघोजी दूसरे सरदारों के साथ पूना गया और उन सबकी सम्मति पेशवा ने पूना को मराठाशाही

की राजधानी बनाया। राघोजी ने जाने के पहले गोंडवाना, बरार और बङ्गाल प्रांत की नई सनदें सतारा के महाराज से लीं। इन सनदों के बल पर उसने इन प्रान्तों पर अपना स्वामित्व स्थापित किया, साथ ही निजाम के राज्य में भी बहुत उपद्रव किया। नासिरजंग के यहाँ से जानोजी के लौटने पर राघोजी ने उसे कटक प्रान्त में भेजा। वहाँ उसने अलीवर्दी खाँ को दबाकर अपने कृपापात्र मीर हबीब के नाम, बालासोर तक के प्रदेश की जागीर की सनद दिलवाई और बङ्गाल तथा बिहार की चौथ के बारह लाख रुपये वार्षिक देने का फ़ैसला किया। इस समय निजाम तथा पेशवा में में युद्ध होते देख राघोजी ने गाविलगढ़, नरनाला और माणिकदुर्ग आदि थाने और प्रदेश ले लिये और जब निजाम पूना पर चढ़कर आये तो इधर गोदावरी और बेन-गङ्गा के बीच के प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट कर मुगलों के थाने वहाँ से हटा दिया और अपने थाने बैठाये।

सन् १७५३ में राघोजी की मृत्यु हुई। राघोजी के चार लड़के थे। इनमें से बड़े लड़के जानोजी और साबाजी छोटी स्त्री से और मुधाजी तथा बिम्बा बड़ी महा-रानी से थे, परन्तु अवस्था में छोटे थे। राघोजी ने अपने पीछे भोंसले की गद्दी पर जानोजी को बैठाने का निश्चय कर लिया था, परन्तु मुधाजी और जानोजी में झगड़ा शुरू हो गया।

जानोजी ने पूना आकर अपने पिता के समान ही सब शर्तें स्वीकार कर पेशवा को लिखा दी और, सेना साहब सूभे, का पद प्राप्त किया। परन्तु, बरार लौटते समय उसने मुगलों के राज्य के साथ-साथ पेशवा का भी राज्य लूटा, अतः जानोजी और पेशवा के बीच में अनबन हो गई। इसके पश्चात् निजामशाही के झगड़े में जानोजी पड़ा, तब भी उसका पराभव हुआ और उसे नीचा देखना पड़ा। पानीपत के युद्ध में यद्यपि जानोजी नहीं था, पर उस लड़ाई की अड़चनों के समाचार मिलने पर जब स्वयम् नाना साहब पेशवा सेना लेकर उत्तर भारत की ओर चले तब जानोजी दस हज़ार सेना के साथ उनसे आ मिला। जब नर्मदा के मुकाम पर पेशवा को पानीपत के सम्पूर्ण समाचार मिले तब वे लौटे। माधवराव के शासन-काल में जानोजी ने रघुनाथराव का पक्ष स्वीकार करके पूना पर चढ़ाई करने का विचार किया, परन्तु गङ्गाधर ने अपने काका के अधीन होकर उस समय यह झगड़ा मिटा दिया। सन् १७६६ में पेशवा और नागपुर के भोंसले में परस्पर इतना असन्तोष बढ़ गया कि माधवराव ने जानोजी के विरुद्ध निजाम अली से मित्रता की संधि की और अपनी तथा निज़ाम की संयुक्त सेना के साथ बरार प्रान्त पर चढ़ाई की तब निरूपाय होकर जानोजी को दोनों से सन्धि करनी पड़ी और अपना बहुत-सा प्रान्त

इन्हें देना पड़ा। भोंसले से लिये हुए प्रदेश में से लगभग १५ लाख की आमदनी का प्रदेश पेशवा ने स्नेह-सम्पादन करने के लिए निज़ाम को दिया। इस आक्रमण के कारण नागपुर के भोसेलों के राज्य में से २५ लाख की आमदनी का प्रदेश कम हो गया।

माधवराव पेशवा और जानोजी भोंसले का वैर जन्म भर रहा। सन् १७६८ में जब रघुनाथराव ने फिर सिर उठाया तब जानोजी ने उनका पक्ष प्रगट रीति से लिया और माधवराव की चढ़ाई के भय से कलकत्ते से अंगरेजों की सहायता पाने का प्रयत्न किय। इधर मराठे और निज़ाम ने तुरन्त ही उस पर चढ़ाई कर दी। ये दोनो पहले बरार प्रान्त में घुसे। उस समय जानोजी और मुधाजी ने अपने कुटुम्ब-कबीले को गाविलगढ़ में ठहरा कर पेशवा को धोखा देकर चड़ाई करने का विचार किया। माधवराव ने नागपुर शहर को लूटा और चांदा पर घेरा डाला। इधर जानोजी ने भी पेशवाई राज्य पर चढ़ाई की और वह अहमदनगर होता हुआ पूना की ओर गया। भोंसले के आने के समाचार सुन पूना की प्रजा ने अपना माल लेकर भागना शुरू किया। जानोजी ने पूना के आस-पास बहुत लूट की, तब पेशवा ने चांदा का घेरा उठा लिया और पूना को वापिस लौट आये। इस प्रकार दोनों ने दोनों की राजधानी लूटी, परन्तु विजय एक को भी न मिल सकी। अन्त में दोनों दल झगड़े से जब ऊब उठे तब सन्धि करने को प्रस्तुत हुए। सन् १७६९ के मार्च मास में भीमानदी के किनारे कणकापुर ग्राम में पेशवा के अनुकूल एक सन्धि हुई, जिसमें यह ठहरा कि भोंसले पेशवाई राज्य से 'घास-दाना' नामक कर वसूल न करें और निजाम से 'घासदाने' के बदले में नगद रुपये ठहरा लें। पेशवा की आज्ञा के सिवा न तो सेना बढ़ावें और न घटावें और नियत की हुई सेना के साथ जहाँ पेशवा आज्ञा दें, वहाँ उपस्थित हुआ करें। वे दिल्ली के बादशाह, निजाम, अंगरेज, रोहिले और अयोध्या के नवाब से स्वतन्त्र रीति से पत्र व्यवहार न करें और पेशवा को किस्तबन्दी से ५ लाख रुपये कर दें, यह तो भोंसले ने स्वीकार किया। पेशवा ने यह स्वीकार किया कि उत्तर भारत को जाते समय पेशवा की सेना भोंसले के राज्य में उपद्रव न करे, भोंसले पर यदि कोई चढ़ाई करे तो अपनी सेना से पेशवा भोंसले की सहायया करे तथा यदि दरबार की कोई नौकर न हो तो वङ्गाल के अंगरेजों पर पेशवा चढ़ाई करने की स्वीकृति दें। इस प्रकार माधवराव ने आधे स्वामित्व और आधे स्नेह के नाते से यह सन्धि की।

माधवराव की मृत्यु के पश्चात् पूना के समान नागपुर में भी गृह-कलह उत्पन्न हुई। जानोजी ने माधवराव पेशवा की आज्ञा से अपने भाई मुधाजी के पुत्र राघोजी

को दत्तक लिया था और मुधाजी को उसका पालनकर्ता नियत किया था। १७७३ में जब जानोजी मर गया तब यह झगड़ा शुरू हुआ कि बालक का अभिभावक कौन हो अर्थात् रेजेन्सी का क्या प्रबन्ध किया गया जाय। इस झगड़े को तय करने के लिए दोनों पक्षों के लोग पूना आये। इन दोनों में मुधाजी रघुनाथराव के पक्ष में और साबाजी नारायणराव के पक्ष में थे। पूना में इन दोनों के बीच का झगड़ा दोनों के मन के अनुसार तय न हो सका। तब भोंसलों में युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध में पेशवा, निज़ाम, और एलिचपुर के नवाब आदि लोग शामिल थे। इसके बाद ही नारायणराव का वध हुआ। कहा जाता है कि इस कार्य में भी भोंसले का अप्रत्यक्ष हाथ था। रघुनाथराव के झगड़े से साबाजी ने सेना-सहित नाना फड़नवीस की सहायता की। तब नाना फड़नवीस ने छोटे राघोजी से "सेना साहब सूभे" का पद छीनकर साबाजी को दिया। मुधाजी ने इसके बाद ही साबाजी से युद्ध प्रारम्भ किया और साबाजी को अपने हाथ से गोली से मार डाला तथा छोटे राघोजी के अभिभावकता के अधिकार फिर प्राप्त किये। परन्तु निज़ाम ने मुधाजी को शान्ति से नहीं बैठने दिया और इब्राहीमबेग धौंसा को मुधाजी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। तब मुधाजी उसकी शरण गया और अपने अनेक किले देना तथा गोंडवाना प्रान्त का प्रबन्ध करना स्वीकार कर निज़ाम से उसने सन्धि की। इसी प्रकार पूना दरबार से बातचीत कर दस लाख रूपये देने का इकरारनामा लिख दिया और सदा के लिए भोंसले का कारभारी रहना स्वीकार कर लिया तथा कलकत्ते के अंग्रेजों के दरबार में भी अपना वकील रख दिया।

इसके बाद जब मराठों और अंग्रेजों में युद्ध छिड़ा, तब अँग्रेजों ने मुधाजी को अपने पक्ष में खींचने का प्रयत्न किया। पहले एक बार जिस तरह निजाम के दीवान विट्ठल सुन्दर ने मराठों का राज्य हड़प करने का लोभ मुधाजी को दिखाया था उसी तरह इस बार हेस्टिंग्ज ने दिखाया। वास्तव में देखा जाय, तो यह पहले ही ठहर चुका था कि सतारे की गद्दी पर नागपुर के भोंसले का कुछ अधिकार नहीं है, परन्तु जब अकस्मात् पूना दरबार के विरुद्ध हेस्टिंग्ज को हाथ का एक खिलौना मिलता हो तो वे उसे क्यों छोड़ने लगे? मुधाजी पर वास्तविक रहस्य प्रकट था, अतः उसने अपने को सतारे की गद्दी पर बैठाने का अँग्रेजों का वरदान लेने की अपेक्षा सतारे की कैद में पड़े हुए महाराज का प्रतिनिधित्व लेना उचित समझा और इसलिए अँग्रेजों से सन्धि करने के काम को लम्बा टाल दिया। पुरन्दर की सन्धि के बाद अँग्रेजों ने फिर मराठों से छेड़-छाड़ की। तब सब मराठे-अंग्रेजों के विरुद्ध हो गये। उनके साथ साथ मुधाजी को भी कटक प्रान्त में अँग्रेजों के विरुद्ध सेना भेजने का बहाना करना पड़ा। अँग्रेज ने उसे गुप्त रीति से सोलह लाख रुपये देना स्वीकार भी किया था। मुधाजी ५० लाख

माँग रहा था, परन्तु कुछ कम पर सौदा ठहराकर हेस्टिंग्ज ने नागपुर के भोंसले को मराठा संघ में से फोड़कर अपनी ओर मिला लिया। उस समय भोंसले के पास तीस हजार सेना थी। यदि उस समय पूना दरबार की पद्धति के अनुसार उसने चढ़ाई की होती तो वह सीधे कलकत्ते तक पहुँच सकता था। जब नाना फड़नवीस को मुधाजी के षडयन्त्र की बात मालूम हुई तब उन्होंने उससे बदला लेने का निश्चय प्रकट किया। मुधाजी को यह समाचार मिलते ही उसने भी करवट बदल दी और अँग्रेजों से कहने लगा कि "मैंने तो निज़ाम के विरुद्ध तुम्हें सहायता देना स्वीकार किया है, मराठों के विरुद्ध नहीं, परन्तु यदि तुम चाहो तो तुम्हारी ओर मराठों को सन्धि करा देने में मैं बीच-बिचाव कर सकता हूँ।" अन्त में सालबाई की सन्धि भोंसले की मध्यस्थता के बिना ही हुई। इसके बाद नाना फड़नवीस का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ा और अँग्रेज भी उनकी सहायता चाहने लगे। यह देख मुधाजी ने भी पूना दरबार से स्नेह बढ़ाने का प्रयत्न किया। टीपू पर चढ़ाई करते समय वह स्वयम सेना लेकर हरिपन्त फड़के के सहायतार्थ गया था, पर मराठों के "बदामी" ले लेने पर अपने पुत्र और सेना को छोड़कर वह नागपुर लौट गया।

सन् १७८८ में मुधाजी की मृत्यु हुई। मुधाजी के राघौजी के सिवा खण्डोजी और बेंकाजी उर्फ मन्याबापू नामक दो लड़के और थे। खण्डोजी के पास भोंसले की जागीर का उत्तर-भाग और बेंकाजी के अधिकार में दक्षिण भाग था। टीपू पर चढ़ाई करते समय पेशवा ने राघोजी को सहायतार्थ बुलाया और वह गया भी, परन्तु उसने कहा कि " जिस चढ़ाई में स्वयम् पेशवा सेनापति होकर जावेगें उसी चढ़ाई में और पेशवा के ही हाथ के नीचे सरदार की हैसियत से मैं नौकरी कर सकता हूँ, दूसरों के हाथ के नीचे नहीं कर सकता "। अन्त में सेना के व्यय के लिए दस लाख रुपये देने पर राघोजी को पेशवा की नौकरी करने की क्षमा प्रदान की गई। इसके बाद ही जब खण्डोजी की मृत्यु हो गई तो राघोजी ने बैंकाजी को चांदा और छतीसगढ़ की जागीर दी। इसके ८-१० वर्ष बाद तक तो भोंसले और पेशवा का बहुत सम्बन्ध नहीं पड़ा, परन्तु फिर बाजीराव को गद्दी पर बैठाने के षड़-यन्त्र करने के समय सम्बन्ध पड़ा। इस समय नाना फड़नवीस ने जो बड़ा भारी व्यूह रचा था उसमें सम्मिलित होने के लिए राघौजी को १५ लाख रुपये और मण्डला प्रान्त तथा चौरागढ का किला देना स्वीकार किया था। इस समय उचित अवसर जानकर पेशवा की नौकरी के लिए उसने और भी अधिक सुभीते प्राप्त कर लिये। सन् १८०१-२ में जब सिन्धिया और होलकर में झगड़ा हुआ तब भोंसले ने उस कठिन अवसर पर सिन्धिया का लेकर उसकी सेना को नर्मदा-पार उतारने में बड़ी सहायता दी। इसके बाद बसई में अंगसेजों और बाजीराव पेशवा से जो सन्धि हुई उसे तोड़ने

का विचार बाजीराव करने लगा। इस सन्धिके समय बाजीराय ने सिन्धिया, भोंसले आदि की सम्नति नहीं ली थी, अत: इसके समाचार सुनाने के लिए बाजीराव ने नारायणराव वैद्य को राघोजी के पास भेजा और उसके द्वारा पूना आकर यशवन्तराव होलकर का प्रतिनिधित्व करने की प्रार्थना की। दौलतराव सिन्धिया के समान राघोजी भोंसले को भी बसई की संधि स्वीकार नहीं थी। इधर सिधिया का कारभारी यादवराव भास्कर भी जब राघोजी के पास पहुँचा तो उसके और सिन्धिया के बीच में बसई की सन्धि तोड़ने का निश्चय हुआ। असाई की लड़ाई में राघौजी स्वयम् सेना लेकर सिन्धिया से जा मिला था, परन्तु युद्ध प्रारम्भ होते ही वह लौट आया। तारीख ३१ अक्टूबर को राघोजी ने अपने ५ हजार सवारों से अंग्रेजों की रसद पर धावा करवाया परन्तु उसमें वह सफल न हो सका। युद्ध में राघोजी के शामिल हो जाने के कारण अंग्रेजों ने बङ्गाल की ओर से कटक प्रान्त पर चढ़ाई की। तब राघोजी अपने देश को लौटा आया। दिसम्बर में संधि की बातचीत शुरू हुई और अंत में यह ठहरा कि कटक बालसौर के परगने और वर्धा नदी के पश्चिम की ओर का प्रदेश तथा नरनाल, गाविलगढ़ के दक्षिण की ओर का प्रदेश, राघोजी अंगरेजों को दें और केवल ये दोनों किले और उनके आसपास का चार लाख की आमदनी का प्रान्त राघोजी के पास रहे तथा निजाम पर जो राघोजी के दावे हों, राघोजी छोड़ दें और निजाम तथा पेशवा से भोंसले के जो झगड़े हों उनमें अंगरेजों की मध्यस्थता राघोजी स्वीकार करें। इसके सिवा दोनों के वकील दोनों के दरबार में रहें। इस सन्धि को देवगांव की सन्धि कहते हैं। अन्तिम शर्त के अनुसार नागपुर में रेजीडेन्ट के पद पर माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन की नियुक्ति हुई थी। यद्यपि यह सन्धि राघोजी को मन से पसन्द नहीं थी तथापि चारों ओर से असमर्थ हो जाने के कारण उसे लाचार होकर स्वीकार करनी पड़ी। भोंसले की सेना सिन्धिया और होलकर की सेना की अपेक्षा कम दर्जे की थी, इसलिए अमीरखां के पिण्डारियों ने सन् १८०९ में बरार प्रान्त में अर्थात राघोजी के राज्य में जो उपद्रव किया उसका प्रतिकार करने में राघोजी को अंग्रेजों की सहायता लेनी पडी। सन् १८१४ में राघोजी से फिर एक नवीन संधि करने के लिए अंगरेजों ने कहना शुरू किया। इस नई सन्धि का प्रयोजन यह था कि अंगरेजों पर यदि कोई चढ़ाई करे, तो भोंसले अंगरेजों को सहायता दें, परन्तु राघोजी ने यह स्वीकार नहीं किया।

सन् १८१६ के मार्च में राघोजी की मृत्यु हुई और उसका पुत्र परसोजी 'सेना साहब सूभे' बना, परन्तु उसके विक्षिप्त होने के कारण उसका ककेरा भाई मुधाजी उर्फ अप्पासाहब (वेंकाजी का पुत्र) काम-काज देखने लगा। अप्पासाहब सन् १८०३ के युद्ध में शामिल था और अरगाँव की लड़ाई में मराठी सेना का आधिपत्य भी उसे ही दिया गया था। अंग्रेजों से स्नेह कर अपना अधिकार स्थिर रखने के लिए

उसने अंगरेजों से बातचीत करना प्रारम्भ किया और राघोजी ने जो सन्धि करना अस्वीकार किया था उसे करना इसने स्वीकार किया। इस सन्धि के अनुसार यह ठहरा कि एक हजार सवार और छः सजार पैदल सेना के खर्च के लिए भोंसले ७॥ लाख रुपये वार्षिक सहायता दें और अंगरेजों के ३ हजार सवार और २ हजार पैदल सिपाहियों को भोंसले अपने यहाँ रक्खें। यह सन्धि हो जाने पर भी पेशवा की सहायता से अंग्रेजों की पक्ष छोड़ने की इच्छा उसके मन से नष्ट नहीं हुई थी। सन १८१७ में परसोजी का खून हुआ। कहा जाता है कि यह खून अप्पासाहब ने ही कराया था। परसोजी के बाद नागपुर की सरदारी अप्पासाहब को मिली। इन दिनों में इनका और बाजीराव क गुप्त पत्र-व्यवहार हो रहा था। बाजीराव और अंगरेजों का वैमनस्य प्रकट होने के समय के लगभग अप्पाजी ने भी अपनी सेना बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। बाजीराव ने अप्पासाहब के लिए एक जरी का निशान भेजकर उन्हें 'सेना-पति' का पद दिया था जिसे उन्होंने तारीख २४ नवम्बर, १८१७ ई० को प्रकट रीति से स्वीकार किया था, अतः शीघ्र ही अंग्रेजों और भोंसलों में सीताबर्डी स्थान पर युद्ध हुआ। तारीख १५ दिसम्बर को अप्पासाहब ने अंगरेजों की शरण ली। तब अंगरेजों ने उन्हें फिर गद्दी पर बैठाया और उनका २४ लाख की आमदनी का प्रान्त अपने हस्तगत कर उनकी सेना अपने अधिकार में ले ली। दूर्दैव से अंगरेजों को अप्पासाहब के विद्रोह का फिर सन्देह हुआ और उन्हें जेंकिन्स साहब ने कैद कर लिया। बाजीराव भागते भागते जब चाँदा की ओर मुड़े तो उनको सहायता देने तथा गोंड़ लोगों को विद्रोह करने के लिए उकसाने का प्रयत्न करने का आरोप अप्पासाहब पर किया गया और इसीलिए वे इलाहाबाद के किले में कैद रक्खे गये। परन्तु वहाँ उन्होंने पहरे वाले को मिला लिया, उसकी पोशाक पहिनकर भाग खड़े हुये और महादेव के पर्वत पर जाकर आश्रय लिया। यहाँ पिण्डारियों का एक सरदार आकर इनसे मिला और उसने आसपास बहुत धूम-धाम की। अप्पासाहब के पीछे राघोजी की स्त्री ने एक लड़के को गोद लिया और उसके नाम से रेजेन्सी का कारबार चलाया। अंगरेजों ने अप्पासाहब को पकड़ने के लिये सेना भेजी, परन्तु उस सेना को भी धोखा देकर वे असीरगढ़ के किले पर चले गये और उस किले को अपने अधिकार में कर लिया। इस किले पर जनरल डब्हटन और मालकम साहब ने सेना के साथ घेरा डाला। अप्पासाहब ने इस किले पर से २० दिन तक लडाई की। अन्त में ता० ९ अप्रैल १८१९ को अंग्रेजों ने किला ले लिया। अप्पासाहब यहां से भी भाग गये और सिक्ख दरबार के आश्रय में जाकर रहने लगे। सन १८५७ के विद्रोह के पहले लार्ड डेलहौजी के शासन-काल में जो देशी राज्य ब्रिटिश-राज्य में मिला लिये गये उनमें एक नागपुर का भी राज्य था, जिसका अन्त सन् १८५३ में हुआ।

सावन्तवाड़ी के भोंसले और अङ्गरेज

सावन्तवाड़ी के सावन्त भी प्रसिद्ध भोंसले घराने के ही हैं। इन्हें 'सावन्त' कहते हैं और इन्हीं के नाम पर गाँव का नाम 'सावन्तवाड़ी' पड़ा है। इस घराने का मूल पुरुष विजय नगर-राज्य के समय प्रसिद्ध हुआ था। सोलहवीं शताब्दी के लगभग गोआ और सावन्तवाड़ी प्रान्त बीजापुर के अधिकार में आये। उस समय सावन्त बीजापुर के राजा के आश्रय में रहने लगे। जब शिवाजी ने कोकन प्रान्त जीता तब उनसे छुड़ाने के लिए लखम सावन्त ने बादशाह से आज्ञा प्राप्त की, परन्तु शिवा जी ने उसका पराभव किया और कुड़मल प्रान्त में भी घुस उसके थाने और किले लेकर लखम सावन्त को बहुत हानि पहुँचाई। तब लखम, पोर्तुगीजों के आश्रय में गया। शिवाजी ने पोर्तुगीजों पर भी आक्रमण किया और फोंड़ा नामक किला उनसे लिया। इसके पश्चात् पोर्तुगीज भी शरण में आये और उन्होंने तोपें नजर की। लाचार और निराश्रय होकर लखम ने १६५६ में शिवाजी से सन्धि की जिसमें सावन्त ने यह स्वीकिया कि कुड़ाल प्रान्त की आमदनी में से छः हजार होन (सिक्का) लेकर अपने पास सेना रक्खूंगा और काम पड़ने पर शिवाजी जी नौकरी बजाऊंगा। शिवाजी ने सावन्त को उस प्रान्त का अधिकारी बनाकर 'सावन्त बहादुर' का पद दिया, परन्तु लखम सावन्त फिर बीजापुर वालों से मिल गया और सन् १६६४ में बीजापुर वालों को शिवाजी के थाने देकर मालवण गाँव इनाम में लिया तथा और भी कुछ हक प्राप्त किये। रांगण किले पर बीजापुर की फौज ने जो आक्रमण किया था उसमें लखम सावन्त शामिल था। इसके बाद जब कुड़ाल गांव में शिवाजी बीजापुर की सेना में लड़ाई हुई तो उसमें लखम ने बड़ा भारी शौर्य प्रकट किया था।

सावन्त और अंग्रेजों का प्रथम सम्बन्ध सन् १६७४ में हुआ। सावन्त कोंकण-पट्टी पर खलासी का काम करता था। उसी समय एक जहाज को लूटते समय एक अंगरेज व्यापारी जहाज से उसकी लड़ाई हुई। इस लड़ाई के सम्बन्ध में फायर नामक अंगरेज ने इस प्रकार लिखा है—"लुटेरों ने हम पर बहुत अग्नि-वर्षा की, गुलेल से पत्थर मारे और भाले फेंके। उनका जहाज हम से दस गुना बड़ा था। उनकी तैयारी बहुत अच्छी थी। नाविकों के सिवा उस जहाज में साठ लड़ाऊ योद्धा और थे।" लखम सावन्त सन् १६७५ में मरा। उसने अपने नाम का सिक्का चलाया था। शिवा जी की मृत्यु के बाद मुगलों ने कोकण पर चढ़ाई की। इधर सावन्त बीजापुर के आश्रय से भी निकल गये थे और कुड़ाल के मूल मालिक प्रभु भी सावन्त के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। तब खेम सावन्त ने सन १६८६ में औरंगजेब बादशाह से

देशमुखी और मनसबारी की सनद प्राप्त की। इसके बाद आंग्रे प्रबल हुए और इनसे सावन्तों के अनेक युद्ध हुए। सन १६९७ में जब प्रभु-घराने का अन्त हो गया, तब सावन्त ने कुड़ाल प्रान्त पर अधिकार कर लिया। आंग्रे के समान पोर्तुगीजों से भी अंगरेजों के बहुत युद्ध हुए। सन १७०७ में जब औरंगजेब की मृत्यु हुई तब उसके लड़के मोअज्जम ने दिल्ली की गद्दी-सम्बन्धी झगड़े में सावन्त की सहायता ली थी। पश्चात् दक्षिण से मुगलों का शासन नष्ट हो जाने के कारण खेम सावन्त ने मराठों का आश्रय लिया। पहले यह शाहू महाराज के विरुद्ध ताराबाई से जाकर मिला और कुड़ाल प्रान्त उनसे लिया। जब शाहू की विजय हुई और ताराबाई कोल्हापुर चली गई तब वह शाहू से जाकर मिल गया और उसने आधा 'शालसी' परगना शाहू से इनाम में पाया। इसलिए कोल्हापुर वालों से और अंगरेजों से युद्ध हुआ। सन १७२० में सावन्त ने आंग्रे के विरुद्ध अंगरेजों से सन्धि की। सन १७३० में दूसरी सन्धि फिर हुई। इसमें यह ठहराव हुआ कि—"अंग्रेज सावन्तों को तोपें दिया करें और संयुक्त फौज के जीते हुए किले आदि सावन्तों को मिले।" कहा जाता है कि भारतीय राजाओं की संधि में यह संधि सबसे पहले है।

फोंड़ सावन्त ने बहुत से किले बनवाये और उसके पुत्र रामचन्द्र और जयराम सावन्त ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। सन १७३८ में सावन्त ने पोर्तुगीजों का पराभव कर बहुत सी तोपें और ध्वजाएं प्राप्त कीं। सन १७३९ में जब पेशवा ने बसई ली तब सावन्त ने भी उसमें थोड़ी बहुत सहायता दी थी। सन १७४० में सावन्त और पोर्तुगीजों से सन्धि हुई, जिसके अनुसार इन लोगों ने २५ हजार रुपये सावन्त को दिये। सन् १७४९ में सावन्त और मराठा सरदार भगवन्तराव पण्डित ने आंग्रे पर चढ़ाई कर बहुत सा देश विजय किया। इसके बाद सन १७५० में सावन्त और आंग्रे के कई युद्ध हुए जिनमें सावन्त को बहुत कीर्ति प्राप्त हुई। सन १७५२ में सावन्त घराने में गृह-कलह प्रारम्भ हुई। तब पेशवा ने बीच में पड़कर उसे शान्त किया। इस कलह के कारण सावन्त-घराने के एक पुरुष ने पोर्तुगीजों का आश्रय लिया, अतः झगड़े की जड़ न मिट सकी। सन १७५६ में प्रभु घराने के एक पुरुष ने कुड़ाल प्रान्त वापिस लेने के लिए पेशवा की सहायता प्राप्त की। सन १७६२ में जिबबादादा बक्षी-केरकर (जो सावन्तवाड़ी का रहने वाला था) के प्रयत्न से जयप्पा सिन्धिया की लड़की का खेम सावन्त के साथ विवाह हुआ। इस प्रकार जिबबादादा ने अपने पहले मालिक के उपकार का बदला चुकाया और सिन्धिया तथा सावन्त का भी मेल हो गया। फिर सावन्तों के लुटेरे पन के कारण अंगरेजों से और उनसे अनबन शुरू हुई। सन १७६५ में दोनों की लड़ाई छिड़ गई और फिर इस प्रकार सन्धि हुई कि सिन्धु-दुर्ग से जो वेतन अंगरेजों को मिलता है वह सावन्तों को मिले। युद्ध-व्यय के बदले में

एक लाख रुपये, कुछ प्रदेश और भरतगढ़ का किला, सावन्त अंगरेजों को दें, सावन्त जहाजी बेड़ा न रक्खें और न यूरोपियनों को नौकरी में रक्खें तथा गोला, बारूद आदि लड़ाई का सामान अंगरेज यथोचित मूल्य पर सावन्तों को बेचें। परन्तु इस संधि की शर्तों का भी जब सावन्त पूरी तरह नहीं पालन कर सके तब उन्हें और भी कड़ी शर्तों की सन्धि दूसरी बार स्वीकार करनी पड़ी। सन १७८४ में जिबवादादा ने शाह-आलम बादशाह से सावन्त को "राजा बहादुर" का पद और मोरछल का सन्मान दिलाया। सावन्त का सम्बन्ध सिन्धिया से हो गया था, अतः सावन्त को सतारा के भोंसले को ऋणानुबन्धी होना पड़ा और इसीलिए कोल्हापुर वालों ने सन १७८७ में सावन्त से युद्ध छेड़ दिया। तब सावन्तों को अपने पड़ोसी पोर्तुगीजों से सहायता लेना आवश्यक हुआ। इस युद्ध में जो कोल्हापुर वालों के कई थाने ले लिये गये थे उन्हें वापिस दिलवा देने को सिन्धिया के द्वारा पूना-दरबार में प्रयत्न किया गया। तब परशुराम भाऊ ने कोल्हापुर वालों पर चढ़ाई कर सावन्तों के थाने वापिस दिलवाये। इस पर पोर्तुगीजों ने छेड़-छाड़ की और सावन्तों से युद्ध कर उनके कुछ थाने ले लिये, परन्तु इन्होंने तुरन्त ही पोर्तुगीजों का पराभव किया और पूरा फोंडा परगना लौटा लिया।

सन १७९६ में जिबवादादा बक्षी की मृत्यु हुई जिससे सावन्तों का एक बड़ा भारी आश्रय ही नष्ट हो गया। सन १८०३ में खेम सावन्त का परलोक बास हो गया। यह राजा विद्या व्यसनी के नाम से बहुत प्रसिद्ध था और इसने साधु-सन्तों को दया-धर्म में भी बहुत कुछ दिया था। इसकी चार स्त्रियाँ थी जिन्होंने इसकी मृत्यु के बाद राज्य कार्य चलाया। इनके बहुत शत्रु थे और इनमें गृह-कलह की भी कमी न थी, अतः इनके शासन काल में खूब उथल-पुथल हुई। यहाँ उनका विस्तृत वर्णन देने की आवश्यकता नहीं है। इस कलह के कारण सावन्तों की साम्पत्तिक स्थिति बहुत ही नष्ट हो गई थी। पोर्तुगीजों और कोल्हापुर वालों ने उनकी बहुत सहायता की। सन १८०५ में खेम सावन्त की बड़ी स्त्री लक्ष्मी बाई ने भाऊ साहब को गोद लेकर राज्य का उत्तराधिकारी बनाया, परन्तु ऐसा न हो सका। अतः सन १८०८ में भाऊ साहब का खून हुआ। इसी वर्ष लक्ष्मी बाई की भी मृत्यु हो गई। तब खेम सावन्त की दूसरी स्त्री दुर्गा बाई ने राज्य-कार्य अपने हाथ में लिया। यह प्रसिद्ध है कि यह स्त्री बहुत कार्य-दक्ष, चतुर, न्यायशील और स्वाभिमानिनी थी। इसने गृह-कलह मिटाने के लिये फोंड सावन्त को गद्दी पर बैठाया।

सन् १८१२ में सावन्तबाड़ी के आसपास जो सामुद्रिक डाके पड़ा करते थे उन्हें बन्द करने के लिए अंग्रेजों ने सावन्तों से बार बार अनुरोध करना शुरू किया

तब मथुरा में संधि होकर यह ठहरा कि सावन्त, अपने सब जहाज, वेंगुरला का कोट और तोपों की बैटरी के स्थान अंग्रेजों के अधीन करें और अंग्रेजों की आज्ञा के बिना कोई जहाज बन्दर छोड़कर न जावे तथा सावन्त अंग्रेजों की सेना को अपने राज्य में रहने दें। इसी वर्ष फोंड़ सावन्त की भी मृत्यु हुई। तब उसके पुत्र बापू साहब को दुर्गाबाई ने गद्दी पर बैठाया। सन् १८१३ में अँग्रेजों ने कोल्हापुर वालों का पक्ष लेकर अपनी सेना सावन्तबाड़ी पर भेजी और भरतगढ़ का किला सावन्तों से कोल्हापुर वालों को दिलाया तथा वेंगुरटला का किला स्वयं अंग्रेजों ने ले लिया। दुबारा फिर अंग्रेजों ने सेना भेजी और वह प्रदेश जिसे पहले अंग्रेज बदले में लेना चाहते थे, सावन्तों से बलात् छीन लिया। सन् १८१९ में रेडीनिवली और बादे के किले भी अंगरेजों ने ले लिये। इस वर्ष दुर्गाबाई की भी मृत्यु हो गई और खेम सावन्त की शेष दो स्त्रियां राज-काज देखने लगीं, परन्तु अंगरेजों ने कहा कि कारभारी नियत करने का अधिकार हमारा है, अतः उन्होंने कप्तान हचिनसन को सावन्त बाड़ी का रेजीडेन्ट नियत किया। सन १८२२ से यह काम रत्नागिरी के कलेक्टर के सुपुर्द किया गया। इसके बाद कोल्हापुर वालों के घाट के नीचे गाँवों से कर वसूल न करने के बदले में ७८२४ रु० वार्षिक अंगरेजों ने सावन्तवाड़ी वालों से कोल्हापुर वालों को दिलाये। सन १८२३ से बापू साहब स्वतंत्र रीति से काम-काज देखने लगे। सन १८३० में इनके विरुद्ध जब विद्रोह खड़ा हुआ तब उसके नष्ट करने के लिए अंगरेजों की सेना लानी पड़ी। सन १८२३ में राज्य का ऋण कम करने के लिए अंगरेजों ने राज्य का आय-व्यय निश्चित कर दिया। सन १८३५ में फिर विद्रोह हुआ, जिसे ब्रिटिश सेना ने आकर शान्त किया। सन १८३६ में सावन्तों से अंगरेजों ने जकात लेना शुरू किया। सन १८३८ में अंगरेजों ने राजा की दुर्व्यवस्था के कारण पोलिटिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट नियत किया। इसके बाद कितने ही वर्षों तक बराबर विद्रोह पर विद्रोह होते रहे। सावन्तवाड़ी प्रान्त विद्रोह करने के लिए बहुत उपयुक्त स्थान था और वहाँ की प्रजा भी किसी की परवाह नहीं करती थी। गोआ की सीमा से उन्हें गोली-बारूद मिला करती थी। सन १८४७ में शेष बचे हुए विद्रोहियों को क्षमा प्रदान की गई और उन्हें संस्थान में आने जाने की आज्ञा दे दी गई। तब उन लोगों ने आकर राज्य की सेना में नौकरी कर ली। स्वयम् युवराज भी इन विद्रोहियों में शामिल था।

सिन्धिया और अंगरेज

सिन्धिया-घराने का मूलपुरुष राणोजी कण्हेर खण्ड का पटेल था। यह बालाजी विश्वनाथ पेशवा की नौकरी में मुख्य सेवक का काम करता था। राणोजी एक दिन बाजीराव के जूते अपनी छाती से लगाये सोया था। यह देखकर बाजीराव बहुत

प्रसन्न हुए और उसे कृपापूर्वक पगड़ी का काम दिया गया। वहाँ से राणोजी ने अपने पराक्रम और योग्यता से इतनी उन्नति की कि एक दिन राणोजी मराठों में केवल मुख्य सरदार ही नहीं बना, वरन मुहम्मद बादशाह के यहाँ जब बाजीराव की जामिनी की आवश्यकता हुई तब राणों जी की जामिन लेकर राणोंजी के दस्तखत जामिनि के क़ागज पर कराये गये। मालवा में सरकारी नौकरी करते करते ही राणोंजी की मृत्यु हुई। राणोंजी के लड़कों में जयप्पा और दत्ताजी नामक दो पुत्र बड़े ही बलवान और शूर थे; जिन्होंने भी सरकारी सेवा उत्तम रीति से की थी। जयप्पा का खून हुआ था और दत्ताजी दिल्ली की लड़ाई में मारा गया था। राणोंजी की राजपूत रानी से उत्पन्न दो पुत्र और थे जिनका नाम महादजी और तुकोजी था। राणोंजी के पश्चात् जयप्पा का पुत्र जनकोजी सरदार हुआ। यह भी अत्यंत शूर था। इसकी मृत्यु पानीपत के युद्ध में हुई। पानीपत के युद्ध से लौटने के पश्चात् महादजी को पेशवा की निजी सेना का काम दिया गया। इसकी निज की सेना भी बहुत थी। अबदाली के काबुल लौट जाने पर मराठे फिर हिन्दुस्थान भर में फैल गये। उस समय महादजी, विसाजी कृष्ण विनीवाले के हाथ के नीचे सरदारी का काम करता था, परन्तु इसके बाद ही उसने स्वतंत्र रीति से देश-विजय और खंडनी वसूल करने का क्रम प्रारंभ किया, जिसमें वह बहुत सफल हुआ। नानासाहब पेशवा के बाद महादजी का प्रभाव पेशवा के दरबार में बढ़ने लगा और सब सरदारों से भी उसका मान बढ़ गया। महादजी और नाना फड़नवीज का उत्कर्ष—काल एक था। अंगरेजों से पेशवा के जो युद्ध हुए उनमें पेशवा का मुख्य आधार सिन्धिया था। सिन्धिया ने ही बड़गाँव में अंगरेजों को हराकर पेशवा के अनुकूल संधि करने के लिये अंगरेजों को बाध्य किया और सालबाई की संधि के समय भी अंगरेजों और पेशवा की मध्यस्थता सिन्धिया ने ही की तथा संधि की शर्तों के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र संस्थानिकों की हैसियत से दोनों का जामिनदार भी सिन्धिया ही हुआ। इसके सिवा दिल्ली को अधिकृति कर बादशाह शाहआलम को अपने वश में कर उनसे पेशवा के नाम पर वकील मुतलक की सनद प्राप्त की।

उत्तर भारत में सिंधिया और अँगरेज देश बढ़ाने की इच्छा रखते हुए अपने अपनी धिकार की ताक में थे, अतः इन दोनों का वैमनसय हो जाना स्वभाविक था। दोनों ही चाहते थे कि दिल्ली और उसका बादशाह हलारे अधिकार में रहें। इसके लिए दोनों ने प्रयत्न भी खूब किये, परन्तु महाद जी के मरने तक अँग्रेजों को इच्छा सफल न हो सकी। सन् १७९४ में महाद जी सिंधिया की मृत्यु हुई। महाद जी में अँग्रेजों के ही समान पराक्रम, चातुर्य और राजनीतिज्ञता थी। महाद जी की मृत्यु के पश्चात् अँगरेज हाथ-पांव फेंलाने लगे। महाद जी के उत्तराधिकारी का अँगरेजों ने

पराभव किया और उसका उत्तर की ओर का बहुत सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। महाद जी ने मध्य भारत में जितना प्रदेश अधिकृत किया था केवल उतना ही उसके अधिकारी के पास रह सका। एक ही वर्ष (१८०३) में अलीगढ़, दिल्ली, आसई आगरा, लासवारी, और आरगाँव में सिन्धिया की सेना का पूरा पतन और हुआ महाद जी के समय का सैनिक वैभव अस्त हो गया। इसी वर्ष के दिसम्बर मास की सूरजी अँजनगांव की सन्धि के अनुसार सिन्धिया को यमुना और गंगा के बीच के प्रान्त, जयपुर, जोधपुर, और गोहद के उत्तर का प्रदेश भड़ोंच और अहमद नगर के परगने और किले और अजंटा घाटी तथा गोदावरी के बीच का देश तथा मुगल, पेशवा, निजाम और गायकवाड़ पर के सब हक और दावे छोड़ने पड़े। साथ ही उन राजाओं की स्वतंत्रता, जो पहले सिन्धिया के अधीन थे और इस समय अँगरेजों के पक्ष में थे, सिन्धिया को मान्य करनी पड़ी। फिर एक वर्ष बाद बुरहानपुर में सन्धि हुई जिसमें दौलत राव सिन्धिया को अपने खर्च से अंग्रेजों की छः हजार सेना रखना स्वीकार करना पड़ा। इसके एक वर्ष बाद अहमदाबाद में मार्क्विस आफ वेलस्ली से सिन्धिया ने फिर सन्धि की जिसमें सुरजी अँजनगाँव की सन्धि का कुछ सन्शोधन किया गया और धौलपुर, बारी, आदि परगने देकर उसके बदले में सिन्धिया ने ग्वालियर और गोहद ले लिया। इसी समय सिन्धिया राज्य की उत्तर सीमा चंबल नदी निश्चित हुई और अंग्रेजों ने यह स्वीकार किया कि सिन्धिया के विना पूछे उदयपुर, कोटा आदि राज्यों से हम स्वतंत्र सन्धि न करेंगे। इसमें एक विषेश महत्व की बात यह हुई कि अपने और अपनी लड़की के लिए अंग्रेजों से चार लाख की जागीर लेकर सिन्धिया, अंग्रेजों के वेतनिक सरदार भी बने। सन् १८१७ में अंग्रेजों को सन्देह हुआ कि कदाचित् सिन्धिया, बाजीराव पेशवा की सहायता करेगा, अतः उन्होंने अपनी सेना सिन्धिया के राज्य की ओर भेजी तब सिन्धिया ने सन्धि कर अपनी सेना अँग्रेजों के बतलाये हुए स्थान पर छावनी डालकर रखना और बिना उसकी आज्ञा के सेना को कही न भेजना स्वीकार किया और मराठों से युद्ध होते समय अँग्रेजी सेना या डसी रसद को अपने राज्य में न रोकना स्वीकार किया और इसके विश्वास के लिए अशीर गढ़ का किला तथा राजपूत राजाओं की तोन साल की वसूली अँग्रेजों को देने का वचन भी भी दिया।

दौलतराव सिन्धिया सन् १८२७ के मार्च मास में मरे। इनके शासन में पेशवाई के साथ-साथ सिन्धिया शाही के नाश होने का भी करीब-करीब समय आ चुका था, परन्तु सदैव से यह ड़ेढ़ करोड़ रूपयें वार्षिक आमदनी का मराठी राज्य उत्तर भारत में बच गया। महाद जी ने जितना अपना राज्य बढ़ाया था करीब करीब उतना हीं राज्य उनके बाद की पीढ़ी में दौलत राव ने खो दिया। दौलतराव की मृत्यु

के पश्चात् उनकी स्त्री बायजो बाई अल्प-वयस्क दक्षिणी मराठा बालक गोद में लिया और ब्रिटिश रेजीडेन्ट को देख-रेख में प्राय: सब राज्य कार्य होने लगा। सन् १८३७ में सिन्धिया की सेना का पुन: संगठन हुआ और उसपर अँग्रेजों के अधिकार नियत किये गये। जनकों जी सिन्धिया के शासन काल में पहले तो नैपाल और अफ़गानिस्तान से और फिर सन् १८५७ में पेशवा (ब्रह्मवर्ति) की ओर से अंग्रेजों के विरुद्ध युद्धों में खड़े होने के लिए तैयार करने को वकील आये थे, परन्तु जनको जी ने सिर नहीं उठाया।

इसी बीच में अर्थात् सन १८४४ में सिंधिया की बढ़ी हुई सेना से महाराजपुर में अंगरेजों से फिर लड़ाई हुई और उसमें अंगरेजों को हानि भी बहुत उठानी पड़ी थी, परन्तु अन्त में उसको हार हुई और इसके प्रायश्चित्त में सिंधिया को १८ लाख की आमदनी का प्रदेश अंगरेजों को सैनिक काम के लिए देना पड़ा तथा अपनी सेना भी कुछ कम करनी पड़ी। सन १८५७ में सिन्धिया की कुछ सेना ने विद्रोह कर सिन्धिया को अपना अगुआ बनने की प्रार्थना की। यह ऐसा समय था कि कर्नल मालेसन कहता है कि "यदि इस समय महादजी सिन्धिया जोवित होता तो उसने इस समय से लाभ उठाकर अंग्रेजी राज्य का नाश अवश्य किया होता और दौलतराव सिन्धिया भी इतना बन्ध चुका था, तो भी वह विद्रोह में अवश्य शामिल हो गया होता तथा जयाजीराव सिन्धिया भी यदि चाहते तो झांसी की रानी और अंगरेजों की विद्रोही सेना से मिलकर उत्तर-भारत से अंगरेजों को उखाड़ देते।" परन्तु जयाजीराव ने अंगरेजों का पक्ष नहीं छोड़ा इस ईमानदारी के बदले में अंगरेजों ने उन्हें तीन लाख की आमदनी का प्रदेश और तीन हजार के बदले पाँच हजार सेना और बत्तीस तोपें की जगह छत्तीस तोपें रखने की आज्ञा दी। सिन्धिया की जिस सेना ने विद्रोह किया था उसके स्थान पर अँगरेजों ने अपने अधिकारियों के हाथ के नीचे की सेना रक्खी। इस प्रकार अँगरेज और सिन्धिया के प्रयत्न सम्बन्ध का इतिहास करीब ८०-८५ वर्षों का है।

होलकर और अङ्गरेज

जिस तरह सिन्धिया का मूल पुरुष हुजरा था, उसी प्रकार होलकर घराने का मूल पुरुष भेड़े चराने और कंबल विननेवाला एक गड़रिया था। एक दिन उसके गाँव पर से गुजरात की ओर सेना जा रही थी। उसमें वह भी सिपाही बनकर भर्ती हो गया। इसने लड़ाई में अच्छा पराक्रम दिखाया, अत: इसे तुरन्त ही कंठजी कदम सरदार के हाथ के नीचे पच्चीस सवारों की मनसबदारी दी गई। इसके पश्चात जब पेशवा मालवा की ओर जाने वाले थे तो उन्होंने शत्रु पक्ष के विरुद्ध मल्हारराव होलकर का पराक्रम देखकर कंठाजी से मल्हारराव को अपनी नौकरी के लिए माँग लिया और उन्हें ५०० सवारों का मनसबदार बनाया। राणोजी सिन्धिया के समान मल्हार-

राव होलकर का उत्कर्ष भी तुरन्त ही हुआ। सन १७२८ में बारह और १७३१ में, २० और इस तरह मालवा के ३२ परगने अधिकृत कर मल्हारराव के अधिकार में दिये गये और नियमानुसार सूबेदारी की सनद दी गई।

इसके पश्चात इन्दौर और उसके नीचे का प्रदेश मल्हारराव को सदा के लिए दिया गया और सन १७३५ में नर्मदा के उत्तर की ओर की सेना का पूर्ण आधिपत्य भी दिया गया। निजाम और बसई के पोर्तुगीज आदि के साथ युद्धों में मल्हारराव प्रमुख थे। सन १७५१ में मल्हाराव ने रूहेलों के विरुद्ध अयोध्या के नवाब को सहायता दी थी। मल्हारराव पानीपत के युद्ध में शामिल था और उसने सदाशिव भाऊ को सलाह दी थी कि रणक्षेत्र में सम्मुख की लड़ाई करने की अपेक्षा धोखा देकर लड़ना उचित है, परन्तु सदाशिव ने यह सम्मति नहीं मानी। पानीपत में पराजय होने पर बची हुई सेना लेकर मल्हारराव दक्षिण को लौट आये और सन १७६५ में उनकी मृत्यु हुई। मृत्यु के समय उनके राज्य की आमदनी ७५ लाख के लगभग थी। मल्हारराव के पश्चात् उनकी पुत्र वधू अहिल्याबाई और तुको जी होलकर ने मिलकर करीब ३० वर्षों तक राज्य चलाया। दूसरे राज्यों से किस प्रकार का सम्बंध रखा जाय, यह अहिल्याबाई ही करती थी। तुकोजीराव होलकर गुजरात, मैसूर आदि की लड़ाइयों में सम्मिलित हुआ था।

सन १७६५ में अहिल्याबाई और सन १७६७ में तुकोजीराव होलकर की मृत्यु के पश्चात् सिन्धिया और होलकर में अनबन शुरू हुई और बाजीराव के धूर्त स्वभाव के कारण सिन्धिया के सामन होलकर की मित्रता का नाता भी पूना दरबार से टूट गया। सन १७६८ में यशवंतराव होलकर ने अपने पराक्रम से अपने पिता का आसन प्राप्त किया। अंग्रेज और तुकोजी होलकर का सम्बन्ध शत्रुत्व की दृष्टि से पहले-पहल बोरघाट के युद्ध में हुआ। इसके बाद बसई की संधि के पश्चात् भी इसी प्रकार का सम्बंध हुआ। सन १७०२ में बसई की संधि के कारण अंगरेज और सिन्धिया का जो युद्ध हुआ। उसमें यशवंतराव तटस्थ रहा, परन्तु सिन्धिया का पूर्ण पराभव हो जाने पर स्वत: यशवंतराव ने अंगरेजों से युद्ध छेड़ दिया। कर्नल मानसन को परास्त कर यशवंतराव ने अंग्रेजी राज्य पर आक्रमण भी किया; परन्तु फतहगढ़, डीग, भरतपुर आदि में हार होने पर यशवंतराव को संधि करनी पड़ी। इनका बहुत सा राज्य नष्ट नहीं हुआ। युद्ध से लौटकर इन्दौर आने पर अपनी सेना कम कर दी और [illegible] व्यवस्था करना प्रारम्भ किया। इनका विचार था कि थोड़ी ही क्यों न हों, परन्तु सुशिक्षित सेना रखी जांय और तोप बनाने का कारखाना खोला जाय। परन्तु इतने ही में ये पागल हो गये और सन १८११ में मरे। यशवंतराव होलकर के बाद इन्दौर

में उत्थान होना शुरू हुआ और बहुत कुछ क्रान्ति हुई, सन १८१७ में होलकरको फौज ने फिर अंगरेजों से युद्ध प्रारम्भ किया, परन्तु महीद-पुर में उसकी हार हुई। तब महेश्वर में सन्धि की गई और उसके अनुसार होलकर का बहुत सा राज्य अंग्रेज सरकार के अधिकार में चला गया। इस समय गद्दी पर केवल १६ वर्ष के बालक मल्हारराव थे। उन्हें अपनी रक्षा में लेकर इन्दौर के दीवान तातया जोग के द्वारा अंग्रेजों ने बहुत सी सेना कम की। सन १८२१ और २२ में इन्दौर में जो झगड़े फिसाद हुए वे अंगरेजों की सहायता से नष्ट किये गये। मल्हारराव के शासन काल में अंगरेजों ने अपनी अफीम की आमदनी बढ़ाई। मल्हारराव की मृत्यु सन १८३३ में हुई। इनके पश्चात् हरिराव होलकर गद्दी पर बैठे, परन्तु इनके समय में राज्य में अत्यन्त अव्य-वस्था होने के कारण अंग्रेज सरकार ने अन्तर्व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया इनके बाद सन १८४८ में खंडेराव और खंडेराव के तीन मास बाद ही तुकोजीराव (द्वितीय) गद्दी पर बैठे। इनके शासन में होलकर की सेना ने सन १८५७ में विद्रोह किया, परन्तु तुकोजीराव से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं था।

गायकवाड़ और अङ्गरेज

सब मराठे सरदारों की अपेक्षा गायकवाड़ से अंगरेजों की मैत्री सबसे पहले हुई और मराठों से भी सबसे पहले इन्हीं का दावा शुरू हुआ। इसका कारण यह है कि अंग्रेजों के थाने पहले से गुजरात की ही ओर थे और साथ ही इस प्रान्त की ओर मराटों का लक्ष्य भी नहीं था।

मुगलों के पहले गुजरात में हिन्दुओं का राज्य था। फिर मुगलों ने गुजरात को जीतकर अहमदाबाद में सेना की छावनी बनाई। सन १६६४, ६६ और ७० में शिवा जी ने गुजरात पर चढ़ाई की। तब से गुजरात में मराठों के पाँव पड़े। सन १७०५ में धनाजी जाधव की मराठी सेना ने गुजरात पर चढ़ाई कर मुसलमान सूबे-दार को मार भगाया। मुसलमानों का शासन गुजरात के लोगों को अप्रिय हो गया था, अतः गुजरात में मराठों का प्रवेश होते ही गुजरात के त्रस्त लोग मराठों में आ मिले अठारवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मराठों का सेनापति खंडेराव दाभाड़े गुजरात और काठियावाड़ प्रान्त में खंडनी वसूल करता था। सन १७१८ में मुगल बादशाह ने शाहू को जो सनदें दी थी उनमें गुजरात प्रान्त से चौथाई वसूल करने की सनद नहीं थी परन्तु सेना पति ने खंडनी वसूल करने की पहली पद्धति प्रचलित की। दाभाड़े, शाहू को वसूली बराबर नहीं देते थे, अतः उन्होंने आनन्दराव पंवार को इसके लिए स्थायी रूप से नियत किया। इसी समय के लगभग दाभाड़े की सेना के एक दमा जी

गायकवाड़ नामक सिपाही ने शाहू महाराज से शमशेर बहादुर की पदवी अपने पराक्रम के बल और उपसेना पति का पद प्राप्त किया। सन १७२१ में दमा जी की मृत्यु हुई और उसके भतीजे पिलाजी को गायकवाड़ी सरदारी मिली। धार के पंवारों से अनबन होने के कारण पिलाजी ने सोनगढ़ किले को अपना थाना बनाया। सन १७६६ तक गायकवाड़ की राजधानी यहीं रही। इसी समय के लगभग गुजरात से मुगलों का शासन उठ गया। गुजरात पर चढ़ाई करने का काम उदाजी पंवार; कँठा जी कदम और पिलाजी गायकवाड़ पर था। अतः इन तीनों में इस प्रयत्न को अधिकार में रखने के लिए स्पर्द्धापूर्ण प्रयत्न होने लगा। सन १७२३ में पिलाजी ने सूरत पर अधिकार किया और अहमदाबाद में भी अपना प्रतिनिधि नियत किया। कदम और गायकवाड़ में चौथाई वसूली के दिये झगड़ा हो जाने के कारण खंबायत में दोनों की लड़ाई हुई, जिसमें पिलाजी को हारना पड़ा, परन्तु अन्त में यह ठहरा कि उत्तर गुजरात की खंडनी वसूल करें और दक्षिण की गायकवाड़। कुछ दिनों बाद इनमें फिर झगड़ा हो गया, परन्तु दाभाड़े के प्रतिस्पर्धी बाजीराव से दोनों का बेमनस्य होने से दोनों फिर एक हो गये। फिर डभोई की लड़ई में बाजीराव पेशावा ने दमाजी और पिलाजी का पराभव किया, तब शाहू महाराज ने दाभाड़े के पुत्र को उसके पिता का अधिकार दिया और पिलाजी को निरीक्षक नियतकर "सेना-खासखेल" की पदवी दी। उस समय पिला जी ने भी यह स्वीकार किया कि गुजरात की चौथ की वसूली में से आधा भाग पेशवा के द्वारा शाहू महाराज को तथा छोटे राज्यों से जो खंडनी वसूल होगी उसमें में भी यथोचित भाग दूँगा। सन १७३१ में जब पिला जी का वध हुआ तो उसके पीछे दमा जी गायकवाड़ सरदारी करने लगा। सन १७३४ में बड़ौदा, गायकवाड़ के अधिकार में आया तब से आज कल उन्हीं के अधिकार में है। फिर होलकर की सहायता से कदम गुजरात पर चढ़ाई करने लगा। उस समय दमाजी का ध्यान राजपूताने की ओर विशेष लगा था।

सन १७४२ में दमाजी ने मालवा में लूटपाट की। उस समय नानासाहब पेशवा को यह संदेह हुआ कि यह लूट राघोजी भोंसले ही शरारत से की गई है। अतः उनके और गायकवाड़ के बीच अनबन हो गई सन १७४४ में गायकवाड़ घराने में भी गृह कलह शुरू हुई। सन १७५० में दमाजी ताराबाई के पक्ष में जा मिला। इस समय ताराबाई ने सतारा के महाराज एवं सम्पूर्ण मराठी राज्य को पेशवा के अधिकार से निकालने का विचार किया था। दमाजी का भी यहीं मत था। जब ताराबाई ने रामराज को पकड़कर सतारे के किले में किया तो दमाजी उसके सहायतार्थ गया, परन्तु पेशवा ने उसे पूना में कैद कर लिया। दमाजी का भाई खंडेराव जब पेशवा के पक्ष में आ मिला तो दमाजी ने कैद में से ही कायवाही करके सन् १७३१ से चढ़ी हुई वसूली

को १५ लाख में तोड़ करके अपना छुटकारा कराया। इस समय यह निश्चय हुआ कि गायकवाड़, दस हजार सवार रखकर आवश्यकता पड़ने पर पेशवा की सहायता करें, पाँच लाख पच्चीस हजार रुपये के दाभाड़े के कुटुम्ब पोषण के लिए कुछ वृत्ति नियत कर दें और अब से गायकवाड़ जो देश विजय करें अथवा नवीन खंडनी वसूल करें उसमें से आधा हिस्सा पेशवा को दें और पेशवा, गायकवाड़ को अहमदाबाद जीतने और गुजरात से मुगल शासन नष्ट करने में सहायता दें इस समय से प्रत्येक गायकवाड़ सरदार के गद्दी पर बैठते समय नजराना लेकर सनद देने की रीति पेशवा ने शुरू की। इस प्रकार गायकवाड पराधी न हुआ, परन्तु उसके मन की मैल अभी गई नहीं थी। इसके बाद गायकवाड घराने में प्रगट रीति से फूट पड़ी और दमाजी तथा फतहसिंह गायकवाड रघुनाथराव पेशवा के द्वारा अंग्रेजों से मिले। सन १७५३ में जब अहमदाबाद पर घेरा डाला गया तब दमाजी गायकवाड ने रघुनाथराव को सहायता दी।

दमाजी गायकवाड़ पानीपत के युद्ध में सम्मिलित था और उसने अपना बहुत शौर्य भी दिखलाया था, परन्तु मराठी सेना की हार हो जाने पर वह लौट आया। बड़े माधवराव पेशवा से झगड़ा कर जब रघुनाथराव चला आया तब दमाजी ने उसकी सहायता की, और घोड़ नदी के पास पेशवा को फौज का पराजित किया। इस बीच में गुजरात का विभाग गायकवाड़ को बहुत लाभदायक हो गया था। अतः पेशवा ने दो लाख ५४ हजार की आमदनी का प्रदेश गायकवाड़ की अधीनता से निकाल लिया। दमाजी ने सन १७६८ में अपने पुत्र गोविन्दराव को रधुनाथराव के सहायतार्थ भेजा, परन्तु अपनी हार होने के कारण रघुनाथराव के साथ-साथ उसे भी पूना में कैद होना पड़ा अन्त में सन्धि हुई जिसके अनुसार गायकवाड़ ने २३ लाख रुपये दंड और १६ लाख रुपये चढ़ी हुई वसूली के पेशवा को दिये। तब पहले जो प्रदेश गायकवाड़ के अधिकार से निकाल लिया था वह गायकवाड़ को वापिस किया गया और यह ठहरा कि गायकवाड़ ७ लाख ७६ हजार रुपये वार्षिक खंडनी दें और ४००० सेना के साथ पेशवा के पास प्रत्यक्ष नौकरी में रहें।

कुछ दिनों बाद ही कीमिया का प्रयोग करते करते दमाजी अपघात से मरा। तब उसके छोटे लड़के फतहसिंह राव ने बड़ौदे पर अधिकार कर लिया। इधर बड़े लड़के गोविन्दराव ने पेशवा से उत्तराधिकार की सनद प्राप्त की और ५० लाख ५० हजार रुपये देना स्वीकार किया, परन्तु सन् १७६१ में फतहसिह राव पूना गया और उसने भी इतनी ही रकम देना स्वीकार कर अपने बिचले भाई सदाजीराव के नाम पर 'सेना खासलेख' की पदवी और सरदारी प्राप्त की तथा उसके रक्षक होने के अधिकार प्राप्त किये। सन १७७५ में गुजरात को लौट जाने पर फतहसिहराव ने अंगरेजों से सहायता लेने का प्रयत्न किया और उसके बदले में सूरत परगना अंगरेजों को देना

स्वीकार किया। सन १७७५ में पूना में झगड़ा होने से रघुनाथराव बड़ौदा आया और गोविन्दराव से मिला। तब फतहसिंह ने नाना फड़नवीस से सहायता मांगी। रघुनाथ-राव ने सूरत में अंग्रेजों से सन्धि की इस सन्धि के अनुसार रघुनाथराव ने अंग्रेजों को बसई, साष्टी और सूरत के आस-पास का प्रदेश देना स्वीकार किया। साथ ही साथ गायकवाड़ का भड़ोंच का हिस्सा भी गोविन्दराव से दिला देने का रघुनाथराव ने प्रण किया। सूरत, भड़ोंच और खंबात—ये तीन बन्दर व्यापार के लिये बहुत उपयोगी होने से अंग्रेजों पर दृष्टि लगी हुई थी, अतः इन बन्दरों को तथा बसई और साष्टी स्थानों को अपने अधिकार में लेने की इच्छा से अंग्रेज, पेशवा और गायकवाड़ के झगड़ों में बड़े। गोविन्दराव को अंग्रेजों की सहायता मिलने के कारण फतहसिंहराव नाना फड़नवीस के पास गया। तब उसकी और सिन्धिया होलकर आदि की सेना ने तथा हरिपन्त फड़के ने गोविन्दराव को बड़ौदा पर से घेरा उठाने के लिये बाध्य किया और रघुनाथराव को हराया। दूसरे वर्ष फतहसिंह ने फिर करवट बदली और रघुनाथराव की ३००० सेना से सहायता करना तथा अंगरेजों को भड़ोंच, चिखली आदि परगने देना स्वीकार कर अंग्रेजों का मन, गोविन्दराव का पक्ष छोड़ने की ओर झुकाया। सन् १७७८ में पेशवा ने फतेहसिंह कों 'सेना खासखेल' की पदवी दी, परन्तु उसे भड़ोंच की वसूली का हिस्सा नहीं मिला। सन् १७८० में फतहसिंह ने अंगरेजों से फिर सन्धि की और अंगरेजों ने सहायता देकर उसको अहमदाबाद जिता दिया। इसी वर्ष अंगरेजों ने कप्तान अर्ल को बड़ौदा में अपना पहला रेजीडेन्ट नियुक्त किया। परन्तु सन् १७८२ में पेशवा से जो सालवाई की सन्धि हुई उसके अनुसार अंगरेजों को फतहसिंह का पक्ष छोड़ना पड़ा और उसके साथ की हुई सन्धि रद्द करने के साथ अहमदाबाद, फतहसिंह से लेकर पेशवा को देना पड़ा। पेशवा ने फतहसिंहराव पर चढ़ी हुई वसूली की बाकी माफ कर दी, परन्तु पेशवा के आश्रय में स्वयं उपस्थित होकर नौकरी करने को बाध्य किया।

सन् १७८८ में फतहसिंह की मृत्यु हुई। तब फतहसिंह के छोटे भाई मानजी का हक स्वीकार कर उसे समाजी का कारभारी बनाया गया। इसके बदले में उसने नवीन, पुरानी खंडनी मिलाकर साठ लाख रुपये, चार किस्तों में देना स्वीकार किया। सन् १७९३ में मानजी की भी मृत्यु हुई। तब गोविन्दराव सरदारी प्राप्त करने को पेशवा के पीछे लगा, परन्तु पेशवा ने इसमें बहुत कठोर शर्तें रक्खी थीं, अर्थात् ५६ लाख रुपये नजराना और सैनिक सेवा के बदले के ४३ लाख रुपये देने के साथ-साथ ताप्ती नदी के दक्षिण की ओर सूरत बन्दर पर की जकात का हिस्सा पेशवा को देना गोविन्दराव स्वीकार करें, परन्तु सालवाई की सन्धि का कारण उपस्थित कर पेशवा को ताप्ती के दक्षिण का भाग देने में अंगरेजों ने बाधा उपस्थित की।

इसके बाद गायकवाड़ी इतिहास बहुत अन्धाधुन्ध है। सन १७९७ में गोविन्दराव ने पेशवा को ७८ लाख रुपये देकर ६० लाख रुपये माफ करा लिये। तो भी पेशवा के ४० लाख रुपये देना बाकी रह ही गये। बाजीराव के समय में पेशवा के गुमाश्ते से गोविन्दराव की कुछ खटपट हो गई और लड़ाई शुरू हुई। सन १८०० में गोविन्दराव ने अंगरेजों से सहायता मांगी। इस समय गायकवाड़ प्रान्त के सब जिले साहूकारों के यहाँ ऋण के बदले में गिरवी रक्खे थे और परगने के मामलातदार वसूली करके बैठे-बैठे मौज कर रहे थे। माँडलिकों ने खंडनी नहीं दी और सेना में अरब आदि लोगों का प्रभाव बढ़ गया था। इस भाड़ेती सेना का वार्षिक खर्च ३०, ३५ लाख रुपये था। इसमें से बहुत-सा रुपया अरब बगदादी, अबीसीनियन आदि मुसलमानों के ही पल्ले पड़ता था। इन भाड़ेती लोगों में फूट थी और किसी एक पक्ष के जामिन हुए बिना बड़ौदा सरकार अपना वचन नहीं पालती थी। बड़ौदा के लोगों का विश्वास भी ऐसा ही हो गया था। इस जामिन की पद्धति को ही 'बहानदरी' पद्धति कहते थे।

गायकवाड़ के दोनों पक्षों ने अंगरेजों को पंच बनाया। अंगरेजों को यह सेना के साथ पंचायत करनी पड़ी। सन १८०२ में मेजर वाकर ने बड़ौदा आकर गायकवाड़ के जागीरदार से युद्ध किया। फिर गायकवाड़ से सन्धि हुई जिसमें गायकवाड़ ने अंगरेजों को ८४ परगने, सूरत की चौथाई आमदनी और युद्ध खर्च देना स्वीकार किया तथा भाड़ेती सेना को निकाल कर अंगरेजों के २,००० सिपाही और तोपखाना रखने और उसके व्यय के लिये ६५,०४० रुपये मासिक आमदनी का प्रान्त अंगरेजों को देने की मंजूरी दी। फिर गायकवाड़ से ठहरी हुई रकम अंगरेजों को न दी जा सकी, तब सन् १८०३ में धाड़ेका, नड़ियाद, बीजापुर प्रभृति प्रान्त गायकवाड़ ने अंगरेजों को दिये। पहले जब गोविन्दराव से, पेशवा प्रदेश लेने वाले थे तब अंगरेजों ने इसके लिए आपत्ति की थी, परन्तु इस बार स्वयं अंगरेजों ने ही गायकवाड़ से प्रदेश लिया। दूसरे बाजीराव के समय में पेशवा से और गायकवाड़ से जो विवाद और अंगरेजों से झगड़ा हुआ उसका यह भी एक कारण था। एक सन्धि से अंगरेजों ने यह समझ लिया था कि हमें अब गायकवाड़ के राज्य के संचालन में हाथ डालने का अधिकार हो गया है और इसीलिए वे राज्य की उचित व्यवस्था हो जाने पर भी राज्य में उथल पुथल करने लगे थे। तब बड़ौदा के राजा और अंगरेजों में स्नेह-भाव के बदले विरोध बढ़ने लगा। अंगरेजों से गद्दी का उत्तराधिकार स्वीकार करने और पेशवा से बातचीत करने का उत्तरदायित्व अंगरेजों ने अपने ऊपर ले लिया

और फिर आगे काटियावाड़ के इन राजाओं के साथ गायकवाड़ के जो हक थे उनसे भी ब्रिटिश रेजीडेल्ट हाथ डालने लगा। अन्त में, सन् १८०४ में सन्धि के अनुसार अंगरेजों की इस उथल पुथल को कायदे का रूप प्राप्त हुआ।

सन् १८१२ में अंगरेजों ने गायकवाड़ को अपने और दूसरे के ऋण से मुक्त किया। इसी समय के लगभग बड़ोदा में फिर दो पक्ष हो गये जिनमें से एक पक्ष अंग्रेजों के अनुकूल और दूसरा गद्दी के अधिकारी आनन्दराव के पक्ष में था। आनन्दराव और पेशवा में भी अन्तरङ्ग स्नेह था, परन्तु गंगाधर शास्त्री आदि प्रमुख पुरुष उनके पत्र व्यवहार में आड़े आते थे। पेशवा का गायकवाड़ पर जो अधिकार था उसे अंगरेजों ने छीन लिया था। पेशवा के मन में भी यही बात खटक रही थी। इसी समय अहमदाबाद के पट्टे की मुद्दत पूरी होने पर थी और वह फिर गायकवाड़ को देना या न देना पेशवा के अधिकार में था। पेशवा इस अहमदाबादी प्रकरण से बड़ोदा पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। इस पट्टे को लेने के लिये सन् १८१४ में गंगाधर शास्त्री पूना गया। इसके सिवा पेशवा और गायकवाड का २ करोड ६१ लाख रुपयों के हिसाब का भी झगड़ा था। इस झगड़े के सम्बन्ध में पूना में शास्त्री से बहुत बात-चीत होने पर झगडा तय हो जाने की आशा थी कि सन् १८१४ में शास्त्री का खून हुआ और यह बात जहाँ की तहाँ रह गई। परन्तु अंगरेजों ने इसका बदला बाजीराव से अच्छी तरह लिया और सन् १८१७ के मई मास में पूना पर घेरा डालने पर अंगरेज और पेशवा की जो सन्धि हुई उसमें अँग्रेजों ने पेशवा से लिखवा लिया कि हमने गायकवाड़ पर के अपने सब दावे छोड़ दिये। इस तरह अंगरेजों को काठियावाड़ में खन्डनी वसूल करने के और पेशवा के सब अधिकार प्राप्त हुए। गायकवाड़ पेशवा की अधीनता से तो निकल गये, परन्तु अंग्रेज उनके स्वामी हुए। गंगाधर शास्त्री ने अपने प्राण देकर गायकवाड़ और अंग्रेजों का बहुत भारी लाभ करवा दिया। सन्धि के अनु-सार सदा के लिये ४॥ लाख रुपये वार्षिक गायकवाड़ से पेशवा को मिलना चाहिये था और इसके बदले में अंग्रेजों ने अहमदाबाद का पट्टा गायकवाड़ से ले लिया था, परन्तु सन १८१७ में पेशवाई के नष्ट हो जाने से अंग्रेजों के यह साढ़े चार लाख रुपये वार्षिक भी बच गये। फिर अंग्रेज और गायकवाड़ ये दोनों ही रह गये और उनमें अंग्रेजों का पक्ष किस प्रकार बढ़ता गया इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

आँग्रे और अंगरेज

कुलाबा के आँग्रे पहले आंग्रेवाडी गाँव के रहने वाले थे। इनका मूल-पुरुष तुकोजी संखपाल था। इसने मुगलों को शाहजी भोंसले के विरुद्ध कोंकन प्रान्त में

सहायता दी थी। शाहजी के बाद तुकोजी ने शिवाजी की नौकरी की तब शिवाजी ने उसे अपने जहाजी बेड़े में एक बड़े पद पर नियत किया। ऐसा पता लगता है कि तुको जी के पुत्र कान्होजी को सन १६९० में राजाराम महाराज ने उपसेनापति नियत किया था। जब मुख्य सामुद्रिक सेनापति सिधोजी गूजर की मृत्यु हो गई तब सन १६९८ में कान्होजी को उसका स्थान दिया गया। कान्होजी के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि वह बहुत साहसी सामुद्रिक सैनिक था। उसने बंबई से लेकर नीचे के अरब समुद्र के किनारे पर अपना भय उत्पन्न कर दिया था। वह झपाटे में आ जाने पर किसी भी यूरोपियन राष्ट्र के जहाजों पर निर्भय होकर आक्रमण करता था। कुलाबा, सुवर्णदुर्ग, विजयदुर्ग आदि स्थानों पर उसके मजबूत थाने थे। हिन्दुस्थानियों से यूरोपियनों के व्यवहार का मुख्य मार्ग समुद्र किनारा था, अतः यदि सबसे पहले किसी मराठे से अंगरेजों की गाँठ पड़ी तो वह आँग्रे था। कोकनपट्टी पर अँगरेज और पोर्तुगीजों की बराबरी का कान्होजी का यदि कोई शत्रु था तो वह शिद्दी था। सन १६९९ में पोर्तुगीज और शिद्दी ने मिलकर आंग्रे से युद्ध प्रारम्भ किया, परन्तु आँग्रे ने उन्हें हरा दिया और सागर गढ़ ले लिया। फिर परस्पर में सन्धि हुई जिसमें यह ठहरा कि कुलाबा, खाँदेरी और सागरगढ़ थानों की वसूली का कुल हिस्सा और राजकोट व चौल की सब बसूली आंग्रे को मिले। सन १७०५ तक कान्होजी की सत्ता इतनी बढ़ी हुई थी कि उस समय के अंगरेजी कागजों में गुण साद्दश्य के कारण कान्होजी को शिवाजी का नाम दिया हुआ दिखाई पडता है। जब शाहू और ताराबाई का झगडा शुरू हुआ तब कान्होजी ने ताराबाई का पक्ष लिया। इस कारण ताराबाई ने कान्होजी को बम्बई से सावंतवाडी तक के समुद्र किनारे का राज्य तथा माची के किले का और कल्याण व भीमड़ परगने का अधिकार-पत्र दिया। तब शाहू महाराज ने वहिरो पन्त पिंगले पेशवा को आंग्रे पर चड़ाई करने के लिए भेजा, परन्तु आंग्रे ने उसको हरा कर उसे कैद किया और सतारे पर चढ़ाई की तैयारी की। तब शाहू ने फिर बालाजी विश्वनाथ को आंग्रे पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। आगे जाकर दोनों की सन्धि हुई और आँग्रे को शाहू महाराज ने खाँदेरी से देवगढ़ तक का प्रदेश कोकणप्रान्त के दस किलें, जहाजी बेड़े के मुख्य सेनापति का पद और सरखेल की पदवी दी। इनमें से कुछ किले शिद्दी के अधिकार में थे। परन्तु शिद्दी से युद्ध कर वें किले आग्रे ने छीन लिये। सन १७२० के लगभग कोकण में मुगलों की सता नष्ट प्राय हो कर मराठी सत्ता बढ़ने लगी। उस समय कान्होजी के पास बहुत बड़ा जहाजी बेड़ा था और मराठों के सिवा डच, पार्तुगीज, अरब, निग्रो तथा मुसलकान जातियों के भी बहुत से मनुष्य थे। कुछ दिनों तक आँग्रे को यूरोपियनों से लड़ना पड़ा। समुद्र किनारा खाली होने पर बन्दर में जहाज लाने के लिए आज के समान उस

समय भी परवाना लेना पड़ता था। जिस यूरोपियन जहाज के पास ऐसा परवाना न हो, कायदे के अनुसार उस पर आक्रमण करने का अधिकार आंग्रे को था, क्योंकि एक तो वह जहाजी बेड़े का अधिकारी का सरदार था दूसरे बन्दर पर के किनारे का परवाना देने का ठेका भी उनने ले रक्खा था। इस ठेके के बदले के रुपये वह छत्रपति के खजाने में पेशगी भरता था।

सन १७१७ में अंग्रेजों ने विजयदुर्ग का किला लेने का प्रयत्न किया, परन्तु वे उसमें सफल नहीं हुए, उल्टे उनका सक्सेस नामक जहाज कान्होजी ने पकड़ लिया सन १७१८ में अंग्रेजों ने कान्होजी के खांदेरी द्वीप पर आक्रमण किया, परन्तु कान्होजी ने उन्हें वहाँ से भी भगाया और उनको क्षति पहुँचाई। सन १८२० में कान्होजी ने उनका एक और जहाज पकड़ा। तब अंग्रेज और पुर्तगीज मिलकर विजयदुर्ग की खाड़ी में घुसे और वहाँ उन्होंने आंग्रे के १६ जहाज जलाये। परन्तु वे किले को न ले सके। सन १७२२ में कुलाबा के थानेदार ने अंगरेजों और पोर्तुगीलों को पराजित किया सन १७२४ में डच लोंगों ने ७ बड़े बड़े जहाजों के काफिले के साथ विजयदुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु वह भी आंग्रे ने विफल कर दिया। सन १७२७-२८ में इन दोनों वर्षों में आँग्रे ने अंग्रेजों के बहुत से जहाज पकड़े और उनके मैकनील नामक कप्तान को बहुत मार मारी और पैर में सांकल डालकर किले में रखा। सन १७३० में अंग्रेजों ने आँग्रे के विरुद्ध वाडीकर फौडे सावंत से संधि कर सहायता ली। सन १७३१ में कान्होजी की मृत्यु हुई। उसके चार लड़के थे। इनमें झगड़ा शुरू हो गया। उस समय सखोजी कुलावा में था वह पेशवा से मिला हुआ था। उसने और पेशवा ने मिलकर मुगल सरदार गाँजीखाँ को हरा कर चौल ले लिया। सखोजी ने अंजनबेल की लड़ाई में भी पेशवा की सहायता की थी। सखोजी की मृत्यु के पश्चात उसके भाई मानाजी और संमाजी में झगड़ा शुरू हुआ। तब मानाजी ने पोर्तुगीज की सहायता से कुलाबा ले लिया। इससे विरुद्ध शिद्दी और अंग्रेजों ने एक होकर इसका सब देश छीन लेने का विचार किया, परन्तु उसका फल कुछ नहीं हुआ। फिर संभाजी बहुत प्रबल हुआ और उसने अली बाग पर चढाई की। तब मानाजी को अंग्रेज और पेशवा की सहायता लेनी पड़ी। संमाजी इतना प्रवल हो गया था कि उसने अंग्रेजों से कहा था कि अंग्रेज अपनी जहाजों के परवाने मुझसे लें और २० लाख रुपये वार्षिक खंडनी दें, परन्तु अंग्रेजो ने यह स्वीकार नहीं किया।

सन १७५५ में संभाजी को सीमा से बाहर बढ़ते देख मानाजी ने बालाजी की सहायता माँगी और वह उन्होंने दी थी, परन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि स्वयं पेशवा लेना

चाहते हैं तो उसने किसी भी तरह संभाजी से सन्धि कर ली। सन १७४८ में संभाजी भी मर गया। उसके बाद गद्दी पर बैठने वाला तुलाजी आंग्रे भी संभाजी के ही समान अंग्रेजों का शत्रु था। तुला जी के समय में कोकनपट्टी पर अपने जहाजों की रक्षा करने में अंग्रेजों को पांच लाख रुपये वार्षिक व्यय करने पड़ते थे। तुला जी ने बड़े बड़े जहाज बनवाये थे और दक्षिण समुद्र का सब व्यापार अपने हस्तगत करना चाहता था। सन १७५५ में अंग्रेज और पेशवा ने मिलकर तुला जी पर चढ़ाई करने का विचार किया। इस विचार के अनुसार मराठों ने स्थल मार्ग से और अंग्रेजों ने जलमार्ग से विजयदुर्ग पर आक्रमण कर उस दुर्ग को ले लिया। इस चढाई में एड-मिरल वाटसन के साथ साथ कर्नल कलाइब भी था। किले में आठ अंग्रेज और तीन डच कैदी थे। वे छोड़ दिये गये और दोनों अंग्रेज और पेशवा ने मिलकर साढ़े बारह लाख रुपयों का माल लूटा तथा स्वत: तुलाजी आंग्रे को आजन्म कैदी होकर रहना पड़ा। पहले की शर्त के अनुसार विजयदुर्ग का किला पेशवा को और उसके बदलें में बाणकोट और दासगांव अंग्रेजों को मिले। विजयदुर्ग को पेशवा ने अपनी सामुद्रियक सेना का सूबा बनाया और आनन्दराव धुलप को सूबेदार नियत किया।

मानाजी आंग्रे घाटी पेशवा की सहायता कर रहा था। वह विजयदुर्ग के पतन होने पर लौट गया। सन १७५६ में मानाजी की भी मृत्यु हुई तब उनके दासी पुत्र राघोजी को पेशवा की सहायता से पहले ही शिद्दियों से लड़ना पड़ा। उसने शिद्दी से उंदेरी लेकर पेशवा को दिया। राघोजी ने अलीबाग में रह कर अपने देश की उत्तम व्यवस्था की और चोल आदि स्थानों में नमक की क्यारियाँ बनवाकर अपनी आमदनी बढ़ाई। वह पेशवा को दो लाख रुपये वार्षिक खंडनी देता था तथा अलीबाग की सरंजामी के बदले में अपने पास सेना रखकर पेशवा की नौकरी बजाता था। सन १७९३ में राघोजी की मृत्यु हो गई। तब फिर आँग्रे घराने में कलह उत्पन्न हुआ। मानाजी का पक्ष पेशवा के लेने पर प्रतिपक्षी जयसिंह ने सिंधिया से बातचीत करना प्रारम्भ किया। सिंधिया की ओर से बाबूराव सरदार अलीबाग आया और उसने दोनों ओर के पक्षपातियों को कैद कर स्वत: अलीबाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकरण में जयसिंह की स्त्री सोनकुंवर बाई ने अनेक वर्षों तक प्रत्यक्ष युद्ध और किले की लड़ाइयाँ लड़ कर कर अपना बहुत शौर्य प्रगट किया। सन १८१३ में बबूराब की मृत्यु के पश्चात मानाजी द्वितीय को अपना सिर ऊंचा करने का मौका मिला और उसने पेशवाको दस हजार की आमदनी का प्रदेश तथा खांदेरी द्वीप देकर अलीबाग वापिस ले लिया। मानाजी सन १८१७ में मरा। इन दो पढ़ियों

के परस्पर के झगड़ों के कारण आंग्रे का ३०-३५ लाख का राज्य नष्ट होते होते केवल तीन लाख का रह गया। मानाजी के पश्चात् उसका छोटा लड़का गद्दी पर बैठा। उस समय राज्य कार्य विवलकर देखते थे। पेशवाई सत्ता नष्ट हो जाने के बाद १८२२ में अंगरेजों की अधिराज सत्ता स्वीकार की। तब से गद्दी के उत्तराधिकारी ठहराने का हक अंग्रेजों को प्राप्त हुआ। सन् १८३८ में रघुजी की मृत्यु हुई और दो वर्ष बाद उसका पुत्र भी चल बसा। इसके साथ ही आंग्रे घराने की और संपति नष्ट हुई। तब रघुजी की स्त्री ने अँगरेजों से दत्तक लेने की आज्ञा माँगी। परन्तु उन्होंने दत्तक लेने की आज्ञा नहीं दी।

पटवर्धन और अंगरेज

पेशवाई में जिन ब्राह्मण सरदारों ने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी उनमें पटवर्धन मुख्य थे। इनका मूल पुरुष हरिभट्ट पटवर्धन उत्तम वैदिक ब्राम्हण था और वह इचल करंजी वाले घोरपड़े के यहाँ उपाध्याय के पद पर नियत था। वह सन १७१६ में बालाजी विश्वनाथ पेशवा के आश्रय में आकर पूरा में रहा। भट्टजी के सात लड़के थे, जिनमें से तीन तो अलग हो गये, चौथा लड़का गोविन्द हरि बाजीराब पेशवा के शासन-काल में कदम की पायगा का फड़नवीस बना और नाना साहब पेशवा के समय में फडनवीसों का सरदार बन गया। इसका उदाहरण देखकर इसका छोठा भाई रामचन्द्र राव भी सैनिक नौकरी में धुसा। सन् १७३६ में सिंधिया और पोर्तुगीजों में जो लड़ाई हुई उसमें रामचन्द्र राव ने बहुत कीर्ति प्राप्त की। सन् १७४५ में जब दमाजी गायकवाड़ ताराबाई का पक्ष लेकर पेशवा के विरुद्ध खड़ा हुआ तब उसके विरुद्ध जो सेना भेजी गई थी उसमें गोविन्द राव हरि और उसके पुत्र गोपाल राव ने बड़ी भारी वीरता प्रदर्शित की और दमाजी गायकवाड़ को कैदकर पूना लाये। तब से पेशवा के सहायकों में पटवर्धन सरदार प्रसिद्ध हुए। इसके बाद जितनी बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुई उनमें पटवर्धन घराने का कोई न कोई पुरुष उपस्थित ही रहा। सन १७६० में गोपालराव ने दौलताबाद का किला निजाम से लड़कर ले लिया। बड़े माधवराव पेशवा के समय (१७६४) में गोविन्दराव, परशुराम रामचन्द्र और नीलकंठ त्र्यंबक तीनों को चौबीस लाख का सरंजाम और आठ हजार सवारों की सरदारी की गई। पटवर्धन को जो जागीर दी गई थी वह प्राय: कोल्हापुर की सीमा पर थी अत: पेशवा कोल्हापुर दरबार का बन्दोबस्त अच्छी तरह कर सकें। जागीर का मुख्य स्थान मिरज बनाया गया। निजाम हैदर, टीपू, नागपुर के भोंसले और अंग्रेजों से पेशवा के जो युद्ध हुए उनमें पटवर्धन सरदारों ने बहुत पराक्रम दिखलाया और कीर्ति प्राप्त की। पटवर्धन घराने में गोपालराव,

रामचन्द्रराव परशुराम भाऊ, कोन्हेरराव, चिंतामणिराव आदि सरदार विशेष प्रसिद्ध थे।

जनरल गोडर्ड से जो युद्ध हुआ उसमें अंग्रेजों और पटवर्धन सरदार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हुआ। फिर टीपू पर की गई चढ़ाई में जनरल वैलस्ली और परशुराम भाऊ का अत्यन्त आदर सम्मान हुआ। दूसरे बाजीराव ने पटवर्धनों को नाना फडनवीस के मित्र और रघुनाथ राव के शत्रु रहने के कारण उन सब पर हथियार उठाये और उनकी जागीर जप्त करने का षड़यन्त्र रचा, परन्तु पटवर्धनों के प्रति अंग्रेजों के मन में जो आदर था उसके कारण एल्फिन्स्टन साहब ने बीच में पड़कर पटवर्धनों की जागीर बचाई। पटवर्धन सरदार और बाजीराव (दूसरे) पेशवा की अनबन आजन्म रही। सन १८१७ में जब बाजीराव ने अंग्रेजों से युद्ध छेड़ा तब पटवर्धन सरदार नाममात्र को बाजीराव की ओर थे, परन्तु जब बाजीराव भाग गया तब अंग्रेजों के स्वयं पेशवा पद धारण कर मराठी राज्य चलाने का बहाना करने के कारण तथा एल्फिन्स्टन साहब ने जो जागीर बचाई थी, उस कृतज्ञता के कारण पटवर्धन सरदार अपनी सेना लेकर तुरन्त लौट गये। बाजीराव के अन्त में केवल सांगल चिन्तामणि रांव अप्पा साहब पटवर्धन ही बाजीराव के साथ उत्तर भारत तक गया था, परन्तु वह भी बाजीराव के अधीन होने के पहले ही लौट आया। चिन्तामणिराव का प्रभाव अंग्रेजों पर बहुत था, इस किए वह अपने जीवन पर्यन्त स्वाभिमान पूर्ण सरदारी चला सका। बाजीराव के समय में पटवर्धन घराने के सब लोगों ने उसे आपस में बांटकर बाजीराव और अंग्रेजों से मंजूरी भी ले ली। इस कारण से जागीर के टुकड़े टुकड़े हो गये और सब सरदार भी शक्ति हीन हो गये। फिर पेशवाई नष्ट होने पर अंग्रेजों ने प्रत्येक पटवर्धन घराने से भिन्न भिन्न सन्धियां की! साथ ही बहुत सा प्रदेश भी इनसे ले लिया। पटवर्धनों का उत्कर्ष काल साठ वर्षों के लगभग रहा। इनकी ओर से मराठाशाही नष्ट होने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली गई, क्योंकि एक तो बाजीराव से इनका द्वेष था, दूसरे अंग्रेजों में और इनमें मैत्री थी।

पेशवाई नष्ट होने के साथ ही पटवर्धनों का तेज भी नष्ट हो गया। तो भी इस घराने के सांगली के बड़े अप्पा साहब, मिरज के बड़े वाला साहब और ताँत्या साहब तथा माडवाले अप्पा साहब आदि संस्थानिक पुरुषों ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। पटवर्धनों में जब तक जागीरों का बटवारा नहीं हुआ था तब तक उनको जागीरों के दीवानी और फौजदारी अधिकार प्राप्त थे, परन्तु बटवारा हो जाने के बाद बड़े घराने वाले को ही थे अधिकार प्राप्त रहे। संरजामी प्राप्त अँग्रेजों को दे देने और नौकरी की माफी हो जाने से जिन पटवर्धन सरदारों के आश्रय में पहले हजारों सैनिक थे वहां

अब उनकी जगह प्राय: खाली हो गई। जिस व्यवस्था से उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की थी उसी के चले जाने से और इसी कारण वैभव नष्ट हो जाने से पटवर्धन सरदारों को अपने समय का उपयोग करना कठिन हो गया, अत: वे अभिमानी और विलास-प्रिय बन गये। सन १८५७ के विद्रोह में सम्मिलित होने के संदेह पर जयखंडी के अप्पा साहब को कुछ दिन प्रतिबन्ध में रहना पड़ा था और मिरज के बड़ेवाला साहब पर भी अंग्रेजों की कुछ कडी नजर हुई थी। पटवर्धन सरदारों के बहुत से वर्ष ऐसी उलझन में व्यतीत हुए कि वे न तो पेशवाई समय लौटा सके और न अंग्रेजों की नौकरी ही दिल से कर सकें।

छठवाँ अध्याय

मराठे और अंग्रेजों का समकालीन सम्मिलन

मराठे और अंगरेजों का पारस्परिक सम्बन्ध जितने समव तक रहा उसके निम्न लिखित कारण हैं :—

१—१६४८ से १७६१ तक:—इस काल में मराठे और अंगरेजों का बहुत निकट सम्बन्ध रहा है और अंगरेज हमेशा उनसे नम्रतापूर्वक व्यवहार करते रहे और उनसे मैत्री बढ़ाने की भी इच्छा रखते थे।

२—१७६१ से १७८६ तक :—इस समय अंगरेजों ने भारत में अपनी स्थिति को काफी मजबूत कर लिया था और वे लोग अपनी शक्ति पर गर्व करने लगे थे तथा उन्हें इसका विश्वास हो गया था कि हमारी शक्ति काफी सशक्त है। इस कारण अपनी शक्ति की परीक्षा के लिए उन लोगों ने मराठों से छेड़-छाड़ की, परन्तु वे असफल रहे।

३—१७८३ से १८०० तक :—इस काल में मराठे और अंगरेज एक-दूसरे को समान शक्तिशाली समझते थे। इसलिए एक दूसरे के प्रति समानता का व्यवहार रखते थे।

४—१८०० से १८१८ तक :—इस काल में मराठों की शक्ति का ह्रास होने लगा था और अँगरेजों की ताकत काफी बढ़ गयी थी। जिसके फल स्वरूप मराठों का पतन हुआ और अंग्रेजो का शासन सभी मराठों पर हो गया।

पहली कालावधि में अंगरेजों ने अपने व्यापारी पेशे को ही मुख्य उद्यम बनाया। उस समय वे छत्रपति महाराज और उनके पेशवा के पास अपने वकील को भेजते थे, नजराना देते, व्यापाराना सुभीता प्राप्त करने की विनती करते, कर को माफ करवाते, विविध प्रकार के माल सस्ते दामों बेंचकर ग्राहक बढ़ाते और यही कहते थे कि निर्विघ्न रूप से हमें व्यापार करने की आज्ञा प्रदान की जावे, हमें किसी के राज्य अथवा सरकार से कोई वास्ता नहीं है। सन १७७० के लगभग इन लोगों ने बङ्गाल के काफी प्रान्त हस्तगत कर लिये थे और वे दिल्ली के बादशाह के दीवान बन गये।

दक्षिण की ओर फ्रेंचों का पतन होने के कारण उनका राज्य भी नष्ट हो गया था और निजाम से पहले ही मैत्री कर ली थी, अतः दक्षिण में केवल मराठे और हैदर-अली ये दो ही उनके शत्रु थे। इनमें से हैदरअली के विरुद्ध अंगरेज कभी भी कुछ करने में असफल रहे और काफी दिनों तक मराठों का भी वे कुछ भी न कर सके। पर रघुनाथराव की गृह-कलह के कारण मराठाशाही में अंगरेजों की नीतियों को प्रवेश करने का मौका मिल गया। जब अंगरेजों ने साष्टी पर अपना अधिकार कर लिया तो पेशवा उसे लेने में असमर्थ थे। इस बात को देखकर और रघुनाथराव के पक्ष में अंगरेजों ने मराठों से युद्ध शुरू कर दिया, परन्तु इस चाल में वे सफल न हो सके और अन्त में वे पराजित हुए। तब अंगरेजों ने मराठों से सन्धि कर ली, जिसमें रघुनाथराव को मराठों के सिपुर्द करना स्वीकार कर लिया और यह भी स्वीकार किया कि अभी हमारा पक्ष दुर्बल है। सन १७८६ से १८०२ तक मराठों और अंगरेजों दोनों की शक्ति एक समान थी। उस समय दोनों की ताकत चढ़ती पर थी, अतः दोनों में सहकारिता का सम्बन्ध होना स्वाभाविक था। इस समय दोनों ने मिल कर शक्तिशाली टीपू पर चढ़ाई कर दी और उसे पराजित किया। सवाई माधवराव के समय में मराठों की ही तूती बोलती थी। उन्होंने दक्षिण निजाम का उन्मूलन पूरी तरह से कर दिया। निजाम यद्यपि अंगरेजों का मित्र था, पर अंगरजों ने पेशवा के कारण निजाम को सहायता न दी। टीपू का राज्य नष्ट हो जाने के कारण अंगरेजों को तुङ्गभद्रा से लेकर समस्त दक्षिण प्रदेश में निष्कंटक राज्य करने का सुअवसर मिल गया। उत्तर भारत में मराठों और अंगरेजों के अधिकार में बराबर-बराबर प्रदेश थे। नर्मदा से यमुना तक का प्रान्त सिन्धिया ने अधिकृत कर रखा था और यमुना से ऊपर के प्रान्त अङ्गरेजों के हाथ में थे। एक दिल्ली ही ऐसी थी जो झगड़े का मूल कारण बनी। दिल्ली की राज-सत्ता सिन्धिया के अधीन थी, लेकिन सम्पत्ति अङ्गरेजों ने हस्त-गत कर रखी थी। अर्थात् बादशाही राज्य की वसूली अँगरेज करते थे। सारांश यह कि नाना फड़नवीस और महादजी सिन्धिया के बीच के पच्चीस वर्षों में अंगरेज और मराठे एक समान होने के कारण ऊपरी तौर पर एक दूसरे के सच्चे सहायक थे, परन्तु आन्तरिक तौर से वे एक दूसरे को नष्ट करने की प्रबल इच्छा रखते थे। राज-नीतिज्ञ नाना फड़नवीस और तलवार का धनी महादजी सिन्धिया की असामयिक मृत्यु से मराठों का पलड़ा हल्का हो गया, क्योंकि बाजीराव तो शक्ति-हीन और मूर्ख होने के साथ ही साथ अंगरेजों के उपकार-भार से अनुगृहीत था।

अंगरेजों के शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी केवल सिंधिया और होलकर ही थे, परन्तु इन दोनों के बीच में कलह शुरू हो गया और उनका शौर्य उन्हीं के अन्तः कलहाग्नि में दग्ध हो गया। इस कारण इन दोनों से अलग-अलग युद्ध करके १७०३ से १७०४

तक में इन दोनों को विजित कर लिया। उन लोगों ने ही अंगरेजों को भारत की छाती पर चढ़कर और ताल ठोंककर यह सिंहनाद करने का अवसर दिया कि इस पृथ्वी-तल पर अब कोई योद्धा नहीं बचा।

मराठों और अंगरेजों का उत्कर्ष बहुत समय तक भारतवर्ष में एक-सा परन्तु विभिन्न रूपों में होता रहा, परन्तु जिस समय मराठों की सत्ता बनी और बिगड़ी, उस समय अंग्रेजों की सत्ता एक गति से गतिमान थी। उनकी सत्ता का उत्कर्ष बढ़ता ही गया, कभी पीछे की ओर रुख नहीं हुआ। अंगरेजों की असफलता कई युद्धों में हुई। जैसी हार उनकी पहले मराठा-युद्ध में हुई, वैसी ही हार अन्य अनेक स्थलों पर भी हुई थी, तिस पर भी अंगरेजों की सत्ता और ऐश्वर्य उन्नतिशील थी। मराठों और अंग्रेजों की सत्ता के अस्तोदय की तुलना करने के लिये सन १६०० से १८१८ तक का रेखा-चित्र खींचना होगा। जो बात केवल तारीख से ध्यान में नहीं आती वह मराठे और अंगरेजों ऐसी भाषा को सुनते ही ध्यान में आ जाती है।

जिस समय हिन्दुस्तान की सम्पत्ति के विषय में इंगलैंड में आश्चर्यजनक चर्चा चल रही थी और व्यापार करने के लिये कम्पनी के रूप में निकलने का विचार अंग्रेज कर रहे थे, उस समय भारतवर्ष के दक्षिणी हिस्से को छोड़कर बाकी हिस्सों में मुगलों का ही आधिपत्य था। दक्षिण में भी यद्यपि मुगलों की राज्य-सत्ता न थी, फिर भी दूसरे मुसलमानों की सत्ता अवश्य थी। तालीकोट की लड़ाई से हिन्दुओं के साम्राज्य का अवशेष नाम-मात्र को रह गया था और अहमदनगर की निजामशाही, बीजापुर की आदिलशाही और गोलकुंडा की कुतुबशाही—ये तीन बहमनी राज्य से निकले मुसलमानी राज्य स्थिर रहे और उन्होंने समग्र महाराष्ट्र पर आक्रमण करके मुगलों की सत्ता-प्रसार की इच्छा को रोका। इस समय मराठों की स्थिति काफी दयनीय थी। उन्होंने इन तीनों मुसलमानी दरबारों में सरदारी और मनसबदारी कर इसके साथ ही साथ उनकी परतंत्रता भी स्वीकार कर ली थी। इतना ही नहीं मराठी-घरानों में उत्पन्न बैर-भाव को वे दृष्टि में रखते थे और उनकी अन्तःकलह को काफी प्रोत्साहन देते थे। जिस समय लन्दन में ईस्ट इंडिया कम्पनी नामक एक अंगरेजी कम्पनी की स्थापना हुई थी, उसके एक मास पूर्व मालोजी के पुत्र शाहजी भोंसले का विवाह यादवराव की कन्या जीजीबाई के साथ हुआ था। इस समय शाहजी की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। १६१२ में जब अंगरेजों ने अपना व्यापार सूरत में स्थापित किया, तब शाहजी की आयु १७ वर्ष की थी। शिवाजी के जन्म के पहले अंगरेजों ने जहांगीर और शाहजहाँ से अनुमति प्राप्त करके बंगाल में व्यापार के क्षेत्र को विस्तृत करना प्रारम्भ कर दिया था। जब उन लोगों ने मछलीपट्टम में मुख्य क्षेत्र बनाकर मद्रास

प्रान्त में पैर रखा, तब शिवाजी ४ वर्ष का था और जब शिवाजी की आयु १२ वर्ष की थी तब अंग्रेजों ने १६३९ में फोर्ट सेंट जार्ज नामक किला बनवाने का प्रबन्ध किया था। शिवाजी ने महाराष्ट्र के प्रमुख किले हस्तगत करके अफजल खाँ का बध किया और बीजापुर की ओर कल्याण से लेकर गोआ तक और भीमा से वारणा नदी तक का देश अपने आधिपत्य में कर रखा था। इसी समय अंगरेजों को बम्बई मिल गया और उनका स्वतन्त्र प्रवेश कोंकण-पट्टी में हुआ। डच लोग तो हत-प्राय थे ही, केवल पुर्तगाली ही शक्तिवान थे। शाहजी का स्वर्गवास हो चुका था और शिवाजी बीजापुर से स्वतन्त्र हो गया था। उसी वर्ष अंगरेजों की पहली भेंट शिवाजी से हुई और शिवाजी ने अंगरेजों के व्यवसाय पर एक आना प्रतिशत कर लेना मन्जूर किया। शिवाजी के राज्यारोहण के समय अंगरेजों का बम्बई में प्रभाव नहीं के बराबर था, परन्तु बंगाल और मद्रास में उनकी प्रगति काफ़ी उन्नतिशील थी। राज्यारोहण के दूसरे वर्ष अंगरेजों ने चन्द्रनगर में व्यापार शुरू कर दिया था। उनका और फ्रांसीसियों का युद्ध अभी नहीं हुआ था, पर होने वाला था।

शिवाजी की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद (१६८५) बम्बई में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई और उधर बंगाल में भी अगले वर्ष उन्होंने कलकत्ते में अपने कदम रखे। दक्षिण में जब औरंगजेब मराठों से युद्ध में व्यस्त था, अंगरेज लोग अपने व्यापार को धीरे-धीरे बढ़ाते जा रहे थे और जिस वर्ष (१६९८) जुलफिकारखाँ ने जिंजी का किला हस्तगत करके राजाराम महाराज और उनके साथ मराठाशाही के प्राण को संकट-भँवर में डाल दिया था, उस वर्ष अंगरेजों ने फोर्ट विलियम नामक किला बनवाया था। सन् १६६७ में अंग्रेजों की शक्ति औरङ्गजेब के टक्कर की नहीं थी। वे इस युद्ध में मुकाबला करने में असमर्थ थे और इस बिना विचार किये हुए काम के कारण अंग्रेजों को काफी संकट उठाना पड़ता, परन्तु दक्षिण में इसी अवसर पर संभाजों ने औरङ्गजेब से विरोध करके अंग्रेजों को सहायता दी। औरङ्गजेब ने अब यही उचित समझा कि अंग्रेजों के बजाय पहले संभाजी को नष्ट कर दिया जाय। अत: सन् १६८९ में संभाजी को पकड़कर उसका वध कर दिया गया। इस दमन के बावजूद भी दक्षिण में युद्ध चलता रहा। अंग्रेजों का मुख्य बन्दरगाह किनारे पर था। औरंगजेब की सारी दृष्टि समुद्री किनारे के प्रदेश की ओर रहने के कारण अंग्रेज उसके चंगुल में नहीं आ पाते थे, इसके सिवा उसने देखा होगा कि अंग्रेज तो निर्बल हैं ही, पहले मराठों को अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। अत: संभाजी के वध के दूसरे वर्ष (१६९०) से अंग्रेजों की व्यापार-नीति नष्ट होकर उसके बदले में इस देश के लगान के रूप में रुपया पैदा करने की नीति स्थिर की गई। इसी समय उन्होंने विलायत में एक सेना की व्यवस्था की और आवश्यकता पड़ने पर भारत देश के रजवाड़ों से युद्ध

की आज्ञा ले ली। राजाराम महाराज की मृत्यु के दो ही वर्ष बाद इस देश के अंग्रेजों की अनेक छोटी-छोटों कम्पनियाँ जो व्यापार करती थी; एक होकर एक बड़ी कम्पनी, इस्ट इंडिया कम्पनी, के रूप में सुसंगठित हुई अर्थात् कम्पनी के व्यापार और एकीकरण से उसकी शक्ति में वृद्धि होने लगी। दूसरे ही वर्ष (१७०८) में शाहू का राज्याभिषेक हुआ और आगे १० वर्षों के भीतर बालाजी विश्वनाथ ने दिल्ली से चौथ और सरदेशमुखी की सनदें प्राप्त करके बादशाही राज्य में मराठों का हाथ पहले-पहले लगाया। इसी समय १७१० में अंग्रेजों ने भी दिल्ली के बादशाह से बङ्गाल प्रान्त के ३६ नगर और व्यापार पर लगने वाले कर को माफ करा लिया। इस प्रकार एक तरफ मराठे और दूसरी ओर अंगरेजों का प्रभाव दिल्ली दरबार में शुरू हुआ। बाजीराव प्रथम ने १७३६ में देहली पर चढ़ाई करके निजाम को पराजित किया और उससे दिल्लीश्वर की तरफ से मालवे की सनद प्राप्त की। चिमनाजी अप्पा ने १७३८ में बसई लेकर अंगरेजों के प्रतिद्वन्दी पुर्तगालियों को विजित किया। सन १७३६ में नाना साहब पेशवा ने मालवा की सनद प्राप्त कर ली। सदाशिव भाऊ ने कर्नाटक पर हमला किया और सावनूर के नवाब की तरफ से २५ लाख रुपये के मूल्य का प्रदेश लिया। इस कालावधि में अंगरेजों और फ्रांसीसियों का युद्ध चल ही रहा था। जिस वर्ष रघुनाथ राव ने उत्तर भारत पर चढ़ाई की उस समय फ्रांसीसी पराजित हुए और अंग्रेजों को विजय श्री मिली। रघुनाथराव पेशवा और क्लाइव अपने पराक्रम और शक्ति से दक्षिण और उत्तर भारत में समकक्ष रहे। सन १७५७ ई० में दक्षिक में मराठों ने श्रीरङ्गपट्टन घेर लिया और ३२ लाख रुपया हर्जाना के रूप में लिया। उधर बंगाल में लार्ड क्लाइव ने प्लासी की लड़ाई जीतकर उस प्रान्त में अंगरेजी राज्य की जड़ को मजबूत किया। सन १७५८ में जिस वर्ष अटकेवर पर झंडा लगा, उसी वर्ष फ्रांसीसियों को उत्तर राज्य का प्रान्त खो देना पड़ा और अंगरेजों की जीत हुई। सन १७६० ई० में उदगीर की लड़ाई में मराठों ने निजाम को हराकर ६० लाख मूल्य का प्रदेश हस्तगत किया। उसी वर्ष अंगरेजों ने समूचे बंगाल को अपना ग्रास बनाया था! इस तरह कई वर्षो तक मराठों और अंगरेजों का यश बराबर बढ़ता गया। सन १७६१ में पानीपत की लढ़ाई में मराठों का हार हुई और इसी वर्ष इधर मद्रास की तरफ फ्रांसीसी सरदार लाली की हार से अंगरेजों ने पांडुचेरी नगर पर कब्जा कर लिया।

फिर कुछ समय तक अंग्रेजों और पेशवों के यश के समाचार बराबर रूप में मिलते रहते। सन १७६३ में मराठों ने राक्षस भुवन का युद्ध जीतकर निजाम को बिल्कुल पंगु बना डाला। इधर अंग्रेजों ने फ्रांसियों का पूर्णरूप से उन्मूलन कर दिया था। सन १७६४ में माधवराव पेशवा ने हैदरअली पर विजय प्रात की, उधर बंगाल में लार्ड क्लाइब को बक्सर के युद्ध में सफलता मिली। सन १७६५ के लगभग पेशवा

ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करके १८ लाख की जायदाद प्राप्त की, उधर लार्ड क्लाइब ने दिल्ली के बादशाह से बंगाल प्रान्त की दीवानी और उत्तर सरकार प्रान्त की सनद हस्तगत कर ली। सन १७७१ में मराठों ने बादशाह शाहआलम को गद्दी पर बैठाकर दिल्ली में अपना पूरा अधिकार कर लिया। एक दृष्टि से तो सन १७७३ का वर्ष तो बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इसी वर्ष नारायणराव का बध हुआ और मराठों के राज्य में फूट का बीज उत्पन्न हो गया था। उसी वर्ष विलायत की पार्लियामेन्ट ने 'रेग्यूलेशन एक्ट' पास करके सारे हिन्दुस्तान की अगल-अगल बँटी सत्ता को एक ही गवर्नर जनरल के हाथ में कर दिया। बस इसी समय से मराठों की कमजोरी और अंग्रेजी की शक्ति बढ़ने लगी। इसलिये मराठों के काम में अंगरेज लोग हस्तक्षेप करने लगे। दो ही वर्षों के बीच इन दोनों के बीच यह अन्तर स्पष्ट दीखने लगा, क्योंकि पुरन्दर की संधि के अनुसार अंग्रेजों ने राघोवा (रघुनाथराव) का पक्ष छोड़ दिया लेकिन उन लोगों ने साष्टी और बसई स्थान पर कब्जा कर लिया। सन १७७६ में मराठों ने बड़गांव में अंग्रेजों को पराजित किया और अंग्रेजों को संधि में साष्टी लौटा देने का बचन दिया। अंगरेजों का पूर्ण अध:पतन करने की आवश्यकता को देखकर मराठे, निजाम और मैसूर—इन तीनों ने मिल कर यह काम करना आवश्यक समझा। परन्तु १७८१ में अंगरेजों ने उधर हैदरअली को पराजित कर और इधर मराठों से संधि करके अपने को सुरक्षित कर लिया। सन १७८२ में हैदरअली की मृत्यु के कारण अंगरेजों की स्वतंत्रता अधिक बढ़ गई। इस कारण सालबाई की सन्धि होने पर मराठों को साष्टी और बसई—इन दोनों को अंगरेजों को सदा के लिये देना पड़ा। इस पर भी उन लोगों ने अंगरेजों से क्या पाया? मराठों के शत्रुओं को सहायता न देने का बचन। अंगरेज इतने शक्तिशाली हो गये थे। सन १७८४ से १७९९ तक टीपू दोनों का मुख्य दुश्मन होने के कारण अंगरेजों और मराठों में सहकारिता रही। बीच में महादजी सिंधिया ने सन १७८९ में दिल्ली लेकर वहाँ के सब सूत्र अपने हाथ में सम्हाले और १७९१ में अंगरेजों ने मराठों के साथ टीपू का आधा राज्य छीन लिया। उसी वर्ष महादजी सिंधिया ने पेशवा को वकील मुतलकी के वस्त्र अर्पण करके दिल्ली में प्रस्थापित किये हुए वर्चस्व का अनुभव पूना में फड़नवीस को बतलाया। आगे चार वर्षों में खर्डा की लडाई से पेशवा का यश सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा; पर दूसरे ही वर्ष सवाई माधवराव की मृत्यु हो जाने के कारण मराठों के यश का अध:पतन होना शुरू हो गया। इधर लार्ड कार्नवालिस गवर्नर जनरल ने आकर अंग्रेजी राज्य का प्रबन्ध सुचारु रूप से चलाना शुरू किया; पर सिंधिया और सवाई माधवराव की मृत्यु के कारण यहाँ नाना फड़नवीस निर्बल पड़ गये। बाजीराव को गद्दी पर बैठाने

के सम्बन्ध में जो झगड़े शुरू हुए उनके कारण सिंधिया और होलकर से भयभीत होकर बाजीराव तथा फड़नवीस दोनों को अलग-अलग अंगजों से मदद लेनी पड़ी। सन १८०२ में जो बसई की सन्धि हुई, उसकी शर्तों के कारण बाजीरव अंगरेजों के हाथ की कठपुतली बन गये। इसके बाद अंग्रेजों को मराठों के सिवा और कोई शत्रु न दिखा और उन्होंने सन १८०१-३ में सिंधिया का, १८०४ में होलकर का और सन १७१७-१८ में पेशवा को विजत कर पेशवाई का अन्त कर दिया।

———

सातवाँ अध्याय

मराठाशाही का अन्त कैसे हुआ ?

ब्राह्मणों का उत्तरदायित्व

मराठाशाही को खत्म करने का दोष दूसरे बाजीराव पर लगाया जा सकता है और इसमें सन्देह नहीं कि वे इस दोष के भागी पूर्ण रूप से थे, पर नादान बाजीराव को छोड़कर ऐसा अन्य कोई पुरुष हुआ है या नहीं, यह बात ध्यान में रखने योग्य है। सवाई माधवराव छोटी ही अवस्था में स्वर्गवासी हुये और यद्यपि राज्य का काम-काज उन्हीं के नाम से चलता था, पर उसे सँचालित करते थे नाना फड़नवीस ही, अतएव राज्य-रक्षा की दृष्टि से सवाई माधवराव के प्रबन्ध में कोई दोष लगाने कारण नहीं दीखते। रघुनाथराव था तो स्त्रैण, पर तलवार का धनी था और इस दृष्टि से वह राज्य-रक्षा के कार्य में ठीक हो था। इस पर से इतना तो कह ही सकते हैं कि सन १७१४ से १७९९ तक मराठा राज्य उन्नति पर था और खर्डा की लड़ाई तक मराठा राज्यश्री की जो स्थिति थी वह यदि वैसी ही बनी रहती तो मराठा राज्य डूबने का कोई कारण न था। मराठों के राज्य में ब्राह्मण पेशवा जैसे हुये और जैसे मराठों ने उनको आगे बढ़ाया, वैसे ही ब्राह्मण पेशवों के शासन-काल में उन ब्राम्हण-पेशवों ने सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ जैसे मराठे सरदारों को प्रभावशाली बना दिया। लेकिन ऐसा भी नहीं कह सकते कि मराठा राज्य के स्थिर रखने का उत्तरदायित्व केवल ब्राह्मण पेशवों पर ही था। वह जितना उदार पेशवे, रास्ते, पटवर्धन ब्राह्मण सरदारों पर था उतना ही सतारा के महाराज, सिंधिया, गायकवाड़, होलकर आदि मराठे सरदारों पर भी था। सतारा के दरबार में पेशवों का जो बड़ा मान था, वह माधव-राव पेशवा के समय तक उनके कार्य-कौशल के कारण उचित ही था। अब इस बात का निश्चय कर लेना है कि सतारा की गद्दी का अभिमान सिंधिया, होलकर, गायक-वाड़ आदि ब्राह्मण सरदारों को था या नहीं। इन दो बातों में से किसी एक के विषय में निश्चय होना ही चाहिये। यदि कहा जाय कि नहीं था तो पेशवों के ऊपर दोषा-रोपण नहीं हो सकता, और यदि था तो किसकी आज्ञा से वे पेशवों को एक तरफ करके सतारा के महाराज का नाम आगे न करें ?

मराठों का उत्तरदायित्व

सतारा की गद्दी के प्रति सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ में जो अभिमान था, इसका प्रमाण अप्राप्य है। सिंधिया और होलकर ने जो देश अधिकृत किया वह उत्तर में किया। वे स्वतन्त्र रहकर राज्य-स्थापना के प्रयत्न में रहे। सिन्धिया ने तो सालवाई की सन्धि के समय अपने को पूर्णतया स्वतन्त्र प्रकट कर पेशवा या सतारा के महाराज का भी ख्याल नहीं किया। इस बात पर कोई कह सकता है कि सिन्धिया, होलकर और गायकवाड़ के घराने के मूल-पुरुष पेशवा के ही आश्रय में उन्नतिशील हुये, अतः वे पेशवा को ही अपना स्वामी समझते थे। दूसरी दृष्टि से यह कहना भी ठीक है; क्योंकि सिन्धिया घराने के मूल-पुरुष राणोजी सिन्धिया ने बाजीराव के जूते हृदय पर रखकर अपने विश्वास की परीक्षा दी और सरदारी प्राप्त की। इसी तरह इनके पुत्र महादजी यद्यपि उत्तर भारत में देश-विजय कर कीर्ति प्राप्त की थी, तो भी वह पेशवा की चरण पादुकाओं को नहीं भूला और जिन हाथों से सुवाई माधवराव के समय में दिल्ली के बादशाह से वकील की पदवी और वस्त्र लाकर पेशवाओं को अर्पण किये और पेशवा के ऐश्वर्य में वृद्धि की, उन्हीं हाथों से उन्होंने माधवराव के उपानह उठाये। ग्रान्टडफ कहते हैं कि—"सिन्धिया राज्य के भूषणों में पेशवा के उपानह रक्खे गये थे, परन्तु जिस ईमानदारी से महादजी सिन्धिया ने व्ययहार किया उतनी ईमानधारी दौलतराव सिन्धिया ने कितने दिन व्यवहार किया ?" यदि सिन्धिया और होलकर को यह अधिकार प्राप्त था कि वे अपने स्वामी दूसरे बाजीराव पेशवा को केवल नादान होने के कारण प्रतिबन्ध में रक्खें तो फिर इसी कारण से पेशवा अपने स्वामी को क्यों नहीं प्रतिबन्ध में रख सकते थे ? सतारा महाराज छत्रपति शिवाजी के वंशज थे। इस कारण से ही विचार किया जाय तो सिन्धिया ने कोल्हापुर के विरुद्ध चढ़ाई क्यों की ? वे भी तो शिवाजी के ही बँशज थे। सारांश यह कि किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो मराठे और पेशवा दोनों ही, समान दोषी या निर्दोषी दिखलाई पड़ते हैं। अन्त में सिन्धिया और होलकर ने जो सन्सि अंग्रेजों से की थी उसमें भी तो यह कहीं नहीं दिखलाई पड़ता कि उन्होंने सतारा की गद्दी की अथवा शिवाजी के वंश ही की याद रखी हो। अधिक क्या, पेशवाई नष्ट होने पर अंग्रेजों ने छोटा ही क्यों न हो, पर जो स्वतन्त्र राज्य दिया था वह भी तो वे न टिका सके ? पेशवाई नष्ट होने के केवल ३० ही वर्ष बाद यह राज्य नष्ट हुआ या नहीं ? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि अँग्रेज तो सभी कुछ डुबाना चाहते थे, तो फिर यह पूछा जा सकता है कि कोल्हा-पुर, ग्वालियर और होलकर के राज्य क्यों रह गये ? इसलिए इन सब बातों पर

विचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि मराठाशाही डूबने में एक अमुक व्यक्ति ही कारणीभूत था अथवा अमुक एक पुरुष या एक जाति कारणीभूत था यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए यही कहा जा सकता है कि उस समय अंग्रेजी सत्ता का जो दौर दौरा आया उसमें मराठी राज्य वह गया और उसमें जिस तरह सब वृक्ष उखडकर बह नहीं जाते, कुछ बने भी रहते हैं उसी प्रकार ऊपर बतलाये अनुसार कुछ मराठी राज्य अभी तक बने रह गये हैं।

जिस तरह मराठाशाही नष्ट करने का आरोप ब्राह्मणों पर करने वाले कुछ व्यक्ति मिलते हैं उसी प्रकार पेशवाई के अन्त में अंग्रेजों से मिलकर अपना छुटकारा करानेवाले सतारा के महाराज पर पेशवाई डुबाने का दोषारोपण करने वाले भीं कुछ व्यक्ति हैं। सतारा के महाराज स्वामी थे और पेशवा उनका सेवक था, यह जानकर सतारा नरेश को पेशवा का कैद करना तो अनुचित कहा जा सकता है, परन्तु अपने नौकर के विरुद्ध और वह भी स्वयंके छुटकारे के लिये अंगरेजों से सहायता माँगने में सताराँ महाराज पर बेइमानी का लांछन किस प्रकार लगाया जा सकता है यह समझ में नहीं आता।

क्या व्यापारिक नीति में भूल की गई ?

अंग्रेज लोग यहाँ व्यापारी बनकर आये और उन्होंने धीरे धीरे यहां राज्य स्थापित किया। इस बात को ध्यान में रखकर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि— "क्या मराठों से यह भूल नहीं हुई कि उन्होंने अँग्रेजों को व्यापार करने की आज्ञा दी।" परन्तु हमारी समझ में यह प्रश्न ही उचित नहीं है। प्राय: आज के विचार को गत काल पर लगाने की भूल मनुष्य सदा करते हैं। यही बात इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी है। आज यह भले ही दिखाई दे कि यह भूल की गई है, परन्तु उस समय जब कि अंग्रेज पहले पहल भारत में व्यापार करने को आये थे, यह मालूम होने का कोई कारण नहीं था कि ये लोग हमारे देश में न आवें तो अच्छा ही। उस समय मराठों को यह दु:स्वप्न नहीं हुआ था कि ये लोग हमारा राज्य लेकर हमारा सर्वनाश करेंगे, क्योंकि उस समय उनके पहले के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं था कि किसी ने तराजू हाथ में लेकर फिर तख्त लिया हो। वैश्य वृत्ति और क्षात्रवृत्ति की भिन्न भिन्न बातें हैं। एक वृत्ति को छोड़कर दूसरी वृत्ति गहण करना वृत्ति संकरता है और यह वर्णसंकरता के समान ही पाप का कारण है। चातुर्वर्ण्य पर विश्वास रखने वाले हिन्दुओं को उस समय यदि यह विश्वास हुआ होता कि यह पाप कोई भी, चाहे वह विदेशी क्यों न हो, नहीं कर सकता तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। महाराष्ट्र ही में मारवाड़ी आदि व्यापारी वृत्ति के अनेक लोग देशान्तर से आये थे, परन्तु उनमें

से किसी ने भी राज्य आकांक्षा की हो, इस बात का अनुभव मराठों को नहीं था। यद्यपि मुगल प्रभृति मुसलमानों ने आकर भारत में राज्य स्थापन किया था तथापि वे विजयी होने के नाते से आये थे, व्यापारी बनकर नहीं। इसलिये मालूम होता है कि उस समय के मराठों का यही विश्वास था कि राज करने और व्यापार करने वालों की जाति भिन्न भिन्न है और उनका परिवर्तन नहीं हो सकता। इस कारण से यह नहीं कहा जा सकता कि मराठों ने भूल की।

जब कि स्वयं अंगरेजों को ही यह नहीं मालूम हो सका कि उनसे हाथ से तराजू कब और क्यों छूटी और उसका स्थान तलवार ने कब लिया तो क्या ये सब बातें स्वप्न की तरह सोते सोते हो गई। फिर टोपी वालों को पहले पहल देखते ही मराठों को यह कैसे मालूम ह सकता था कि ये भविष्य में हमारा र.ज्य लेंगे, अतः उन्हें राज्य में नहीं आने देना चाहिये, प्रत्युत उनका आना उस समय लाभदायक नहीं प्रतीत हुआ होगा। स्वदेशी का मन्त्र आपत्ति विपत्ति के समय में ही ध्यान में आता है। अच्छी हालत में उसका स्मरण नहीं होता, जब मूर्तिमान भूत आँखों के सामने उपस्पिथत होता है, तभी भगवान याद आता है। भारतवासियों को बंग बिच्छेद के समय स्वदेशी का स्मरण हुआ और अंग्रेजों को वर्तमान महायुद्ध के कारण उसकी याद आई। अंगरेज जब भारत में आये तब भारतवासी अच्छी दशा में थे। अतः आज की स्वदेशी की आवश्यकता उन्हें उस समय कैसे मालूम हो सकती थी ? मनुम्य प्राणी स्वाभावतः बिलासप्रिय होता है। यदि सांपत्तिक स्थिति ठीक हो तो विलास बुद्धि आप ही आप उत्पन्न हो जाती है। इसके सिवा ऐसा कोई देश नहीं है जिसे सर्व प्रकार की कला कुशलता और कारीगरी का ठेका परमेश्वर ने न दे रखा हो। इसलिए मनुष्य अपनी विलासिता के पदार्थ जहाँ से मिलते हैं वहाँ से खरीदता है। उसके बिना बिलासेच्छा पूरी नहीं होती। भारत में पहले पहल अंग्रेज व्यापारी ही नहीं आये थे। उनके पहले मुसलमान, डच, पोर्तुगीज आदि विदेशी लोग भी व्यापार के लिए यहाँ आ चुके थे। विदेशी वस्तुएँ खरीदने की परिपाटी यह अच्छी तरह प्रचलित थी तथा मराठे अकेले ही उस समय सर्वसत्ताधारी नहीं थे। उनका राज्व पहले ही से थोड़ा था। उनके अधिकार में समुद्र किनारे की केवल एक ही पट्टी थी और उस पट्टी में अंगरेजों का व्यापार भी थोड़ा था। उनका व्यापार प्रायः उसी प्रदेश में बहुत था जिसमें मराठों का अधिकार नहीं था और वहाँ वे इतने बलवान बन गये थे कि यदि मराठे उन्हें अपने राज्य में नहीं भी आने देते तो भी वे अपना बोरिया-बंधना बांधकर भारत से चले नहीं जाते। सारांश यह कि उस समय पंगरेजों के व्यापार में रुकावट डालकर उनका अपने राज्य में प्रारम्भ से ही बहिष्कार करना म्वाभाविक रीति से अशक्य था।

किन्तु यही कहना उचित है कि उस समय मराठों को यही स्वाभाविक दिखा होगा कि अंगरेजों के व्यापार में रुकावट डालने की अपेक्षा उन्हें उत्तेजना और सुभीते देकर राज्य में बुलाया जाय और स्वाभाविक बुद्धि का अर्थ-शास्त्र यही शिक्षा देता है कि व्यापारी को अपने आश्रय में रखा जाय और उसके लाभ से अपना लाभ उठाया जाय। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यह उदाहरण नहीं मिलता कि उसने अपने आप आये हुए व्यापारी को आश्रय न दिया हो। अपने कारीगरों को आश्रय देना और विदेशी व्यापारियों का बहिष्कार करना भिन्न भिन्न बातें हैं। इसलिये, स्वदेशी कारीगरों की चीजों का फ़ैलाव करने के लिए विदेशी व्यापारियों की सहायता आवश्यक हुआ करती है। अपनी कारीगरी के माल का मूल्य विदेशों से ही अधिक आ सकता है, क्योंकि उसकी अपूर्वता नहीं प्रगट होती है। उसी तरह आयात माल से चुंगी की आमदनी भी बहुत होती है। सुखमय अवस्था में उस आमदनी को कौन छोड़ना चाहता है? इसी नियम के अनुसार उस समय भारत में विदेशी व्यापारियों की चाह थी, क्योंकि उनके द्वारा करोड़ों रुपयों का माल विदेशों में जाता था और उसके बदले में मूल्यवान सोना चाँदी यहाँ आती थी। इसके सिवा विलासिता की भी अनेक वस्तुएँ जो यहाँ नहीं होती थीं उनके द्वारा विदेशों से यहाँ आती थीं। इस प्रकार दुहरा लाभ होता था। भला इस लाभ को कौन छोड़ेगा? हमारे पूर्वजों को यदि कोई हस्त-रेखा के समान यह भविष्य चित्र बतला देता कि ये व्यापारी भविष्य में अपनी स्वतन्त्रता और राज्य छीन लेंगे स्वयं सत्ताधीश बन जावेंगे तो शायद वे ऐसा भी करते, परन्तु जब उन्हें यह भविष्य-चित्र नहीं दिखा तब इन पर यह दोषारोपण भी नहीं किया जा सकता कि उन्होंने विदेशी व्यापारियों को देश में क्यों घुसने दिया। "यह विचार कर मकान न बनवाना कि उसमें आगे कभी चूहे बिल कर लेंगे" के समान ही यह दोषारोपण है और चूहे का घर में बिल करना तो बहुत स्वाभाविक है, परन्तु अंग्रेजों के राज्य ले लेने की उस समय कल्पना होना इतनी स्वाभाविक नहीं हो सकती थी। यह तो केवल देवगति का विचित्र परिवर्तन है, मराठों की व्यापारिक नीति की भूल नहीं।

अंगरेजों की सहायता

जिस प्रकार कई लोगों का यह ख्याल है कि मराठों ने अंगरेजों को व्यापार करने की आज्ञा देकर बहुत बड़ी भूल की, उसी प्रकार कुछ लोगों का यह भी ख्याल है कि मराठों ने अंगरेजों की सहायता लेकर अपने राज कार्य में जो उन्हें हाथ डालने दिया, यह उन्होंने बहुत बड़ी भूल की। पहली भूल भूल नहीं थी यह हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। पर दूसरी भूल के लिए यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसे भूल

समझने में सत्य का बहुत अंश है। तो भी यह एक प्रश्न ही है कि उस स्थिति में अंगरेजों की सहायता के बिना मराठों का काम चल सकता था या नहीं। अपने झगड़े में दूसरों को न घुसने देने की भावना स्वाभिमान बुद्धि की है और अन्त में इससे हित ही होता है। स्वावलम्बन सदा सुख का साधन हुआ करता है, परन्तु बदला लेने के लिए शत्रु का प्रतिकार करने को तथा स्वहितार्थ स्वार्थपूर्ण बुद्धि उत्पन्न होने पर सम्पन्न मनुष्य भी जो साधन हाथ में आवे उसका उपयोग करने से नहीं चूकता, तो जो मनुष्य संकट में फँसा हो और आत्म रक्षा करना चाहता हो, वह यदि उन साधनों का उपयोग करे तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? अंगरेज लोग अपने इस बाने को कि गोरे लोगों के परस्पर के युद्ध में काले लोगों की सहायता नहीं लेना, बोअर युद्ध तक निभा सके, परन्तु पिछले यूरोप के महायुद्ध में प्राण संकट उपस्थित होने पर उन्हें अपने इस बाने को खूंटी पर टांग देना पड़ा। अब तो वे निग्रो से भी दस गुने अधिक काले को, यदि वह कन्धे पर बन्दूक रख सकता है, तो अपना सहायक बनाने को तैयार हैं। यह प्रसिद्ध है कि इस युद्ध में फ्रांस वालों ने मारोकन लोगों की और अंगरेजों ने भारतवासियों की सहायता यूरोपियानों के विरूद्ध ली। उनका वह बाना संकट के कारण नष्ट हो गया।

परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि मराठों ने जो अंगरेजों की सहायता ली वह संकट के कारण नहीं, किन्तु द्वेष बुद्धि अथवा स्वार्थ-बुद्धि के शमनार्थ ली थी। अंगरेजों का हाथ मराठी राज्य कार्य में प्रवेश कर देने का दोष प्रायः रघुनाथराव पर रखा जाता है, किन्तु यह भूल है। हमारी समझ से यह दोष नाना साहब पेशवा को देना उचित है। रघुनाथराव ने राज्य के लिए यह किया, पर नाना साहब पेशवा ने तो अपने एक विरोधी सरदार का पतन करने के लिए अंगरेजों की सहायता ली। नाना साहब यह अच्छी तरह जानते थे कि अंगरेज हमारे भावी प्रतिस्पर्धी हैं और यह भी जानते थे कि आंग्रे के पतन से कोकन-किनारे पर अंगरेजों का एक शत्रु कम हो जायगा, तो भी वे आंग्रे का पतन करने की अपनी इच्छा को न दबा सके और उसके लिए उन्होंने अंगरेजों से सहायता ली। रघुनाथ राव ने तो सन् १७७४ में सूरत की सन्धि से अंगरेजों को अपने धर में घुसने दिया परन्तु नाना साहब पेशवा ने यही काम उसके बीस वर्ष पहले ही अर्थात् १७५५ में बम्बई की सन्धि कर के किया है। संभव है कि सामान्य पाठकों को इस संधि का स्मरण न हो। इस सन्धि में यह शर्त तुई थी कि आंग्रे का पतन करने में अंगरेज पेशवा को सहायता दें और इसके पुरस्कार में अंगरेजों को सम्पूर्ण किनारे का अधिकार, बाणकोट और हिम्मतगढ़ तथां इनके समीप के पांच गांव मिले। इस सन्धि के अनुसार अंगरेजों ने विजय दुर्ग का किला लिया और आंग्रे का जहाजी बेड़ा जला दिया। इसके सिवा वे किले के भीतर से दस लाख

रुपयों का माल लूटकर स्वयं ही हजम कर गये। सन्धि के विरुद्ध पहले-पहल उस किले को अंगरेजों ने अपने ही अधिकार में रखा। आंग्रे का पतन होने के पहले अंग्रेजों का बम्बई के दक्षिण की ओर प्रवेश नहीं था, परन्तु आंग्रे का भय दूर हो जाने से अंगरेज स्वच्छन्द होकर संचार करने लगे। कहिये इसमें नाना साहब ने कौनसा स्वाभिमान और कितनी दूरदर्शिता तथा स्वावलम्बन दिखलाया? भले ही तुला जी आंग्रे तारा बाई के पक्ष का रहा हो, परन्तु अंगरेजों की अपेक्षा तो वह नजदीक का ही था। आँग्रे, शिवा जी के समय से मराठी फौजी जहाजी बेड़े का अधिपति था और लगभग १०० वर्षों तक, आंग्रे घराने ने, मराठी फौजी जहाजी बेड़े का नाम ऊँचा बना रखा था। ताराबाई का पक्ष ग्रहण करने के कारण, सम्भव है कि वह पेशवा के मन में कांटा सा चुभता रहा हो, परन्तु उसने अपने पक्ष के लिए अंगरेजों से सहायता नहीं ली, प्रत्युत वह भी पेशवा के समान अंगरेजों से लड़ता ही रहा। इसके सिवा, इस घटना के भी पहले पेशवा ने हबशियों के विरुद्ध भी अंगरेजों की सहायता मांगी थी, परन्तु उन्होंने नहीं दी। यद्यपि हबशी मराठा नहीं थे तो भी अंगरेजों की अपेक्षा वे भारतीयों के अधिक निकट सम्बन्धी थे। आज हम लोग चाहते हैं कि हमारी उक्त भावना उस समय होनी चाहिये थी, परन्तु मालूम होता है कि उस समय अपने पराये को पहिचानने की बुद्धि आज के समान नहीं थी।

स्यकीयों के विरुद्ध अंगरेजों की सहायता लेना यदि अपराध माना जाय, तो यह अपराध करने में त्रुटि किसी ने भी नही की है, क्योंकि जब से यह मालूम हुआ कि अंगरेज सहायता देने में समर्थ हैं तब से स्वकीयों के विरुद्ध सहायता लेने की रीति का पालन प्राय: सबों ने किया है। अलीबाग के आंग्रे भले ही बलवान हो गये हों, पर थे वे मराठा ही, फिर, उनके विरूद्ध नाना साहब पेशवा ने अंगरेजों की सहायता क्यों ली? यदि अंगरेजों से सहायता लेने के कारण रघुनाथराव का नाम रखा जाय तो फिर टीपू और सिन्धिया के विरुद्ध नाना फड़नवीस ने अंगरेजों से जो सहायता ली उसके लिए नाना का नाम क्यों न रखा जाना चाहिए? जिस अर्थ में अंगरेज परकीय कहे जा सकते हैं उस अर्थ में टीपू भी परकीय हो सकता है, परन्तु क्या वह स्वदेशी नहीं था? भारतवर्ष में स्वकीयों के विरुद्ध यदि किसी ने सहायता नहीं ली है तो वे केवल अंगरेज ही हैं। भारत की सब जाति के अर्थात् ब्राह्मण, मराठे राजपूत, राजा रजवाड़े आदि सब लोगों ने एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने में, गृह कलह मिटा देने में, अंगरेजों की सहायता और मध्यस्थता के लिए याचना की, परन्तु अंगरेजों ने यह बात दिखला दी कि भारत में सब अंगरेज एक हैं, उनमें न तो पक्ष भेद है और न तो हित विरोध है। हिन्दुस्तान के तीनों सूबों में बसने वाले अंगरेज एक ही आज्ञा के बड़े पाबन्द हैं। उक्त तीनों के सब प्रयत्न, एक ही व्यक्ति के बिचारे हुए प्रयत्न के समान

एक ही पद्धति से होते हैं। वे अपने अधिकारी की आज्ञा कभी अमान्य नहीं करते। उनमें यदि स्पर्धा भी हो, तो वह भी कम्पनी का अधिकाधिक हित जिस बात से ही उसी की ओर दृष्टि रख कर होती है।

अंग्रेजों की स्थिति भी उस समय इस प्रकार की थी कि यहाँ के राजा महाराजा उनसे ही सहायता लें, किसी एतद्देशीय राजा की सहायता अपने आपसी झगड़े में न लें। अंग्रेजों की सहायता लेने के दो कारण थे, एक तो मराठों के परस्पर के झगड़े, दूसरे अंग्रेजों की कवायदी फौज और युद्ध सामग्री। अंगरेजों की ओर देखा जाय तो पहले तो उनमें परस्पर कोई झगड़े ही नहीं हुए और हुये भी हैं तो यह निर्विवाद है कि उन झगड़ों को मिटाने के लिए उन्होंने कभी भारतवासियों की सहायता नहीं ली। दिल्ली के बादशाह के सूबेदार जिस प्रकार स्वतन्त्र रूप से राजा और नवाब बन गये उसी प्रकार हेस्टिंगग्ज भी बन सकता था। दिल्ली से २०० मील की दूरी के लोगों ने जब स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी तो कंपनी का मुख्य काम काज ठहरा छः हजार मील की दूरी पर। भला, उसका महत्वाकांक्षी नौकर यदि चाहता तो भारत में क्यों न स्वयं ही राज्य प्राप्त कर लेता ? छः हजार मील की दूरी पर से उसका पराजय होना कितना कठिन था यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। वहां से कितनी गोरी फौज आ सकती थी ? और किस प्रकार यहाँ के सैन्य समुदाय की टक्कर झेल सकती ? अंग्रेजों का यहाँ मुख्य आधार यहाँ की ही सेना पर था। विलायत से तो बहुत थोड़ी सेना आती थी। यदि कोई गोरा विद्रोही यहाँ के राजे रजवाड़ों से सहायता माँगता तो उसे वह सहायता अवश्य मिल गई होती। परन्तु कोई गोरा विद्रोह करने को तैयार नहीं। यद्यपि बुद्धि कौर तलवार के बल कितने ही अंगरेज और फ्रेन्च लोगों ने व्यक्तिशः लाखों रुपयों की सम्पत्ति प्राप्त की, कितनों ही ने निज की जागीरें हस्तगत की और कितने ही हिन्दू अथवा मुसलमान राजाओं के आश्रप में सेनापति अथवा दीवान बनकर रहे, परन्तु यूरोप की कम्पनियों के विरुद्ध किसी यूरोपियन ने न तो विद्रोह किया, न कोई फूटकर शत्रु से ही मिला और न किसी ने और जाति भाइयों के विरुद्ध किसी भारतीय की सहायता ही ली। यह बात नहीं है है कि यहाँ के प्रवासी अंगरेजों में परस्पर बैर नहीं था वारन हेस्टिंग्ज का समय अपनी कौंशिल के सभासदों से झगड़ा करने में ही व्यतीत हुआ, परन्तु उसने अपने प्रतिस्पर्धियों को गिराने के लिये भारतीय सेना की सहायता कभी नहीं ली। यही ढङ्ग फ्रेंचों का भी था। डूप्ले प्रभृति अनेक फ्रेन्च नीतिज्ञों का परस्पर झगड़ा होता था परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें उन्होंने उसके मिटाने में भारतीवों की सहायता ली हो। अंगरेज और फ्रेंचों ने युद्ध करने समय भारतवासियों की सहायता ली थी, परन्तु अंगरेजों ने अँगरेजों के विरुद्ध था फ्रेंचों के विरुद्ध कभी भारतीयों की सदा-

यता नहीं ली। इतना ही नहीं भारतीय राजा-महाराजाओं की नौकरी करने के पहले युरोरियनों की यह शर्त हुआ करती थी कि अपने भाइयों से हम नहीं लड़ेंगे। कहा जाता है कि जब होलकर के आश्रित युरोपियन, अपने भाइयों से नहीं लड़े तब उन्हें तोप से उड़वा दिया था। बाजीराव पेशवा द्वितीय के आश्रय में कप्तान फोर्ड नामक अँग्रेज था। परन्तु १८१७ के युद्ध में उसने अपने भाइयों से लड़ना अस्वीकार कर दिया था। अब इसका विचार पाठक ही करें कि हम इन गोरों को नमकहराम कहें या स्वदेशाभिमानी। हमारी समझ से वे सर्वथा नमकहराम नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे नौकरी करते थे। यद्यपि उनके भाइयों के विरुद्ध लड़ने के काम में उनका उपयोग नहीं हो सकता था तो भी कबायदी फौज तैयार करने के काम में उनका उपयोग पूरा हो सकता था, और इतना ही बस समझा जाता था। अंग्रेज और फ्रेंच परस्पर में लड़े, परन्तु स्वदेशियों के विरुद्ध कभी नहीं लड़े। इससे यही सार निकलता है कि वे धर्मनिष्ठ होने की अपेक्षा स्वदेश भक्त अधिक थे। वे इसाई धर्म के अभिमानी होने की अपेक्षा देशाभिमानी अधिक थे और वे स्वदेश परदेश पर से ही स्वकीय और परकीय अपने और पराये की कल्पना करते थे। मालूम होता है कि आपस में झगड़ा कर तीसरे का फायदा न करने की उनकी यह बुद्धि विदेश में ही अधिक जागृत हुई होगी।

यदि भारतवासी भी इसी तरह विदेशों में गये होते तो उनमें भी कदाचित यही बुद्धि उत्पन्न हुई होती, परन्तु उनके निजके देश में तो यह बुद्धि जागृत न हो सकी। तभी उनकी स्वतंत्रता का नाश आपस के झगड़े और उसमें विदेशियों से सहायता लेने से हुआ है। इस सम्बन्ध में तो उस समय के एक भी भारतीय राजनीतिज्ञ में दूरदर्शिता का सदभाव नहीं दिखलाई देता। बड़े बाजीराव और नाना सहब पेशवा ने आंग्रे के विरुद्ध अंगरेजों की सहायता ली। रघुनाथराव वे नाना फड़नवीस के विरुद्ध ली। नाना फड़वीस ने होलकर के विरुद्ध ली। बाजीराव (दूसरे) ने सिंधिया के विरुद्ध ली और (नागपुर के) भोंसले ने पेशवा के विरुद्ध ली। इस प्रकार सबों ने अपने अपने भाइयों के विरुद्ध सहायता ली। दिल्ली, बंगाल, अवध, हैदराबाद और कर्नाटक में जो राजनीतिक उथल पुलथ हुई हैं, वे सब अंगरेज अथवा फ्रेंचों की सहायता ही से हुई है। यदि युद्धों में किसी ने अंगरेजों की सहायता नहीं ली तो ये सिंधिया, होलकर और विशेषतया हैदरअली तथा टीपू थे। परन्तु टीपू ने अंगजों की सहायता नहीं ली तो फ्रचों की ली, ली अवश्य, चाहे किसी की भी ली हो। अब इन सब बातों पर से इतने राजनीतिज्ञों को अदूरदर्शी कहने की अपेक्षा यही क्यों न कहा जाय कि उस समय की परिस्थिति ही ऐसी थी कि बिना सहायता लिये काम ही नही चल सकता था। राज-

काज में सबों की सहायता लेना ही पड़ती है। स्वयं अँगरेजों ने टीपू के विरुद्ध मराठे और निजाम की सहायता ली थी। परन्तु मराठों का अपराध इतना ही है कि वे सहायता की आवश्यकता नष्ट हो जाने पर विदेशियों को अलग नहीं कर सके। यदि स्वतः के पैरों में शक्ति हो तो दूसरे की सहायता अधिक बाधक नहीं होती, परन्तु जिनका सब आधार दूसरों पर होता है उन्हें वे दूसरे यदि सर्वथा हड़प जाय तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसके लिए मराठों का आंग्रे के विरुद्ध अँगरेजों की सहायता लेने और अंगरेजों का टीपू के विरुद्ध मराठों की सहायता लेने का उदाहरण दिया जा सकता है। दोनों के पैरों में ताकत थी, अतः काम होते ही दोनों अलग हो गये और किसी ने किसी की स्वतंत्रता नष्ट नहीं की। अप्रत्यक्ष में परिणाम कुछ भी हुआ हो, परन्तु प्रत्यक्ष में किसी की कुछ हानि नहीं हुई। ठीक इसके विरुद्ध रघुनाथराव, बाजीराव (दूसरा) निजाम और कर्नाटक के नबाब का उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है। इन सबों ने सहायता लेने के लिए अपने आप को इतना जकड़ लिया कि कार्य समाप्त हो जाने पर ये सहायक को फटकार कर दूर न कर सके। घोड़े ने अपने शत्रु के नाश के लिए मनुष्य को पीठ पर बैठा लिया, परन्तु शत्रु का नाश हो जाने पर वह मनुष्य को पीठ पर से न हटा सका। यह एक ईसप नीति की कथा का रहस्य है और यह हिन्दुस्तान के हिन्दू या मुसलमान राजा महाराजा और अङ्गरेजों के पारस्परिक सम्बन्ध के पद-पद पर घटित होता है।

नाश के वास्तविक कारण

यह नहीं कहा जा सकता कि अंग्रेजों को अपने राज्य में व्यापार करने की आज्ञा देने से और अवसर पड़ने पर उनकी सहायता लेने से मराठों का राज्य नष्ट हुआ। क्योंकि इन दो बातों के करने पर भी राज्य की रक्षा हो सकती थी। हमारी समझ से तो राज्य नष्ट होने के वास्तविक कारण दो हैं। पहला कारण है मराठों में दूसरे लोगों से प्रेम, परन्तु आपस में विरोध भाव तथा राष्ट्राभिमान का अभाव। दूसरा कारण है शिक्षित सेना और सुधारी हुई युद्ध सामग्री का न होना। पहले कारण के सम्बन्ध में तो इतना कह देना काफी है कि रघुनाथराव और गायकवाड़ के घरेलू झगड़ों में अंगरेजों का प्रवेश होने पर भी मराठे यदि कुछ समझते और एकता रखते तो भी अंगरेजों का कुछ भी जोर न चलता, परन्तु यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मराठों को मिलकर और एक दिल से काम करने का अभ्यास ही नहीं था। एक भी मराठा सरदार ऐसा नहीं है जो अँगरेजों से न लड़ा हो, परन्तु सब मिलकर नहीं लड़े, यहाँ तक कि दो-दो तीन-तीन सरदार भी मिलकर नहीं लड़े। इसी बात से अँगरेजों का सबसे अधिक लाभ हुआ। जब रघुनाथराव के कलह काल में पेशवा, सिंधिया और

होलकर ने मिलकर युद्ध किया तब उनके सामने अंग्रेजों का कुछ बश न चला और बड़गाँव में मराठों की शरण आकर उन्हें अपमान-पूर्ण संधि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। फिर जब इस संधि को अपमान पूर्ण कहकर उन्होंने तोड़ा और युद्ध छेड़ा तब फिर भी उन्हें मराठों के आगे हारना पड़ा, क्योंकि उस समय भी मराठे सरदारों ने मिलकर युद्ध किया था तथा अंगरेजों को अपनी यह बात कि "अंग्रेजों की शरण आने वाले व्यक्तियों को अंगरेज अभय देने है" छोड़नी पड़ी और रघुनाथराव को नाना पड़-नवीस के सुपुर्द करना पड़ा। इसी प्रकार जिस निजाम की मराठों से रक्षा करने का बीड़ा अंगरेजों से उठाया था और जिसकी सहायता से अंग्रेज लोग टीपू को पराजित कर सके उसी निजाम पर मराठों ने जब सन् १७९६ में चढ़ाई की तब अङ्गरेजो को तटस्थ रहना पड़ा। क्योंकि उस समय भी सब मराठे सरदार एक थे। उनमें फूट नहीं हुई थी। फिर जब बाजीराव को गद्दी देने का प्रश्न खड़ा हुआ तब सिंधिया और होल-कर यदि एकता रखते तो बाजीराव, अङ्गरेजी के पास जाने का साहस नहीं करता। ये दोनों जिसके लिए कहते उसे ही गद्दी दी जाती, क्योकि इनके पास सैनिक शक्ति थी और नाना फड़वीस के पास केवल चातुर्य था। यदि पदच्युत करने पर बाजीराव अङ्ग-रेजों के पास गया होता तो बसई की सन्धि थी ही। रघुनाथराव का पक्ष करने का परिणाम अङ्गरेज भूले नहीं थे। इसलिए पहले तो वे बाजीराव का पक्ष ही न लेते और लेते भी तो सिंधिया और होलकर के आगे उनकी एक न चलती, परन्तु यह नहीं हुआ और बाजीराव अंगरेजों की शरण में गया तथा उसने बसई में सन्धि की। इस सन्धि की शर्तों पर, सिंधिया और होलकर दोनों अप्रसन्न थे। अपने हाथ के पेशवा को अंग-रेजों की शरण में जाते देख उन्हें बहुत क्रोध आया था और वे बसई की सन्धि को तोड़कर पेशवा को फिर मराठों के आश्रय में रखना चाहते थे। उसके दूसरे झगड़े अंग-रेजों से चाहे कुछ भी हो, परन्तु यह विदित है कि इस विषय में दोनों एक थे। पर दोनों ही अङ्गरेजों से मिलकर लड़े नहीं। जब सिन्धिया का पतन हो गया तब होल-कर की युद्ध करने की इच्छा हुई। इस प्रकार एक एक से लड़ने में अंगरेजों को सुभीता ही रहा। यदि दोनो एक साथ लड़ते तो अंग्रेजों को बसई की सन्धि का सशोंधन अव-श्य करना पड़ता, परन्तु होलकर, सिंधिया की पराजय को दूर से ही बैठकर देखने लगे जब पराजय हो गयी तब आप उठे। यह भी नहीं हुआ कि सिंधिया के पराजय की घटना से शिक्षा लेकर चुपचाप बैठे रहते और इस प्रकार अकेले होलकर ये युद्ध छेड़ कर बिना प्रयोजन अपना नाश कर लिया। सन १८१७-१८ में भी यही बात हुई। बाजीराव को चाहिए था कि जब अँगरेजो ने उस पर इतने उपकार किये थे और सबो के पक्ष छोड़ देने पर भी उसका पक्ष लेकर उसे गद्दी पर बैटाया था और इस प्रकार उसके पिता को दिया हुआ बचन किसी भी तरह से क्यों न हो पूरा कर दिखाया

था तो अंगरेजो से युद्ध न करता, परन्तु बसई की सन्धि की लज्जा और अंगरेजों के त्रास के कारण वह अंगरेजो से युद्ध करने को तैयार हुआ। उस समय भी सिंधिया और होलकर की दृष्टि से वही सन १८२१ की स्थिति प्राप्त हुई। उस समय तो उन्हें फिर जोड़ी से आकर बाजीराव की सहायता करनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसलिये बाजीराव के शरण आने पर अकेले होलकर ने अपने हाथ पांव हिलाकर और अधिक मजबूत बँधवा लिये। यद्यपि सिंधिया, होलकर, भोसलें आदि की ही यह इच्छा अत: करण से थी कि मराठी राज्य में अंगरेजों का प्रभाव न बढ़े, परन्तु वह शुद्ध नहीं थी। इसमें स्वार्थ का मिश्रण था। प्रत्येक सरदार के मन में यह गुप्त भावना थी कि अपने सिवा अंग्रेज और इतर सरदारों का प्रभाव कम हो तो अच्छा अथवा दूसरे सरदारों का प्रभाव, अंगरेजों के द्वारा कम हो और अंगरेज प्रबल हो जाये तो कोई हानि नहीं, प्रत्युत अच्छा ही है। परिणाम यह हुआ कि किसी का कुछ भी काम नहीं हुआ और दूसरे सरदारों के नाश के साथ साथ उनका भी नाश हुआ।

यह बात नहीं है कि दूरदर्शी मराठे नीतिज्ञों को अंगरेजों की पद्धति नहीं दीखती थी अथवा वे अंग्रेज दाव पेंचों को नहीं समझते थे, परन्तु यह बात ठीक है कि वे अंग्रेजों से टक्कर न ले सके। जब औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल बादशाहत का पतन हुआ तब साम्राज्य सत्ता के बुद्धि बल शतरंज का दाँव भारत के विशाल पट पर एक और से अंगरेज और दूसरी ओर से मराठा खेलने को बैठे। उस समय दोनों के मुहरे और मुहरों के घर समान थे। दोनों ही को अपने अपने द्वारा सम्पूर्ण पट पर आक्रमण करना था और अपने अपने प्रतिपक्षी के मोहरे जितने जितने हो सके निकम्मे कर पट पर से उठा देना था। यद्यपि शतरंज के दोनों खिलाड़ियों को परस्पर में एक दूसरे के मुहरों की चाल के हेतु की कुछ न कुछ कल्पना आवश्य सोती है, परन्तु वास्तविक बुद्धि बल इसी में है कि मुहरों की चाल ऐसी चली जाय कि सामने वाला खिलाड़ी अथवा अन्य निरीक्षक समझ न सके और यदि समझ भी ले तो प्रतिकार न कर सके। जिसमें बुद्धि बल अधिक होता है वही ज्यादा मात भी कर सकता है। यह बात नहीं है कि मराठों की साम्राज्य पट पर शतरंज खेलना ही न रहा हो, क्योंकि अंगरेज दक्षिण में जितने घुसे थे मराठे उतर में उससे कहीं अधिक घुस गये, परन्तु नाके के स्थान लेने में अंगरेजों ने अपना अधिकार चातुर्य दिखलाया, इसलिए जब मुहरों की मारामार का समय आया तब मराठों के बड़े बड़े मुहरे कमजोर होने के कारण मारे गये।

मराटों को सन् १७६५ के लगभग ही यह बात मालूम हो गई थी कि अंग्रेजों ने व्यापार दृष्टि को छोड़ कर राज्य दृष्टि ग्रहण की है। इसी प्रकार उन्हें तुरन्त ही

यह भी विदित हो गया था कि भारत के राजा रजवाड़ों की गृह कलह में पड़कर अंग्रेज लाभ उठाना चाहते हैं। परन्तु, जिस प्रकार उतार की जगह पर भागती हुई गाड़ी का धक्का रोका नहीं जा सकता उसी प्रकार मराठों को अंग्रेजों का रोकना उस समय कठिन हो गया था। अंगरेजों को इस समय भी कोई ईमानदार नहीं मानता था, सब बेईमान कहते थे। अंग्रेजों की पद्धति के सम्बन्ध में पूना दरबार का मत था कि हैदर खाँ, श्रीमन्त (पेशवा) और नवाब का राज्य लेने की अंग्रेजों की इच्छा है और इसके लिए वे एक से झगड़ा और दूसरों से मैत्री रखने की पद्धति को काम में लाकर अन्त में सबों के राज्य को हड़प करना चाहते हैं। यह जानते हुए भी टीपू को पराजित करने के लिए मराठों ने अंग्रेजों की सहायता दी।

'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत के अनुसार मराठाशाही का अन्त अंगरेजों के हाथों से हुआ। इसके लिए अंग्रेजों को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे भारत में मोक्ष की साधना करने को नहीं आये थे, वे व्यापार कर संपत्ति प्राप्त करना चाहते थे। व्यापार करते करते यदि उन्हें राज्य भी मिलता तो भला वे उसे लेने से क्योंकि चूक सकते थे। राज्य सता के बल पर तो व्यापार की खूब वृद्धि की जा सकती है यह एक साधारण बात है, और राज्य से कर आदि की आमदनी होती है सो अलग। इसलिए जिन्होंने अपने हाथ पाँव चलाकर नया राज्य प्राप्त किया। उन्हें दोष देने की अपेक्षा जिन्होंने अपने हाथ का राज्य गवाया उन्हें ही दोष देना उचित है। जहाँ कोई एक बार राज्य लेने के पीछे पड़ा कि वह फिर न्याय, अन्याय का सूक्ष्म विचार करने के लिए नहीं ठहरता। वह अपना काम करता ही जाता है। मराठों के सम्बन्ध में ही देखिए कि उन्हें उत्तर भारत में राज्य लेने का क्या अधिकार था? उनका दक्षिण में मुगलों के हाथ से राज्य लेना तो न्याय की बात कही जा सकती है, परन्तु साम्राज्य सत्ता प्राप्त करने के लिए उत्तर भारत में जब वे उछल कूद मचाने लगे तब न्याय कहाँ रहा? यदि कोई यह तर्क करे कि मुगलों से सनद लेकर उस सनद के बल पर यदि मराठों को राजपूतों पर तलवार चलाने का हक था तो मुगलों के दीवान बनकर उन्हीं प्रयत्नों से दक्षिण में मराठों को जीत कर मुगलों का बचा हुआ काम पूरा करने का हक अंगरेजों का भी हो सकता है। फिर इस तर्क का उत्तर देना बहुत होगा। इसलिए सामर्थ्य और महत्व की दृष्टि से देखा जाय तो मराठों का राज्य लेने के कारण अंगरेजो पर क्रोध न कर अपने हाथ का राज्य गवाँ देने की जो नादानी मराठो ने की उसी पर वास्तविक क्रोध करना चाहिए।

यह बात प्रत्येक मनुष्य स्वीकार करेगा कि मराठों की अपेक्षा राज्य प्राप्त करने में अँगरेजों को अधिक अड़चनें थी। अँगरेज छः हजार मील की दूरी से चल

कर भारत में आये थे और मराठे थे अपने ही देश में, देश में क्यों, घर में थे। अँगरेजों के लिए सारा देश पराया था। उन्हें प्रत्यक्ष प्रवास के द्वारा देश की लम्बाई चौड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर उस पर से नकशा बनाये बिना देश का परिचय होना कठिन था। मराठों का तो सब देश देखा भाला और जाना हुआ था।

जो कठिन मार्ग, गुफाएँ, दरारें और खोहें मराठों के पावों तले सदा रहती थी, अंग्रेजों को उनका पता तक लगाना कठिन था। यदि मराठों ने यह विचार किया होता कि महाराष्ट्र में अँगरेजों का पाँव न जमने पावे, तो अँगरेजों की सत्ता का बीजारोपण ही न हुआ होता, उसका ऐसा विशाल वृक्ष होना तो दूर की बात है। यदि यही विचार कर लिया होता कि अपने को विलायती माल नहीं चाहिए, तो फिर अँगरेज यहाँ व्यापार काहे को करते ? और नहीं, विलायती माल पर यदि कर ही बैठा दिया जाता तो व्यापार लाभदायक न होने के कारण अँगरेजों को तुरन्त ही अपना बसता बोरिया बांधना पड़ता। दूसरे, अँगरेज व्यापारी अपने पास फौज आदि रखने लगे तब मराठों की आखें क्यों नहीं खुली ? अँगरेजों की सत्ता रूपिणी ऊँटनी का बच्चा जो उनकी आँखों के आगे बढ़ रहा था, उन्हें क्यों नहीं दिखा और मराठों ने उसका प्रबन्ध क्यों नहीं किया ? अँगरेजों के पास बन्दूक आदि फौजी सामान एकत्रित होता हुआ देखकर भी मराठों ने उनके समान फौजी सामान बनने के लिए कारखाने क्यों नहीं खोले ? उस समय शास्त्र आईन तो था ही नहीं। सब यूरोपियन राष्ट्र भारतवासियों के हाथों हथियार बेंचने को तैयार थे और अंगरेजों के सिवा अन्य यूरोपियन, मराठों के यहाँ नौकर रह कर उनकी फौज को सुशिक्षित बनाने और तोप बन्दूक आदि का कारखाना खोलने को भी तैयार थे। फिर मराठों ने इससे लाभ क्यों नही उठाया ? जिस प्रकार छः हजार मील की दूरी से अंगरेज भारत में आये उसी प्रकार साहस कर मराठों को दूसरे देशों में जाने और वहाँ से विद्या प्राप्त करने, मैत्री करने की किसने मनाही की थी ? अँगरेजों के मन में कितना ही राज्य का लोभ होता, पर यदि उनकी सेना में भारतवासी सम्मिलित ही न होते तो वे क्या कर सकते थे ? अँगरेज, जब अँगरेजों के विरुद्ध लड़ने को तैयार नहीं होते थे तो मराठों के विरुद्ध लड़ने के लिए अंगरेजों से क्यों कहा जाता था ?

अगरेजों की फौज में प्रतिशत बीस से अधिक अंगरेजी सिपाही कभी नहीं थे। प्रतिशत अस्सी हिन्दुस्तानी ही थे। जब अंगरेज में अपने अँगरेजपन का भाव था तब हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी में इतना भी नहीं तो हिन्दू हिन्दू ही में, कम से कम, मठारों मराठों में, यह भाव क्यों नहीं हुआ ? सब से महत्व की बात तो यह है कि यदि अंगरेजों को मराठों ने अपने आपसी झगड़ों में न डाला होता तो उन्हें बिना कारण के झगड़े

खड़े कर माराठों के राज्य पर चढ़ाई करना कठिन हो जाता और उन्हें मराठों को जीतने के लिए तीन चार सौ वर्ष भी पूरे न होते। यदि यह मान भी लें कि मुगलों ने उत्तर हिन्दुस्तान; अपनी मूर्खता से अंगरेजों को दे दिया, तो भी अठारहवीं शताबदी के अन्त तक यमुना नदी के दक्षिण की ओर अंगरेजों की बीता भर भी जमीन नहीं थी। ले देकर पश्चिम किनारे पर बम्बई, सूरत प्रभृति थाने और पूर्व किनारे पर कुछ थोड़ासा राज्य ही उनके अधिकार में था। ऐसी दशा में टीपू के विरुद्ध सहायता देकर सेंकड़ों मील का राज्य अंग्रेजों को किसने दिलाया? मराठों ही ने अंग्रेजों को घर में घुसा लेने की निजाम और मद्रास के मुसलमानों की बात को यदि छोड़ दिया जाय तो भी उत्तर में यमुना नदी की ईशान में कटक, संलपुर, पूर्व में समुद्र, आग्नेय में कावेरी, दक्षिण में मैसूर नेरित्य में मलावार, पच्छिम में पच्छिम समुद्र, और वायव्य में रापूताना, इतने बड़े विशाल क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अग्रेजों को पैर रखने तक की जगह कहां थी? फिर उन्हें मराठों ने अपने आपसी झगड़ों में न्यायाधीश या सहायक क्यों बनाया।

यह कहने में कुछ हानि नहीं है कि उस समय इस देश में सब जगह मराठों का राज्य था और एक ही छत्रपति का अधिकार था। पेशवा, सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ भोंसले और पटबर्धन आदि मराठे और ब्राह्मण सरदार, औपचारिक रीति से ही क्यों न हो, एक ही राजा का शासन मानते थे। ये सब सरदार एक ही राज्य के आधार स्तभ थे। इन्हें यह भय होना भी स्वाभाविक था कि यदि उस मुख्य राज्य का पतन हो जायगा तो वह हमारे ही ऊपर आकर पड़ेगा और फिर उसका सँभालना कठिन होगा, वे यह भी जानते थे कि यदि राज्य बना रहेगा तो उससे हम सबों का कल्याण ही है। तो भी फिर मराठों ने अपने अपने राज्यों में अंग्रेजों का प्रवेश क्यों होने दिया। यदि कोई एक सरदार अंरेगजों से मिल गया होता और शेष सरदार परस्पर मिल जुलकर रहते तो भी सब प्रबन्ध हो सकता था। अंगरेजो को बम्बई, कलकत्ता और मद्रास से जो एक दूसरे से बहुत दूर हैं, षड़यन्त्र करने पड़ते थे। परन्तु मराठे सरदार तो इनकी अपेक्षा एक दूसरे से बहुत ही नजदीक थे। यदि मराठे मिलकर चलते तो अङ्गरेजो की डाक तक नहीं आ जा सकती थी और न उन्हें संन्य ही मिलती। यदि वे दूसरे लोगो को सेना में भरती करते तो उस सेना का मराठी राज्य में प्रवेस होना कठिन था। यदि प्रवेश होता तो रसद मिलना कठिन हो जाता और छापे मारकर मराठी ने उस सेना को काट डाली होती। अङ्गरेजो की कलकत्ता या मद्रास से बम्बई के लिए सेना कभी समुद्र मार्ग से नहीं आई, क्योंकि उनके पास जहाजी बेड़ा इतना बड़ा नहीं था। उनकी सेना का आना जाना मराठी राज्यो में से ही प्रायः हुआ करता

था और मराठे उसे आने देते थे परन्तु यदि सब मराठों में एका होता तो अङ्गरेजों की सेना तो क्या, कागज का एक टुकड़ा भी मराठी राज्यों में से होकर नहीं जा सकता था। ऐसी दशा में अङ्गरेज मराठों का राज्य लेने के झगड़े में नहीं पड़ते तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों में से राज्य लेने के झगड़े में पड़ने की सलाह देने वाला जो पक्ष था उसी की विजय हुई होती। इन सब कारणों से कहना चाहिए कि अङ्गरेजों ने मराठों को मराठों की सहायता से जीता। उन्होने थोड़ा-सा बिलायती माल और बहुत बड़ी बुद्धिमता की पूँजी पर भारत का व्यापार और राज्य प्राप्त किया। उन्होंने मुगलों के जीर्ण शीर्ण राज्य पर ही छापा नहीं मारा, वरन् जोशीले, तेज तर्रार, उत्साही, नई दमवाले, महत्वाकाँक्षी स्वयं उदयोन्मुख मराठो के राज्य को भी जीत लिया। उनकी यह जीत केवल दो बातो के बल पर हुई। एक तो उनकी बुद्धि और हिम्मत, दूसरी मराठो की अदूरदर्शित और परस्पर की फूट।

मध्यवर्ती सत्ता का अभाव

शिवाजी की स्वराज-स्थापना के समय राजा और अष्ट प्रधान, ये ही दो राज्य के अंग थे। राज्य एक सत्तात्मक था और अष्ट प्रधान सलाह देने वाले ही उत्तर-दायी कर्मचारी थे। शाहू के शासन काल में पहले पहल सर्रजामी सरदार उत्पन्न हुए। इन सरदारों को अपने-अपने प्रान्तों में दीवानी, फौजदारी। मुल्की फौजी व्यवस्था करने का अधिकार था। इस व्यवस्था करने के खर्च से बची हुई परन्तु पहले से जमाबन्दी के द्वारा निश्चित, रकम उन्हें छत्रपति को देनी पड़ती थी। कई ऐतिहासिकों का कहना है कि सरँजामी सरदारों की नियुक्ति और महाराष्ट्र के बाहर मराठों की सत्ता का विस्तार एक ही समय में हुआ, परन्तु पहले सरदार बनाये गये, फिर राज्य विस्तार हुआ, यह कहने की अपेक्षा राज्य विस्तार होने के कारण ही सरंजामी सरदारों का प्रारम्भ हुआ, यह कहना अधिक उचित होगा, शाहू की सनद की प्रतीक्षा न कर दाभाड़े, वाँडे, भोंसले और आँग्रे प्रभृति सरदारों ने मुगल राज्यों के टुकड़े-टुकड़े करना प्रारम्भ कर दिया था और वे जीते हुए राज्य में स्वतन्त्र कारबार भी करते थे। ऐसे सरदारों को आश्रय में रखने से छत्रपति को लाभ ही था और इन्हें भी शक्ति कम होने के कारण छत्रपति की सत्ता का रक्षण अपने ऊपर चाहिये था। इस प्रकार दोनों और की आवश्यकताओं से सरंजामी सरदारों का मंडल तैयार हुआ। इस समय यदि स्वयं शिवाजी महाराज होते तो वे सर्रजामी सरदार नियुक्त करने की पद्धति स्वीकार करते या नहीं इसमें सन्देह ही है। यूरोप में फ्यूडल पद्धति का प्रारम्भ भी इसी प्रकार हुआ था। मराठों में दो आनुवेशिक मुख्य गुण, चाहे इन्हें दोष कहिये

थे। एक तो स्वातन्त्र्य प्रियता, दूसरा स्वदेश प्रेम। यूरोप में भी फ्यूडल पद्धति प्रारम्भ होने में ये ही दो मनो धर्म कारणीभूत हुए। यूरोप की इस पद्धति के नाश होने में कितनी शताब्दियाँ लगी। यदि महाराष्ट्र में भी दूसरे किसी का सम्बन्ध न हुआ होता और मराठों की राज्य घटना को स्वतन्त्र रीति से विकसित होने के लिये शताब्दियों का अवसर मिला होता तो यहाँ भी जागीरदारी सरदारी की पद्धति नष्ट होकर एकतन्त्री राज्य सत्ता स्थापित हुई होती, परन्तु उपक्रान्ति का यह प्रयोग सिद्ध न हो सका। अष्ट प्रधानों पर पेशवा को नियुक्त करना, यह उत्क्रान्ति की ही एक सीढ़ी थी। और यदि छत्रपति और पेशवा दोनों की एक सी प्रबल जोड़ी मिली होती तो इस जागीरदारी पद्धति का शायद शीघ्र ही पतन हो गया होता। पेशवा ने राज्य विस्तार का उद्योग प्रारम्भ किया था उसे यदि छत्रपति के बल की सहायता मिल जाती तो नये और पुराने सरदार।अपने पेशे की नौकरी नहीं भूलते। पेशवाई का मुख्य आधार, पेशवा की निज की कर्तृत्व शक्ति इस शक्ति के बल उन्होंने अपनी पेशवाई नहीं ही थी इस शक्ति जाने दी, यही बहुत किया। यदि राजा भी स्वत: कर्तव्यशील, तेजस्वी, स्वाभिमानी और चपल होता तो उसे जागीरदार सरदारों की सत्ता और अधिकारातिक्रमण को रोकना बहुत सरल हो गया होता। इसलिये स्वयं पेशवा भी इतने स्वतन्त्र न हो गये होते और जब मुख्य प्रधान को ही स्वतन्त्रता नहीं होती, तो सरदारों को तो होती ही कहाँ से ?

ऐतिहासिकों का कहना है कि—"शाहू महाराज और बालाजी विश्वनाथ के शासन काल में महाराष्ट्र की राज्य पद्धति को इंगलैन्ड की वर्तमान संयुक्त साम्राज्य पद्धति का स्वरूप प्राप्त हो गया था, परन्तु अन्तर केवल यही था कि इंगलैन्ड में वंश परम्परा से चली हुई राज्य सत्ता को लोक निर्वाचित प्रतिनिधियों और प्रतिनिधियों में से नियुक्त अनेक मंत्रिमण्डलों की सत्ता का बन्धन है और पेशवाई के समय में सम्पूर्ण सत्ता एक मुख्य प्रधान ही में संचित थी।" परन्तु हमारी समझ से केवल यही अन्तर इतना बढ़ा है कि इसके कारण पेशवाई को साम्राज्य सत्ता का नाम ही नहीं दिया जा सकता और यदि नाम भी दिया जाय तो भी दोनों साम्राज्य का साम्य सिद्ध नहीं हो सकता। संसार में या तो शुद्ध एकतन्त्री राज्य पद्धति चल सकती है या शुद्ध प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य पद्धति, परन्तु केवल एकतन्त्री प्रधान सत्ता कभी नहीं चल सकती। जो आदर साधारण जन समाज में तख्तनशीन राजवंशीय व्यक्ति के प्रति हो सकता है, वह प्रधान के प्रति, चाहे वह कितना ही गुणवान और बलवान् क्यों न हो, नहीं हो सकता। दूसरी, प्रतिनिधि सत्तात्मक पद्धति को प्रजा का बल होता है, परन्तु प्रधान होने के कारण पेशवा के प्रति सर्व साधारण का आदर नहीं था और एकतंत्री प्रधान सत्ता होने से प्रजा का बल भी नहीं था। इस प्रकार

छत्रपति और प्रजा के बल के बिना पेशवा की सत्ता की इमारत बिना नींव के खड़ी की गई थी। इसलिए पेशवा को अपने आधार के लिए जागीरदारी पध्दति का मँडल रचना पड़ा और अन्त में यही मँडल पेशवाई के लिए सिर का बोझ ही गया। इन जागीरदारों को पेशवा यह नहीं लिख सकते थे कि तुम्हें अमुक कार्य करने की आज्ञा दी जाती है। यदि पेशवा कोई भी बात जागीरदारों को सूचित करते तो उसे मानना न मानना उन सरदारों पर निर्भर था क्योंकि पेशवा को उनपर आज्ञा करने का अधिकार नहीं था और जब आज्ञा करने का अधिकार नहीं था तो आज्ञा भँग करने पर दँड देने का अधिकार हो ही कैसे सकता है ? पेशवा की आज्ञा मान्य न करने के उदाहरण तो मिलते हैं पर जागीरदार सरदारों को पदच्युत करने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। जब तक पेशवा स्वयं सेनापति रहे और चढ़ाई पर जाते, तब तक तो उनका कुछ अधिकार चलता भी था, परन्तु बड़े माधवराव पेशवा के पश्चात् यह बात भी बन्द हो गई और सत्ता के सूत्र फड़नवीस के हाथों में आये। फिर से मध्यवर्ती सत्ता की अवनति हुई और वह एक सीढ़ी और नीचे उतरी। जो स्वामि-भक्ति की भावना शाहू महाराज के सम्बन्ध में थी वह माधवराव के प्रति नहीं थी और जो माधवराव के प्रति थी वह नाना फड़नवीस के सम्बन्ध में नहीं थी। ऐसी दशा में कोकणस्थ फड़नवीस की जगह देशस्थ फड़नवीस यदि कारभारी भी होता तो भी वही बात होती, क्योंकि घड़ी का मुख्य पुर्जा ही शिथिल और निर्जीव हो गया था अर्थात् छत्रपति महाराज की सत्ता भिन्न भागों से जगीरदारी सरदारों तक वह चुकी थी अतः मराठाशाही संयुक्त साम्राज्य स्वरूप न होकर एक काम चलाऊ नाम मात्र के संघ के रूप में थी । संयुक्त स्वराज्य अर्थात् फेडैरेशन और संघ अर्थात् कान्फिडरेसी में ये अनेक अवयव अंग विशेष के एक विन्दु से परस्पर में मिले हुए होते हैं। सारांश यह है कि फेडरेसन रचना बलिष्ठ और मजबूत होती है और कान्फिडरेसी कमजोर। अतएव फेडरेशन की अपेक्षा कान्फिडरेसी धक्का लगने मात्र से टूट सकती है। एक तंत्री राज्य पद्धति में जो काम राजनिष्ठा की भावना से होता है, संयुक्त स्वराज्य पद्धति में वही काम सामुदायिक प्रेम की भावना से होता है, क्योंकि उसमें संयुक्त स्वराज्य में अनेक कार्य मिलकर एक हो जाते हैं। संघ अथवा कान्फिडरेसी में नैष्ठिक प्रेम नहीं होता। उसमें संयोगीकरण केवल काम चलाऊ स्वार्थ ही होता है, और यह स्वार्थ सात्विक अथवा उदार न होने के कारण चाहे जहां नाम मात्र के कारण से अपना स्वरूप बदल सकता है। मराठाशाही के सरंजामी सरदार मँडल के प्रत्येक सरदार का ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता था, त्यों-त्यों अधिकाधिक भारी होता जाता था, पेशवा के फड़नवीस की बुद्धि अथवा उसके माने हुए अधिकारी के समान कमजोर

और नाज़ुक मध्यवर्ती आधार पर लटकने वाला सरंजामी जगीरदारी सरदार मँडल का बोझा अधिक दिनों तक टिक भी कैसे सकता था ? कई लोगों की समझ है कि शिवाजी के समय के स्वराज्य की सीमा से यदि मराठों का राज्य बाहर न गया होता तो यह गड़बड़ी न हो पाती, परन्तु इस पर हमारा कहना इतना ही है कि भारत में ऐसे अंगुलियों पर गिनने लायक बहुत से राज्य थे, पर अन्त में वे भी कहाँ टिके ? वास्तविक बात तो यह है कि मराठी राज्य के विस्तार में कोई भूल नहीं हुई, किन्तु विस्तार के साथ साथ जिस अत्यन्त सुदृढ़ता की आवश्यकता थी वह उसे प्राप्त न हो सकी। यह सुदृढ़ता या तो मध्यवर्ती प्रबल राज्य सत्ता द्वारा प्राप्त होती है या सर्वव्यापी प्रबल लोक सत्ता द्वारा। इन दो के सिवा तीसरा मार्ग नहीं है। और इन दोनों सत्ताओं में से मराठाशाही के अन्तिम दिनों में एक भी प्रबल नहीं थी। इस सम्बन्ध में जितना दोष ब्राह्मण पेशवा को दिया जा सकता है उतना ही मराठे सरदारों को भी दिया जा सकता है। यदि पेशवा कोई भूल कर रहे थे तो उसे सुधारने में मराठा सरदारों की क्या हानि थी ? किसी भी तरह उन्हे मराठाशाही को बचाना चाहिए था। इसके लिए यदि वे चाहते तो राज्य क्रान्ति कर पेशवा की गद्दी उलट देते और मराठा मन्त्रि मँजल स्थापित कर मराठाशाही बचाते, परन्तु उन्होंने यह भी कहाँ किया ?

अंगरेजों ने राज्य कैसे पाया

यह प्रश्न बहुधा उठा करता है कि अंगरेजों ने राज्य कैसे पाया। तलवार के बल पर या अन्य साधनों से। जो यह कहते हैं कि अंगरेजों को चाहिए कि वे भारत-वासियों को स्वराज्य दें और स्वतंत्रता देने की अपनी बिरद के अनुसार भारत में भी काम करें, यहाँ तलवार के बल पर शासन न करें, वे उक्त प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि अंगरेजों ने भारत को तलवार के जोर से नहीं पाया और उनके इस उत्तर का समर्थन प्रोफसर सीली आदि इतिहासकार भी करते हैं, परन्तु हमें यह उत्तर प्राय: मान्य नहीं है, क्योंकि अंगरेजों के राज्य विस्तार का इतिहास देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राय: आधा राज्य तो उन्होंने प्रत्यक्ष युद्ध करने के पश्चात् जो संधियाँ हुई उनके अनुसार पाया है और शेष आधा राज्य प्राप्त करने में यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष रीति से तलवार का प्रयोग नहीं करना पड़ा तो भी उनकी तलवार के भय का प्रयोग अवश्य हुआ है। अङ्गरेजों ने मुगलों से जो दीवानगीरी की सनद प्राप्त की थी उस सनद के अनुसार अंगरेजों को पूर्व में कुछ प्रदेश कारबार करने को मिला और फिर आगे उस पर उन्हीं का स्वामित्व हो गया, यह बात ठीक है, परन्तु यह बात भी ठीक हैं कि अँग्रेजों को मुगलों से नहीं, तो मुगलों के निश्चित नवाबों से लड़ना पड़ा था। यदि बक्सर और पलासी के युद्ध उन्होंने जीते न होते तो बँगाल प्रान्त का राज्य उन्हें

मिला न होता। निजाम से अँगरेजों को जो राज्य मिला वह बिना युद्ध किये ही मिला यह भी ठीक है, परन्तु उसके लिए भी अँगरेजों को अपनी इतनी शक्ति दिखलानी पड़ी कि वे निजाम की रक्षा करने योग्य बल रखते हैं और यह दिखलाने पर ही उन्हें निजाम से राज्य प्राप्त हुआ। निजाम ने उन्हें स्नेही समझ कर पारितोषक में नहीं दिया था और न ईश्वरीय लीला दिखाने वाले फकीर समझ धर्म में ही दिया था। लार्ड डलहौसी के शासन काल में वारिस न रहने के कारण बहुत से राज्य अँगरेजों ने खालसा कर लिये थे, परन्तु अपने आपको अधिराजा अथवा साम्राज्य के स्वामी होने का अधिकारी बतलाये बिना अँगरेज इन राज्यों का खालसा कैसे कर सके होंगे। अँगरेज कुछ मराठों की सन्तान तो थे नहीं जो मराठी राज्य के उत्तराधिकारी हो सकें, फिर इस अधिकार को साम्राज्य सत्ता के स्वामित्व की तलवार के बल का प्रयोग करने के सिवा किस प्रकार प्राप्त कर सकते थे। यह स्वीकार कर लेने पर कि मैसूर, महाराष्ट्र, उत्तर भारत, बंगाल और पंजाब प्रान्त अंगरेजों को तलवार ही के बल पर जीतने पड़े तो फिर बचे हुए शेष प्रदेश, शान्ति के साधनों से, फिर चाहे उन्हें सन्धि, करार, बदला, जागीर, कोषाधिकार, उत्तराधिकार अथवा ही क्यों न कहो, पर उन्होंने प्राप्त किये अवश्य। हाँ, यह स्पष्ट दीखता है कि ऐसे प्रदेश बहुत थोड़े थे। सारांश यह कि यही उपपत्ति अधिक ठीक प्रतीत होती है कि अंग्रेजों ने तकवार के बल पर राज्य प्राप्त किया। प्रोफेसर सीली प्रभृति के कथन का तात्पर्य न समझकर अथवा उस पर पूरा विचार न कर हम प्रायः उसका कुछ का कुछ अर्ड लगाया करते हैं। यह हमारी बड़ी भारी भूल है। प्रोफेसर सीली के कथन का यह तात्पर्य है कि—"दूसरे देशों में विजय कीं इच्छा रखने वाले राजा को जितने झगड़े आदि करने पड़ते हैं, अंग्रेजों को भारत में उतने नहीं करने पड़े। उनका कार्य बहुत थोड़े प्रयास से सिद्ध हो गया और उसमें भी भारतवासियों का ही विशेष उपयोग हुआ। फिर चाहे इसे भारनवासियों का अँगरेजों के प्रति प्रेम कहिए या उनकी मूर्खता। भारत में भारतीयों को अंग्रेजी सेना की अपेक्षा अंग्रेजों ने अपने देश का धन भी लाकर यहां खर्च नहीं किया था, क्योंकि कम्पनी सरकार की पद्धति पहले से ही राज्य लेने की ओर नहीं थी। ऐसी दशा में भी अंग्रेजों ने राज्य प्राप्त किया।" प्रोफेसर सीली ने इसी बात को बहुत महत्व देकर जगत के दूसरे स्थानों पर होने वाले राज्य सम्पादन और भारत के अन्तर का विवेचन बहुत सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

अंग्रेज यदि विलायत से फौज कम लाये थे तो इसका अर्थ यह है कि उन्होंने देशी फौज भी नहीं रखी थी ? या विलायत से पैसा नहीं लाये तो यहाँ से पैदा किया हुआ पैसा भी उन्होंने राज्य प्राप्त करने में खर्च नहीं किया। उन्होंने विलायती फौज और पैसा की सहायता नहीं ली तो क्या यहाँ से ही पैसा पैदा कर उसी की सहायता

और अधिकांश में यहीं की सेना के बल पर उन्होंने राज्य प्राप्त नहीं किया। ईस्ट इन्डिया कम्पनी की राज्य प्राप्त न करने की इच्छा की बात चाहे कुछ भी हो पर उसकी अंतिम कृति क्या थी। उसने राज्य प्राप्त होने पर उसका शासन किया या राज्य नहीं लिया, जिसका तिसका वापिस कर दिया—यही देखना चाहिये।

प्रोफेसर सीली प्रभृति कुछ भी कहें, परन्तु हम यदि विचार करें तो क्या कहें? यही देखना उचित है। यदि कहा जाय कि "अंग्रेजों ने मराठों का राज्य नहीं जीता" तो फिर इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा कि उन्हें वह राज्य मिला कैसे। मराठों ने उनके यहाँ गिरवी तो रखा ही न था। अंगरेजों को मराठों ने दान में और न इनाम में ही दिया था, फिर उन्हें मिला, तो मिला कैसे? राज्य कुछ ऐसी चीज तो है ही नहीं कि उसके स्वामी की नींद लग जाने पर उसकी चोरी की जा सके और फिर जाने पर भी सौ, सौ वर्षों तक चोरी का माल वापिस लेने का उसका स्वामी प्रयत्न ही न करे। सिंधिया, होलकर, पेशवा, सतारा और नागपुर के भोंसले आदि में से किसी का आधा, किसी का पूरा, किसी का पौन हिस्सा राज्य अंगरेजों ने लिया सो इन लोगों ने कुछ प्रसन्न होकर अपनी खुशी से तो दिया ही नहीं था और न यही कहा जा सकता है कि राज्य जाने पर ये लोग वैराग्य वृत्ति से, सौ वर्षों से, सन्तोष पूर्वक व्यापार करते आ रहे हैं। लिये हुये राज्यों में से अंगरेजों ने केवल मैसूर और तंजोर को ही राज्य वापिस दिया और जिसे दिया गया उसने लिया भी, पर जिन्हें नहीं मिला वे मन ही मन में कुढ़ते रहे। यदि तलवार चलाकर किसी को राज्य प्राप्त करने की आशा होती तो वह प्रयत्न किये बिना कभी न चूकता परन्तु यह देखकर कि पूरा लेने के प्रयत्न में कहीं जो कुछ बच रहा है वही न चला जाय उन्होंने कुछ न किया, अथवा यह हुआ हो कि अंग्रेजों की श्रेष्ठ सत्ता देखकर वे जहाँ के तहाँ चुपचाप बैठे रहे। सार यह है कि किसी भी तरह से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अंग्रेजों ने सैनिक सत्ता के बल पर राज्य प्राप्त नहीं किया और न उसी बल पर उसे अब तक बनाये रहे, यद्यपि यह किसी अंश में ठीक है कि महाराष्ट्र के लोगों के मन में पेशवा और मराठों की राज्य कार्य प्रणाली के प्रति तिरस्कार उत्पन्न हो गया था और अंग्रेजों की व्यवस्था तथा चातुर्य के कारण उनसे प्रेम करने लगे थे, तो भी अंगरेजों ने यदि बाजीराव से राज्य नहीं लिया होता तो प्रजा अपने आप अंगरेजों को प्रार्थना पत्र देकर राज्य नहीं देती। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों ने तलवार के बल राज्य प्राप्त नहीं किया। हाँ, यह कहा जाना उचित है कि अंग्रेजों की तलवार को हमारी निज की सहायता बहुत मिली।

दुःख है कि जिस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों ने तलवार के प्रत्यक्ष उपयोग से या उसका भय दिखाकर राज्य प्राप्त नहीं किया उसी तरह यह भी

नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने दूसरे साधनों से कोई भी राज्य नहीं लिया। सिंधिया, होलकर, पेशवा और भोंसले से अंगरेजों ने युद्ध किया था। अत: इनसे जो राज्य प्राप्त किया वह राजनीति के सर्वानुमोदित और प्रगट आधार के अनुसार था। परन्तु जिन राज्यों को दत्तक लेने की आज्ञा न दे लावारिस कहकर अंगरेजों ने खालसा कर लिया उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अंगरेजों ने सर्वांश में न्याय ही किया। किन्तु जिन राज्यों से स्नेह और बराबरी के नाते की संधि हो चुकी थी उन्हें लावारिस ठहराकर खालसा कर लेना एक बड़ा भारी अन्याय था और इसमें किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है। अंगरेजों के इस अन्याय के सम्बन्ध में एक ही उदाहरण देना बस काफी होगा। वह उदाहरण है सतारा राज्य का सुदेव के इस राज्य के खालसा करने की चर्चा पार्लियामेंट तक पहुँची थी और इसके सम्बन्ध में अंगरेजों अंगरेजों में जो विवाद हुआ उसे सुनने का जगत् को अवसर मिला, परन्तु ऐसे कितने ही राज्य खालसा किये गये जिनके सम्बन्ध में जगत को कुछ भी मालूम न हो सका। अस्तु: सतारा का राज्य मराठाशाही में अग्रणी था, अत: उसके सम्बन्ध में यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन करना अप्रासांगिक न होगा।

यह प्रसिद्ध है कि सतारा के महाराज का प्रत्यक्ष शासन शाहू महाराज के समय से दिन पर दिन कम होता जा रहा था। दूसरे बाजीराव के समय में तो नाम-मात्र के महाराज रह गये थे। और इस स्थिति से उद्धार करने के लिए उनके कर्म-चारी आदि प्रयत्न कर रहे थे। खड़की की लड़ाई के चार पाँच वर्ष पहले इस प्रयत्न को अंगरेजों की ओर उत्तेजना मिलना प्रारम्भ हुआ और अन्त में आष्टी के युद्ध में अंगरेजों ने पेशवा का पराभव कर महाराज को पेशवा के पंजे से छुड़ाया और सतारा लाकर फिर उन्हें उनकी गद्दी पर बैठाया। बाजीराव के भागने पर अङ्गरेजों ने जो घोषणा पत्र प्रगट किया था उसमें बाजीराव पर यह दोषारोपण किया गया था कि "सतारा के महाराज को कैद कर उसने महाराज की बहुत बड़ी अवज्ञा की और उनकी सर्वसत्ता छीन ली" तथा सब सरदारों और जागीरदारों को यह आश्वासन दिया गया था कि "यद्यपि बाजीराव से हमने युद्ध प्रारम्भ किया है तो भी मराठाशाही नष्ट करने की हमारी इच्छा नहीं है, मराठों का राज्य बराबर कायम रहेगा।" इत आश्वासन से बहुत से मराठे सरदारों और जागीरदारों को समाधान हुआ और वे लड़ाई से हाथ खीचकर अपने अपने स्थान को चले गये। फिर तारीख २५ सितम्बर, १८१९ को अङ्गरेज और सतारा के महाराज की सन्धि हुई। उस सन्धि के ये शब्द है। "सतारा के छत्रपति का खान्दान बहुत दिनों से है, अत: उनके और उनके कुटुम्बियों की शान कायम रखने के लिए कुछ राज्य देना उचित है। तदनुसार यह राज्य छत्रपति महा-

राज को दिया जाता है। इस राज्य का शासन महाराज छत्रपति, उनके पुत्र अथवा वारिस और रेजीडेन्ट सदा करते रहें।" इस पर महाराज ने यह स्वीकार किया था कि "मैं यह राज्य लेकर सरकार अंगरेज बहादुर के आश्रय में सदा रह कर सरकार अङ्गरेज बहादुर की सलाह से सब काम करता रहूँगा।" इसके सिवा संधि में परराज्य से सम्बन्ध न रखने, युद्ध प्रसंग पर सहायता देने आदि सामान्य करार भी महाराज ने किये थे। इस सन्धि के अनुसार दक्षिण में कृष्णा और वारणा, उत्तर में नीरा और भीमा, पश्चिम में सहयाद्रि और पूर्व में पंढरपूर तथा बीजापुर इस प्रकार की सीमा से घिरे लगभग १५ लाख वार्षिक की आमदनी का राज्य महाराज का स्वतंत्र वंश-परम्परा का राज्य कह कर, दिया। बीस वर्ष के बाद प्रतापसिंह महाराज पर कुछ दोषारोपण कर उन्हें बनारस में रखा और उनके भाई शाह जी महाराज उर्फ भाऊ-साहब से नवीन संधि कर उन्हें गद्दी पर बैठाया। सन् १८४८ में शाह जी महाराज ने मरने के पहले त्र्यंकोजी महाराज को गोद लिया, उस समय प्रसिद्ध नीतिज्ञ और भावी गवर्नर सर वार्टल फीअर सतारा के रेजीडन्ट थे। उन्होंने संधि के आधार पर राज मंडल को बुलाकर और दरबार भरकर त्र्यंकोजी को गद्दी पर बैठाया, परन्तु कम्पनी सरकार के डायरेक्टरों ने यह कहकर कि सरकार की आज्ञा के बिना दत्तक लिया गया है, दत्तक नामंजूर किया और राज्य खालसा कर दिया। यह सरासर अन्याय किया गया, क्यों कि यह राज्य स्वतंत्र था इसे दत्तक के लिए आज्ञा लेने का नियम लागू नहीं हो सकता था, परन्तु राज्य की आमदनी उस समय तीस पैंतिस लाख तक बढ़ गई थी, अतः कम्पनी उसे लेने के लाभ को न रोक सकी। बाजीराव ने युद्ध किया, इसलिए उसे पदच्युत कर उसका राज ले लेना उचित कहा जा सकता है, परन्तु सतारा के महाराज का निष्पुत्र मरना कुछ अपराध नहीं था। फिर इस निमित के आधार पर राज ले लेना उचित नहीं कहा जा सकता और बहुत से अँग्रेजों ने भी यही कहा है। सतारा के पहले और उस समय के रेजीडन्ट सर वार्टल फीअर, जनरल ब्रिग्स और मौ० स्टु० एल्फिन्स्टन प्रभृति इसे बहुत बड़ा अन्याय समझते थे और इसके लिए उन्सोंने बहुत झगड़ा भी किया था। इस बात का प्रमाण भी कागज पत्रों से मिलता है कि द्वितीय बाजीराव का कारबार जिस प्रकार खराब था उस प्रकार सतारा महाराज का नहीं था, अतः राज खालसा होने में इस ओर से भी कोई कारण नहीं था! जब कि अंग्रेजों के मत से सतारा महाराज को कैद में रखना, बाजीराव का अपराध था तब मराठाशाही बनाये रखने का वचन दे देने पर और पेशवा को निकाल कर अपना लड़ाई का खर्च ले, चार करोड़ की आमदनी का सारा राज सतारा के महाराज को देने में कौन सी अनुचित बात थी!

यद्यपि यह बात सबको मान्य है कि सतारा के महाराज राज का काम-काज

न कर सतारा में निश्चेष्ट पड़े रहते थे, तथापि यह कहना कि उन्हें पेशवा एक प्रकार से कैद सा कर रक्खा था सबको मान्य नहीं है। यहाँ तक कि दूसरे बाजीराव के समय में भी ऐसी स्थिति नहीं मानी जा सकती। सतारा के रेजीडेन्ट जनरल ब्रिग्ज ने सब कागज पत्रों को देखकर अपनी यही सम्पति दी है। सन् १८२७ में जनरल ब्रिग्ज ने बम्बई सरकार को जो रिपोर्ट भेजी थी ऐसी सभी बातें उसमें लिखा था।

युद्ध अथवा संधि करना, राज के अष्ट प्रधान से लेकर अन्य सब कर्मचारियों की नियुक्ति कर उन्हें वस्त्र तथा अधिकार पत्र देना, सरदार लोगों को चढ़ाई करने और राज जीतने को भेजना वा वापिस बुलाना, इनाम, सन्मान, सरंजाम, नियुक्ति और धमकियां देना, वंश परम्परा के लिए काम देना या वेतन बढ़ाना था घटाना आदि हर एक बातों की सनद या कागज पत्र आदि देने का अधिकार सतारा के महाराज को था। यद्यपि इन सब बातों में पेशवा अपनी सम्मति देते तथा सिफारिश करते थे, परन्तु महाराज की इच्छा और स्वीकृति के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता था और जो सिक्के आदि चलाये जाते थे वे उनकी आज्ञा और अधिकार से चलाये जाते थे। पेशवा की ओर से महाराज के पास सब कामों की सुनाई कराने के लिए कोई कारभारी या मंत्री रहा करते थे जो पेशवा की ओर से लिखकर आये हुए काम को महाराज के सन्मुख उपस्थित करते और समझाते थे। उन पर महाराज जो आज्ञा दिया करते थे वही किया जाता था। यद्यपि पेशवा की ओर से जो सम्मति दी जाती थी महाराज उसी के अनुसार आज्ञा देते थे तो भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि मराराज के किसी बात को अस्वीकार करने पर पेशवा ने बलात् उस काम को राजकीय मुहर लगा कर किया हो। पेशवा को यदि ऐसी बलजोरी करनी होती तो वे सिक्के आदि सतारा ही में क्यों रखते, पूना न ले आये होते, अथवा जो बातें वे अपने आप कर सकते थे स्वथं कर लेते, जैसे कि संधि अपने नाम से करना, अपनी मुहर से सनद आदि देना, पर उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया। स्वतः बाजीराव द्वितीय के वस्त्र सतारा से ही आये थे और इतना ही नहीं किन्तु १८१० में जब सतारा के महाराज पूना आये तब बाजीराव ने उनका स्वागत अपने स्वामी के समान ही किया और वैसा ही सन्मान अंग्रेजों से करवाया। बहुत सी छोटी-छोटी बातों में भी सतारा के महाराज की आज्ञा आवश्यक होती थी और वह या तो पीछे अथवा समय पर ही महाराज की ओर से दी जाती थी। इसके सिवा फौजी और मुल्की अधिकारियों और सेना सम्बन्धी समाचार, युद्ध प्रसंग, संधि तथा राज काज की अनेक छोटी-छोटी बातों तक का विवरण सतारा के महाराज को बाजीराव द्वितीय के समय तक बताया जाता था। इसका प्रमाण देने से विस्तार होने का भय है, अतः जिन्हें इस सम्बन्ध में प्रमाण

देखने की आवश्यता हो उनसे हमारा निवेदन है कि वे सतारा के महाराज शाहजी राजा उर्फ अप्पा साहब का वह प्रार्थना पत्र जो इन्होंने महारानी विक्टोरिया को अपना राज वापिस देने के लिए विलायत भेजा था, देखें। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पेशवा ने कभी अपने को मराठी राज का स्वामी माना था। यद्यपि विलायत की सिविल लिस्ट के अनुसार राज की आय में से महाराज के निजी खर्च के लिए कुछ रकम नियत कर दी जाती थी तो भी और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निजी खर्च के लिए और भी रकम दी जाती थी और महाराज उसे राज से देने की आज्ञा दिया करते थे। पूना में पेशवा के कार्यालय में सम्पूर्ण राज कार्य होने का प्रारम्भ शाहू महाराज के समय से हुआ और उन्हीं के समय विशेष कर उनके पश्चात् सतारे के महाराज आलस्य अथवा व्यसनों में अपना समय व्यतीत करने लगे। वे राज कार्य को कुछ सँभाल नहीं सकते थे, इसलिए पूना के कार्यालय में राज कार्य जोर पकड़ते गये परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि अपने मंत्री के सिरमौर हो जाने पर सतारा के किसी भी महाराज ने स्वाभिमान पूर्वक सिर उठाया हो। यदि महाराजा चाहते तो सिन्धिया, होलकर और नागपुर के भोंसले से गुप्त पत्र व्यवहार कर पेशवा के पंजे से अपने को छुड़ा सकते थे और यदि पेशवा ने सतारा के महाराज को वास्तव में कैद सा कर रखा होता तो मराठा सरदारों ने अपनी मूल राजगद्दी तथा जातीयता के अभिमान के कारण महाराज को मुक्त अवश्य कराया होता परन्तु जब यह कुछ नहीं किया गया तब इसका अर्थ यही होता है कि महाराजाओं जा व्यक्तिगत नादानपना और पेशवा के द्वारा पचहत्तर वर्षों में बढ़ा हुआ राज भवन तथा पूना में राज कार्य की सुव्यवस्था देखकर इस दशा को मराठा सरदारों ने असन्तोषजनक नहीं समझा होगा और न उसे पलटने के लिए उन्होंने शस्त्र उठाने की जरूरत समझी होगी। अंग्रेजों को तो सतारा के महाराज का ही स्वामित्व मान्य था। पेशवा को तो वे सदा नौकर माना करते थे और पेशवा के व्यवहारों को, अधिकार अतिक्रमण का नाम दिया करते थे, परन्तु जब सतारा के महाराज बालीराव के हाथ से छूट कर अंग्रेजों के दल में उपकृत स्नेही के नाते से आ मिले तब फिर उन्हें एक स्वतन्त्र नरेश मानने में अँगरेजों की क्या हानि थी। हानि यह थी कि यदि उन्हें स्वतंत्र मान लिया जाता तो फिर दत्तक न लेने देने का कारण उपस्थित कर राज खालसा करने का सुअवसर नहीं मिल सकता था। एलफिन्स्टन ने १८१७ में जो प्रसिद्धि पत्र प्रगट किया था उसमें इन बातों को लिखा था।

इन बातों से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि सम्पूर्ण मराठी राज्य महाराज को न मिलकर उसमें से कुछ खालसा होगा, परन्तु जो कुछ मिलेगा वह स्वतन्त्र राज्य होगा। इन शब्दों को सत्य करने के लिए महाराज से आगे जाकर जो सन्धि हुई उसमें

ऐसी शर्तें करना, अंगरेजों को उचित नहीं था जिनसे महाराज की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित होती। अन्ततोगत्वा यह उचित भी मान लिया जाय कि परराज्यों से पत्र व्यवहार अंगरेजों के द्वारा करने तथा अपने सरदारों और जागीरदारों की व्यवस्था अंगरेजों के द्वारा कराने की शर्त करना गत अनुभव पर से आवश्यक था, तो भी दत्तक की आज्ञा लेने का पचड़ा महाराज के पीछे सदा के लिये लगा देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता और न इसका कोई कारण ही था। पहले ही तो चार करोड़ की आमदनी के राज्य में से महाराज को केवल पन्द्रह लाख की आमदनी का ही राज्य दिया गया और साथ ही किसी प्रकार का झगड़ा फसाद न करने के लिये खूब अच्छी तरह से सन्धि की शर्तों में बाँध लिया। फिर भी उनके पीछे दत्तक का झगड़ा लगाना कैसे न्याय कहा जा सकता है, नाममात्र का पन्द्रह लाख की आमदनी का राज्य मिला तो क्या और दत्तक को मिला तो क्या ? उससे अंगरेजों को विषाद क्यों होना चाहिये था ? सन्धि के समय महाराज अधीन राजा के समान अप्रधान श्रेणी के राजा माने गये, पर दत्तक का प्रश्न उठने पर वह बात भी गई और महाराज से आश्रित राजा के समान व्यवहार किया गया। सबसे अधिक दिल्लगी यह कि राज्य खालसा करने के समय महाराज को स्वतन्त्र न मानने में यह युक्ति उपस्थित की गई कि जब तुम पेशवा के समय में ही स्वतन्त्र राजा नहीं थे तो हमारे शासन में तुम स्वतन्त्र कैसे माने जा सकते हो ? हम पूछते हैं कि अंगरेजों से स्नेह सम्बन्ध होने पर भी पेशवा के समय की परतन्त्रता ही यदि महाराज से चिपटी हुई थी तो फिर अंग्रेजों ने उन पर उपकार ही क्यों किया ? १८१९ अथवा १८३९ की संधियों में ऐसे कोई शब्द नहीं हैं जिन से महाराज अंग्रेजों के आश्रित के सरदार माने जा सकें। सत्ता की अपेक्षा अंगरेज उस समय कितने ही श्रेष्ठ रहे हों, पर वे राजाधिराज नहीं बन पाये थे, किन्तु उस समय उनकी सत्ता मुगलों के दीवान, कारभारी अथवा सेनापति के नाते की ही थी। १८३९ तक तो अंगरेज सरकार अपने को व्यापारी कम्पनी ही कहती थी। सतारा के महाराज से जो १८१९-३९ में संधियां हुई उन दोनों की अंगरेजी मुहरों में यही शब्द थे कि "व्यापारी कम्पनी और दिल्ली के बादशाह के नौकर"। इधर शिवाजी महाराज ने मुगलों को जीतकर अपना राज्याभिषेक कराया था और उनके स्वतन्त्र राज्य के उत्तराधिकारी महाराज प्रतापसिंह १८३९ में थे। १८३९ तक उसी प्रकार नाता पाला जाता था। यदि कानूनी भाषा में कहा जाय तो कहना होगा कि दिल्ली के बादशाह के सम्बन्ध से महाराज का पद श्रेष्ठ और अंगरेजों का कनिष्ठ था। यदि बादशाह की ओर से मराठों को जो चौथ सरदेश मुखी की सनद मिली थी, उस दृष्टि से देखा जाय तो किन्हीं बातों में दोनों बादशाह के सनदी नौकर होने से दोनों का दर्जा समान ही ठहरता है।

अंगरेजों को यह बात विदित थी कि मन्त्री राजा के अधिकार मर्यादित कर सकता है। १८१८ में सतारा के महाराज को जो अधिकार थे उससे अधिक अधिकार इंग्लैंड में भी सब राज काज मन्त्रि मंडल राजा के नाम से करता है। बाजीराव अथवा उसके पहले के पेशवाओं की सिफारिशें सहसा नामंजूर करने का साहस यदि सतारा के महाराजाओं में नहीं था तो इसका कोई कारण होना चाहिये। क्या इंग्लैंड के राजा भी सहसा मन्त्रि मंडल की सिफारिश नामन्जूर करने को कभी साहस करते। सारांश यह कि पेशवा के मनमाने काम करने से महाराज की पदभ्रष्टता मानी नहीं जा सकती। इसी प्रकार अंगरेजों को सूचना दिये बिना पर-राज्यों से सम्बन्ध न करने की शर्त मान लेने से भी महाराज का स्वातन्त्रय नष्ट नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक राजा की विजय दूसरे राजा पर होने से विजित राजा को विजयी की कुछ शर्तें माननी ही पड़ती है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके मान लेने से राजा की स्वतन्त्रता सर्वथा नष्ट हो जाय। इटली ने कार्थज को जीता और उससे अन्याय तथा अत्याचार पूर्ण शर्तें स्वीकार कराई, पर ऐसा कहीं सुनने में नहीं आया कि उससे उनकी राजकीय स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी हो।

अंगरेज और सतारा के महाराज में जो सन्धि हुई थी वह युद्ध में जय, पराजय होकर नहीं हुई थी किन्तु दोनों ओर से स्नेह की ही सन्धि थी। और श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ राज्यों में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए अमुक अमुक कार्य करने तथा न करने की शर्तों की ऐसी सन्धि हो भी सकती है। १८०९ में काबुल के अमीर ने जो अंगरेजों से सन्धि की थी उसमें अमीर ने यह स्वीकार किया था कि "मैं अपने राज्य में किसी भी फ्रेन्च को न रहने दुंगा" तथा १८१५ में नैपाल के राजा ने अंगरेजों से सन्धि कर यह शर्त की थी कि सिकिम के राजा से झगड़ा उपस्थित होने पर अंगरेजों को कध्यस्थता में उसका निर्णय और अंग्रेज उस सम्बन्ध में जो करेंगे वह मान्य करूंगा, परन्तु इन संधियों से अमीर की अथवा नैपाल की स्वन्त्रता नष्ट होती हुई नहीं सुनी गई और न इन दोनों राजाओं को दत्तक लेने के लिये अंग्रेजों से आज्ञा लेने की कोई आवश्यकता ही हुई यही बात सतारा के महाराज के सम्बन्ध में भी थी। सतारा के महाराज भले ही निर्बल हो गये हों और अंग्रेज, प्रबल हों, पर सन् १८१७ के घोषणा पत्र में उन्हें स्वतन्त्र राजा ही माना था। जागीरदार नहीं, और बात कभी उटल नहीं सकती। एक राजा का राज्य या सैनिक शक्ति दूसरे से कम होने के कारण दूसरे की सहायता पर यदि उसे अवलम्बित होना पड़े तो इससे उस राज्य का स्वातन्त्रय नष्ट नहीं हो जाता।

आज यह सिद्ध हो गया है कि यूरोप में निर्बल राजा भी स्वतन्त्र राजा हो सकते है। इंगलैंड स्वयं अपने मुंह से यह स्वीकार करता है कि निर्बल और आत्म-

रक्षा करने में असमर्थ राजाओं का स्वातन्त्र्य नियमानुसार सिद्ध करने ही के लिए हम इस महायुद्ध में सम्मिलित हुए हैं। सन् १८१६ की सन्धि में दोनों ओर के अंग्रेज मराठों के सुभीते पर प्रायः अधिक ध्यान दिया गया था। सतारा के महाराज को अपनी आत्म रक्षा करना था और अंगरेजों को मराठों को सन्तुष्ट कर भावी युद्ध टालने के साथ-साथ अपना खर्च और राज्य बचाना था। इसलिये दोनों ने परस्पर मिलकर वह सन्धि की थी। दत्तक की आज्ञा लेने का बन्धन यदि अंगरेजों को लगाना था तो उसी समय अन्य शर्तों के समान इसे स्पष्ट रीति से क्यों नहीं कह दिया। उस समय यदि सतारा के महाराज को स्वतन्त्र राज्य अंगरेजों ने नहीं दिया होता तो कौन उनका हाथ पकड़ता था परन्तु, जब उन्होंने एक बार चाहे वह उदार मत से क्यों न हों, राज्य दे दिया था फिर अंगरेजों को उसे वापिस लेने का अधिकार नहीं था। सारांश यह कि कानून, न्याय, नीति आदि किसी भी दृष्टि से महाराज का राज्य खालसा करना, अन्याय ही सिद्ध होता है। सतारा राज्य के सम्बन्ध में इतने विस्तार पूर्वक चर्चा करने से हमारा यही प्रयोजन है कि जिस प्रकार यह बात ठीक है कि अंगरेजों ने भारत में बहुत सा राज्य तलवार के बल से प्राप्त किया उसी प्रकार उन्होंने कुछ राज्य, न्याय की ओर देखते हुये, राज्य लेने की तृष्णा से भी प्राप्त किया, यह भी असत्य नहीं है। लार्ड डलहौजी के शासन काल में अंगरेजों को जो राज्य मिले उनके लिए प्रायः वही बात कही जा सकती है जो कि सतारा नरेश की राज्य लेने के सम्बन्ध में कही गई है। परन्तु अब इस विषय पर अधिक विस्तार पूर्वक चर्चा करने की हमारी इच्छा नहीं है।

मराठाशाही के नाश होने के वास्तविक और अवास्तविक कारणों का विवेचन और भी अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है, परन्तु विस्तार भय से यहाँ पर केवल एक और कारण पर विचार कर इस अध्याय को हम समाप्त करेंगे।

जाति भेद और राज्य नाश

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि मराठाशाही की अवनति का एक कारण जाति भेद भी था, परन्तु हमें इस बात के कहने में बहुत सन्देह है। यद्यपि यह ठीक है कि महाराष्ट्र में जाति भेद था, परन्तु उसकी उत्पत्ति बालाजी विश्वनाथ पेशवा के समय से ही नहीं हुई थी ? वह सनातनकाल से चला आता था और न केवल महाराष्ट्र हीं में था, वरन् भारतवर्ष के दूसरे भागों में भी महाराष्ट्र ही के समान हजारों वर्षों से प्रचलित था। ऐसी दशा में उसका दुष्परिणाम अठारहवीं शताब्दी के अन्त में ही हुआ यह नहीं कहा जा सकता। पहले जब मुसलमानों ने महाराष्ट्र का बहुत

सा भाग जीत लिया, उस समय भी जाति भेद था। मुगलों की चढ़ाई के समय में भी था और फिर जब मराठों ने मुगलों से राज्य छुड़ाया और शिवाजी महाराज ने नवीन स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की उस समय भी वह था, शिवाजी के पश्चात् मुगलों ने जब फिर महाराष्ट्र पर अधिकार किया इस समय भी वह था, राजाराम महाराज के समय में बीस वर्षों तक बराबर झगड़कर मराठों ने स्वतन्त्रता की रक्षा की तब भी वह था। इसके पश्चात् जब सवाई माधवराज के समय में दिल्ली तक मराठी सत्ता हो गई उस समय भी वह मौजूद ही था और अन्त में बाजीराव के समय में जब मराठाशाही का नाश हुआ तब भी वह विद्यमान था। सारांश यह कि शिवाजी महाराज के दो सौ वर्ष पहले से दो सौ वर्ष पीछे तक जाति भेद एक ही स्वरूप में महाराष्ट्र में विराजमान था। मुगलों के समय में तो जाति भेद का प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु अंगरेजों के समय में उसका प्रभाव पड़ा, इसका प्रमाण क्या ?

मुगलों के समय में जो मराठे और ब्राह्मण कंधे से कंधा मिलाकर उनसे लड़ते थे क्या वे अपने मन और कार्य के कारण आज की दृष्टि से समाज सुधारक कहे जा सकते है ? नहीं जिस समय महाराज शिवाजी महाराष्ट्र मंडल को मिलाकर मुसलमानों से देश की रक्षा करने की योजना बनाई थी, उस समय उन्होंने जाति भेद के विरुद्ध कोई व्याख्यान नहीं दिया था। उन्होंने अपने राज्य में केवल गुण को और कर्त्तव्य परायण पुरुषों को अपने पास खींच लिया तथा अकर्मण्यों को दूर कर दिया। उनके सम्बन्ध की यह बात प्रसिद्ध ही है। उन्होंने कभी यह भेद नहीं किया कि अमुक ब्राम्हण है और अमुक मराठा है और ऐसी स्थिति में भी जब कि महाराज शिवा जी, सनातन पद्धति के अनुसार जाति भेद के कट्टर मानने वाले थे, उन्होंने लोगों का चुनाव सद्गुणों के कारण किया, न कि जाति भेद अथवा समाज सुधार के द्वेष से। इसी प्रकार पेशवा के समय में भी जाति भेद मान्य था। फिर भी प्रत्यक्ष राज्य व्यवहार में स्वजातीय लोगों की नियुक्ति आदि का व्यवहार कभी नहीं दिखलाया गया, किन्तु राज्य कल्याण की दृष्टि से ही व्यक्ति का चुनाव आदि होता था। बालाजी विश्वनाथ के समय में जिन लोगों की वृद्धि हुई उनमें प्रतिशत पाँच सौ ब्राम्हण लोग ही थे। उस समय की सूची देखने से विदित होता है कि उस समय बड़े-बड़े पद पर प्रायः ब्राम्हण सरदार ही थे। पेशवा पर एक यह भी दोष लगाया जाता है कि उन्होंने कोकणस्थ ब्राम्हणों का बहुत उपकार किया, परन्तु इस दोषारोपण के लिये कुछ भी विशेष आधार नहीं है। बेहरे, फड़के, रास्ते, पटवर्धन, महेंदले तथा एकाध और दूसरे को छोड़ जिसे हम नहीं जानते होंगे और कौन कोकणस्थ सरदार था। पेशवा के सिवा शेष सब मन्त्रिगण तथा विचूरकर पानशे, पुरन्दरे, मजूमदार, हिंगड़े आदि सब

सरदार मंडली देशस्थ थी। इसके सिवा गोविन्दपन्त बुन्देला के समान कहाड़े सरदार भी अनेक थे। ले देकर निम्न कर्मचारी ही कोकणस्थ ब्राम्हण थे। ऐसी दशा में यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि पेशवा जाति पक्ष करते थे अथवा उन्होंने ब्राम्हणों का बहुत कल्याण किया था।

यह बात ठीक है कि उच्च पद पर जिस जाति का व्यक्ति होता है उस जाति के लोग धीरे धीरे उसके कार्य विभाग में थोड़े बहुत भर ही जाते हैं, परन्तु यह नियम केवल कोकणस्थों के लिए ही लागू नहीं है बल्कि हिन्दुओं की सब जातियों और यहाँ तक कि मुसलमान, पारसी, अंग्रेज आदि के लिए भी मनुष्य स्वभाव रूप होने के कारण लागू हो सकता है। अंग्रेजी राज्य में भी इसके उदाहरण जितने चाहो उतने मिलेंगे। यदि किसी एकाध कलेक्टर का सेक्रेटरी या रिश्तेदार, एक प्रभू अथवा सारस्वत जाति का होता है तो थोड़े ही दिनों में कई महत्व के स्थान उसके जाति वालों से भरे हुए पाये जाते हैं। यदि कोई गत कुछ वर्षों के भीतर बम्बई प्रान्त में मुन्सिफी का पद किन-किन जाति वालों को दिये गये इसकी सूची प्रकाशित करें तो हमारे उक्त विधान का समर्थन उससे अच्छी तरह हो सकेगा। बम्बई के कर्मचारी मंडल में इस बात की शिकायत बड़े जोर शोर से रही हैं कि बम्बई की म्युनिसिपैलिटी तथा ओरियँटल इन्शुरेन्स कम्पनी के कार्यालय में पारसी लोग बहुत भर गये है। जो बात पार्सियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है वही क्रिश्चियनों के सम्बन्ध में भी लागू है। हेलिबरी कालेज से भारत में जो सिविलियन आते थे उनके सम्बन्ध में विलायत में भी शिकायत थी कि प्राय: ठहरे हुए कुछ घरानों के लोग भेजे जाते है। भारतीय ब्रिटिश शासन के पहले सौ वर्षों का इतिहास यदि देखा जाय तो उसमें प्राय: एक ही उपनाम के एक पर एक आये हुए अधिकारी देखने को मिलेंगे। स्वयं विलायत अथवा अमेरिका में भी यदि जाति भेद नहीं है तो भी पक्ष भेद बहुत ज्यादा है और विलायत में कल तक बहुत से घरानों में एक ही राजकीय पक्ष बड़ी निष्ठा और अभिमानपूर्ण व्यवहार करता हुआ दिखलाई पड़ता था। सारांश यह हैं कि चिरपरिचित, आँखों के आगे के अपने साथ के और हितसम्बन्धी तथा काम कर सकने वाले अपने मनुष्यों को छोड़ कर दूसरे दूर के मनुष्यों को ढूंढ़कर उन्हें नियत करने की लोकोत्तर निस्वार्थ भावना, पक्षपात शून्यता परोपकार बुद्धि आज तक किसी भी राष्ट्र में और कभी भी विशाल रूप में नहीं देखी गई है। पेशवा, कोकणस्थ ब्राह्मणों के घराने उन्नत दशा में लाये उनसे भी यदि अधिक लाये होते तो भी उनका ऐसा करना ऊपर दिखलाये हुए मनुष्य स्वभाव के अनुसार ही होता, परन्तु ऊपर बतला चुके हैं कि पेशवा हाथ से ऐसा कोई काम नहीं हुआ।

यदि पेशवा पर कोई यह आरोप करे कि उन्होंने अपनी निजी सत्ता की अभिलाषा की लो इस विषय में हम उनका विशेष रीति से समर्थन नहीं करना चाहते, क्योंकि जो बात पेशवा के लिए कही जा सकती है वही ब्राह्मण सरदारों की भी थी। शिवा जी के समय में अष्टप्रधान और सरदारों की नौकरी वंश परम्परा से नहीं दी गई थी। इसका कारण यह था कि उस समय राज्य का प्रारम्भ काल ही था, तो भी उनके समय में भी, परम्परा-गस नौकरी की जड़ जम गई थी और आगे जाकर वही पद्धति सरदारी में भी लागू हो गई थी। इंग्लैन्ड में आज भी यह पद्धति देखने को मिलती है। वहाँ कायदा कानून बनाने का अधिकार जिन दो सभाओं को है उनमें से हाउस आफ लार्डस में सैकड़ों ऐसे लार्डों ने स्थान रोक रखा है जो न तो प्रजा के द्वारा ही चुने जाते है और न जिन्हें राजा ही नियुक्त करते हैं। केवल जन्म सिद्ध अधिकार के बल सैकड़ों वर्षों से उक्त लार्ड उभा में स्थान पाते और कायदे कानून बनाने के हक का उपभोग करते आ रहे हैं।

यह भी कहा जाता है कि जाति भेद के कारण ही महाराष्ट में फूट हुई और अवनति का प्रारम्भ हुआ, परन्तु इस कथन के लिए प्रमाण बहुत कम है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में कई उल्टी सीधी बातें सिद्ध की जा सकती हैं। जाति भेद के प्रवल होने पर भी जब मराठा शिवाजी महाराज ने चन्द्रराव मोरे सरीखे मराठा सरदार को जान से मरा, अहैंक प्रभू चरानों को ऊँचा उठाया और इतने भारी पराक्रम से प्राप्त किया हुआ राज्य ब्राह्मण रामदास के चरणों में अर्पण करने की तत्परता दिखलाई तो फिर जाती भेद किस तरह दोषी सिद्ध किया जा सकता है। सिंधिया और होलकर के ब्राह्मण होने पर भी दोनों में तीन पीढ़ियों तक द्वेष क्यों रहा? यदि यह कहा जाय कि पेशवा के समय में देशस्थ और कोकणस्थ का भेद अत्यधिक हो गया था तो पेशवा पेशवा में जो झगड़ा हुआ वह तो कोकणस्थों का ही परम्परा का झगड़ा था सो क्यों हुआ? हरिपंत फड़के और परशुराम भाऊ ने जो नाना फड़नवीस का पक्ष लिया था वह कोकणस्थ के नाते से नहीं लिया था। एक ओर रघुनाथ राव और मोरोबादादा दूसरी ओर माधवराव नानाफड़नवीस प्रभृति में इस प्रकार में जो गांठ पड़ गई थी वह जाति द्वेष के कारण नहीं पड़ी थी, इसी प्रकार के झगड़े आगे पीछे सिंधिया, होलकर आंग्रेज भोंसले, गायकवाड़ आदि के धरानो में भी हुए, पर इनका कारण जाति भेद नहीं कहा जा सकता। यद्यपि हम यह जानते हैं कि मूल झगड़ों को जाति भेद के कारण कुछ बल मिला जैसा कि ब्राह्मण और कायस्थों के झगड़े के कारण उस समय मराठाशाही में असंतोष फैल गया था परन्तु वे झगड़े सदा रूपये पैसे तक ही होते थे अर्थात् झगड़ा और फूट का कारण शुद्ध जाति भेद न होकर अन्य कोई हुआ करता था।

न्यायमूर्ति रानाड़े ने भी जाति भेद का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि देशस्थ ब्राह्मणों ने रघुनाथराव का और कोकणस्थ ब्राह्मणों ने नाना फड़नवीस का पक्ष लिया था, परन्तु देशस्थों ने जिस रघुनाथराव का पक्ष लिया था वह रघुनाथराव स्वयं कोकणस्थ ब्राह्मण था। ऐसी दशा में यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि यह पक्ष जाति भेद के कारण लिया गया था। हाँ, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि देशस्थों ने एका कर किसी देशस्थ को या मराठों ने मराठे को पेशवा बनाना चाहा था तो बात दूसरी है। सारांश यह कि जिस प्रकार मराठों की आपसी कलह के प्रमाण बहुत है, उसी प्रकार वह कलह जाति भेद के कारण हुई, इसके लिये अधिक प्रमाण नहीं मिलते हैं। इसलिये ऐसे ही प्रमाण अधिक प्राप्त हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के सम्बन्ध में लोग जाति पांति के भावों को खूँटी पर टाँग देते थे और अपने स्वार्थ के लिये दूसरी जाति के लोगों को अपना लेते थे। इस समय के जाति भेद के सम्बन्ध में न्यायमूर्ति रानाड़े ने जो विधान किया है उसकी अपेक्षा उनका वह दूसरा विधान हमें अधिक ग्राह्य है, जो उन्होंने मराठी सत्ता का उत्कर्ष नामक पुस्तक के "बीज कैसे बोया गया ?" नामक प्रकरण में किया है, वह विधान इस प्रकार है—"हिन्दुओं की फूट के कारण ही भारत में विदेशी लोग घुस सके हैं'। हिन्दुओं को व्यवस्थित काम करने का न तो ज्ञान है और न मिलकर काम करने का उन्हें अभ्यास ही है। उन्हें नियमानुसार शान्ति के साथ काम करने से प्रायः घृणा है और सभ्यता तथा छोटे बाप के बेटे बनकर चलने का उपदेश उन्हें रूचता ही नहीं है। ऐसी दशा में व्यवस्थित रीति से संगठित सेना के आगे हिन्दुओं की सत्ता यदि नहीं टिक सकी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शिवाजी महाराज इस बात का सदा प्रयत्न करते रहे कि हिन्दुओं के ये दोष नष्ट हो जांय और इस छोटी सी बात से बड़े से बड़े राजकामों तक में समाज के हित, समाज के उत्कर्ष को अपना उत्कर्ष और समाज के अपमान को अपना अपमान समझने लगें।" श्रीयुक्त रानाड़े का यह विधान वास्तव में ठीक है, परन्तु शिवाजी महाराज ने जिन मार्गों से प्रयत्न किया उस पर यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि जिस दृष्टि से आज जाति भेद को समझकर मराठाशाही की अवनति का कारण माना जाता है उस दृष्टि से जाति भेद करने का प्रयत्न शिवाजी महाराज ने कभी नहीं किया।

शिवाजी महाराज पूर्ण हिन्दू धर्माभिमानी थे। इसी धर्माभिमान के जोर पर महाराज ने राष्ट्र को जागृत किया था। महाराज को जिस धर्म का अभिमान था वह सनातन धर्म ही था और उस सनातन धर्म का मुख्य आधार भूत चातुवर्ण नहीं था या आचार का मुख्य अंग जाति भेद भी नहीं था, ऐसा कोई भी प्रमाणिकता पूर्वक कह नहीं सकता। शिवाजी के जाति भेद नष्ट करने के प्रयत्न करने की बात तो दूर रही,

किन्तु उनकी इस प्रकार की भावना के सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जाति भेद की संख्या अथवा व्यवस्था राष्ट्र हित की दृष्टि से बहुत घातक है और इससे राजकीय प्रगति में बाधा उपस्थित होती है। महाराज शिवाजी की "गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक" यह विरद थी और यह विरद उन्होंने सुवर्णाक्षरों से लिख रखी थी, परन्तु इसे उन्होंने उस समय के ब्राह्मणों से डरकर या किसी को फँसाने के लिये नहीं लिखा था। इससे यही सिद्ध होता है कि उनकी जाति भेद पर श्रद्धा ही थी। ऐसी दशा में भी जब उन्होंने चातुवर्ण विशिष्ट हिन्दू धर्म का अभिमान प्रदीप्त कर ब्राह्मण और मराठों को कन्धे से कंधा भिड़ा कर प्राण हथेली में ले लड़ने को तैयार किया तो इससे यही प्रयोजन निकलता है कि उन सब को धर्म का ही महत्व अधिक मालूम होता था और उनके हृदय पर धर्म की जो छाप बैठी थी उससे उनके कार्य में जाति भेद अथवा जाति द्वेष आड़े नहीं आता था। इसमें भी यदि अधिक विवेकपूर्वक कहा जाय तो कहना होगा कि शिवाजी महाराज ने अपने आसपास के लोगों को व्यक्तिगत हित भूलकर समाज हित के लिये जो तैयार किया सो वे महाराज सुधारक होने के कारण तैयार नहीं हुए और न महाराज का सनातनधर्म के अलौकिक तथा दिव्य उपदेष्टा होने के ही कारण हुए, किन्तु महाराज के सर्व साधारण की आकर्षित करने के गुण तथा धृष्ठ, साहसी और बुद्धिमान महाराष्ट्र भक्त अगुआ होने के कारण ही लोगों का ऐसा परिवर्तन हो सका। अतएव उन्नति अवनति का आधार जाति भेद पर रखा जाना उचित नहीं है। जिस प्रकार शिवाजी महाराज के पहले अवनति का कारण जाति भेद था ऐसा नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार उनके समय की जाति भेद शून्य बुद्धि को उस काल की उन्नति का कारण नहीं कहा जा सकता है।

शाहजी, शिवाजी और संभाजी-इन तीन पीढ़ियों के लगातार के कारण देखे जाँय तो उनमें धार्मिक विचार अथवा आचार में विशेष अन्तर न मिल व्यक्तिगत स्वार्थ मूल जन की पात्रता है, परन्तु महाराष्ट्र में पात्रता का उद्दीपन राष्ट्रीय प्रेम वृद्धि पर अवलंबित न होकर विभूति पूजन की वृद्धि पर अवलंबित है और आज भी यही हाल है। यहाँ यह कह देना भी उचित प्रतीत होता है कि राष्ट्राभिमान के लिए जाति भेद के नाश की आवश्यकता नहीं है। सामुदायिक हित के लिए व्यवस्थित रहना, नियमों के उलंघन नहीं करना और राष्ट्रीय हित के शत्रुओं के विरुद्ध सदा आपस के लोगों का अभिमान रखना, जाति भेद के रहते हुए भी हो सकता है। जाति भेद के रहते हुए राष्ट्र हित बुद्धि उत्पन्न हो सकती है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में ही दिया जा सकता है क्योंकि जाति भेद और धर्म भेद के कट्टर अनुयायियों से भी राष्ट्र हित की बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, जाति भेद के रहते हुए उसकी उत्पत्ति होने

में क्यों बाधा हो सकेगी । यूरोप में अनेक धर्म पंथ के लोग एक ही राष्ट्र के अभिमानी देखे जाते हैं । स्पेन का रोमन कैथोलिक राजा जब प्रचंड जहाजी बेड़े को लेकर इंग्लैंड पर चढ़ाई करने आया तब इंगलैण्ड के प्रोटेस्टेंटों के साथ रोमन कैथोलिक लोगों ने भी उसकी तैयारी की थी । आज भी यूरोप में जो महायुद्ध हो रहा है उसमें प्रोटेस्टेंट इंग्लैण्ड, कैथोलिक फ्रॉन्स और रोमन कैथोलिक इटली एक दूसरे से कंधा भिड़ाकर प्रोटेस्टेंट जर्मनी और कैथोलिक आस्थियों से लड़ रहे हैं । मुसलमान धर्मावलम्बी अरब लोग इंगलैण्ड की ओर से लड़ते हैं और तुर्क जर्मनी की ओर से ।

जाति भेद रहना उचित है या नहीं इसका तात्विक उत्तर कुछ भी हो और स्वयं लेखक भी उसका न होना ही उचित है ऐसा समझने वालों में से एक है; तो भी उसका विचार तात्विक न्याय बुद्धि और व्यवहार इन दो दृष्टियों से करना पड़ता है । न्याय बुद्धि से देखने पर ईश्वर का किसी एक जाति को सदा के लिये जन्म श्रेष्ठ अधिकार देना और दूसरी जाति को सदा के लिये कनिष्ठ स्थिति में रखना कभी न्याय नन्द कहा जा सकता । ऐसा कहना ईश्वर के न्याय की हंसी करना है । उत्कृष्ट राजा के शासन के समान ईश्वर के शासन में संपूर्ण प्राणि मात्र के उत्क्रान्ति करने का समान् अवसर मिले ऐसी इच्छा न करना मानो ईश्वर को अन्यायी मनुष्यों से भी अधिक अन्यायी कहना है । यदि व्यवहार दृष्टि से देखा जाय तो जिन्हें राजकीय स्वातंत्रता प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हें जाति बन्धन शिथिल करने के शास्त्रों को आज तक राजनीतिक क्षेत्र में उपयोग में नहीं लाया हुआ शास्त्र समझ कर उपयोग में अवश्य लाना चाहिए । चाहे उनके तात्विक विचार कुछ भी हो । हर समय प्रत्येक राष्ट्र की कोई न कोई सर्वश्रेष्ठ अथवा सर्बो को आकर्षित करने वाली भावना होती ही है । शिवा जी महाराज के समय में राष्ट्रीय भावना धर्म की अपेक्षा राजनीति पर ही अधिक अवलम्बित रहती थी और आज इस बीसवीं शताब्दी में भी हमारी दृष्टि धर्म की अपेक्षा राजनीतिक कार्यो पर ही अधिक है । राष्ट्र भक्ति की औषधि जो पहले थी वही अब है । उस समय सनातन धर्म कल्पना के अनुमान में दी जाती थी परन्तु आज उस कल्पना को अधिक उदार बनाकर बदली हुई सामाजिक परिस्थिति के अनुपान में देना चाहिए । यह विवेचन वर्तमान काल के लिए है । परन्तु आज जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जगत् के साम्राज्यों से है, उस स्थिति को मन से पहले के काल में संक्रमित कर आज की अड़चनों की ही उस समय की अड़चनें समझना और यह कहना कि जाति भेद के ही कारण राष्ट्र का नाश हुआ, उचित नहीं है ।

————

आठवाँ अध्याय

मराठाशाही की सैनिक व्यवस्था

अंग्रेज ग्रंथकारों ने जहाँ तहाँ मराठों का उल्लेख 'चोर, लुटेरा और डाकू' के नाम से ही किया है, और यह ठीक भी है। क्यों कि अंग्रेजों को भारत में पहले पहल मराठे ही बराबरी के प्रतिस्पर्धी मिले थे। फिर भला वे शत्रु के विषय में क्यों अच्छे उदगार प्रगट करने लगे? और न ऐसा किसी ने किया भी। मराठों की अपेक्षा अंगरेजों को लिखने पढ़ने का अधिक प्रेम था और वे प्राय: इतिहास, प्रबन्ध, दैनिक कार्य विवरण (डायरी) टिप्पणियाँ, कैफियत, वर्णन और विवेचन लिखा करते थे। इसलिए अंग्रेजों ने मराठों के सम्बन्ध में जितना लिख रखा है उतना मराठों ने अंगरेजों के सम्बन्ध में नहीं लिखा। केवल इतिहासकार और नीतिज्ञों ने कहीं कहीं प्रसंगानुसार, बहुत थोड़ा उड़ती हुई दृष्टि से उल्लेख किया है। आजकल अंग्रेजी राज्य होने और अंगरेजी ग्रन्थों के छप जाने के कारण वर्तमान काल के सुशिक्षित लोगों को पढ़ने में वही अँगरेजों का लिखा हुआ ऐतिहासिक साहित्य आता है। एक ही ओर का साहित्य पढ़ने से बुद्धि में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु गत पच्चीस तीस वर्षो से महाराष्ट्र के इतिहास भक्तों ने ऐतिहासिक संशोधन से जो देश की सेवा की है उससे मराठों के सम्बन्ध में इतना सच्चा साहित्य उपलब्ध हुआ है कि यदि कोई मराठों के सम्बन्ध में पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहे तो उसे साहित्य का अभाव नहीं खटकेगा। अब हमें इसपनीति की कथा के अनुसार मनुष्य के द्वारा बनाये हुए सिंह के चित्र पर अवलंबित रहने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि अब सिंह के द्वारा बनाया हुआ मनुष्य का चित्र भी देखने को मिलने लगा है। मराठों ने जो अंगरेजों का वर्णन लिखा है, उसकी अपेक्षा उनके लिखे हुए कागज पत्रों में उन्होंने अकल्पित रीति से निज का जो चित्र लिख दिया है, इस समय उसी से हमें अधिक काम है। इस चित्र को अच्छी तरह देखने से मराठों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे केवल खीर के मूसल ही थे। लड़ने व लूट करने के सिवा उन्होंने कुछ किया ही नहीं तथा वे शान्ति के सुख जानते ही न थे और न संघटित राज्य पद्धति के मूल तत्वों के ही जानकार थे।

स्वर्गीय न्यायमूर्ति माधवराव रानाडे ने अपनी "मराठी सत्ता का उत्कर्ष" नामक पुस्तक में बड़ी अधिकारयुक्त वाणी से मराठों पर किये गये इन आरोपों का अच्छी तरह खंडन किया है और उनकी योग्यता दूसरे प्रान्तवासियों को समझा दी है। आपने अपने इस कार्य से पूर्वज ऋण और राष्ट्र ऋण को बड़ी अच्छी तरह से चुकाया है। ग्राँट डफ नामक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है कि—"सह्याद्रि पर्वत के जंगल में जिस प्रकार बबूला उठता है और उसमें सूखे पत्ते इकट्ठे होकर उसमें एकदम आग लग जाती और थोड़ी ही देर में शान्त भी हो जाती है उसी प्रकार मराठों की सत्ता की दशा थी।" श्रीयुक्त रानाडे ने इसका उत्तर प्रौढ़ और ठीक शब्दों में दिया है और सिद्ध किया है कि ऐसे लोगों ने मराठी इतिहास के मर्म को समझा तक नहीं है। रानाड़े कहते हैं कि लुटेरों के हाथों से पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली बादशाहत की स्थापना कभी नहीं हो सकती या यों कहिये कि देश के एक बड़े भाग के राजकीय नक्शे को मन-माना रंगने और उसे स्थाई बना देने का काम उनसे नहीं हो सकता। इसके लिए मनुष्यों में किसी विशेष प्रकार के उत्साह की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार क्लाइब और बारन हैस्टिंग्ज के समान साहसी अंगरेजों के हाथों से भारत में वृटिश राज्य की स्थापना होने में वास्तविक ही रीति से परन्तु परोक्ष भाव से धनी, बलवान और दृढ़ निश्चय ब्रिटिश राज्य की वृद्धि और सत्ता कारणीभूत हुई, उसी प्रकार मराठों के सम्बन्ध में भी हुआ। यदि मराठे व्यक्तिशः कितने ही साहसी, शूर और बलवान होते, परन्तु उनमें राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रभक्ति नहीं होती और वे मराठी राष्ट्र को कुछ महत्व नहीं देते होते तो उनके द्वारा मराठी साम्राज्य की स्थापना कभी नहीं हो पाती। महाराष्ट्र में बीरों के समान राजनीतिज्ञ पुरुषों की परम्परा भी सैकड़ों वर्षों से चली आ रही थी और इस परम्परा को बनाये रखने में मराठा राष्ट्र की कल्पना ही उपयोगी हुई। राष्ट्र कोई फिजिक्स परीक्षा के समान कोई वस्तु तो है नहीं, जिसकी चिता में से तुरन्त ही कोई नवीन और सजीव प्राणी उत्पन्न हो जाय और न अहि-रावण महिरावण ही है जिनकी एक रक्त बिन्दु से केवल व्यक्तिनिष्ठ महत्वाकाँक्षा की भूमि में सैकड़ों अहिरावण, महिरावण उत्पन्न हो जाँय। मराठों को अन्त में अंग्रेजों ने जीता। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अंगरेज मराठों की अपेक्षा अधिक राष्ट्र प्रेमी, उद्योगी, एकनिष्ठ, तथा भौतिक और नैतिक सामर्थ में श्रेष्ठ थे, परन्तु एक ने दूसरे को जीता, इसलिए एक सर्व गुण सम्पन्न और दूसरा बिलकुल मूर्ख नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष में सैकड़ों जातियों के रहते हुए जो बात दूसरी जातियाँ न कर सकीं अर्थात् मुगलों का सामना कर उसमें यश प्राप्त करना और सम्पूर्ण देश में स्वराज्य की स्थापना करना, वह मराठों ने की और एक इसी बात से उनकी विशिष्टता सिद्ध होती है। जब राष्ट्र में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में राष्ट्रीय बुद्धि का

बीज बो दिया जाता है, अथवा उनके हृदय में राष्ट्रीय स्वाभिमान की मजबूत और गहरी नींव डाल दी जाती है, तभी ऐसे अलौकिक पराक्रम किये जा सकते हैं। जिन्हें राष्ट्रीय राजकरण कह सकते हैं ऐसी बिलक्षण प्रकार की जो एक के बाद एक घटनायें हुई हैं, उन्हीं से मराठा राज्य की स्थापना हुई। मानव शास्त्र की दृष्टि से मराठी राष्ट्र का विचार करने पर कोई भी यह कहने का साहस नहीं कर सकेगा कि सब मराठों के धर्म, भाषा, राजकीय विचार, सामुदायिक महत्वाकाँक्षा और ध्येय आदि अंतस्थ हेतु समान नहीं थे। इन्हीं अंतस्थ हेतुओं और शत्रु, परिस्थिति संकट आदि ऐक्य हेतुओं की जोड़ मिल जाने से उनका एका और भी अधिक शीघ्र फलप्रद हुआ होगा उक्त अंतस्थ कारणों से ही मराठों को भूतकाल में इतना महत्व प्राप्त हुआ। रा० ब० रानडे ने भविष्य कथन की। समझाकर कहा है कि—"समय आने पर भारतवर्ष के राष्ट्रीय तत्वानुसार विभाग होंगे और वे विभाग स्वतंत्र संस्था न बनकर बादशाही सत्ता के सामान्य सूत्र में बध्द होंगे। ऐसे समय में कोन कौन सी बातें साध्य की जा सकेंगी और भविष्य में भारतवर्ष की योग्यता किस प्रकार की होगी, इसका गहरा विचार करने वाले को मराठी इतिहास से बहुत कुछ सीखना पडेगा और उसमें भी वर्तमान के मराठों को भविष्य के इतिहास में कौन सा कार्य भार उठाना पड़ेगा, इसके निर्णय के काम में तो मराठों का इतिहास बहुत ही उपयोगी होगा।"

मराठों की सैनिक व्यवस्था

किसी भी राष्ट्र के इतिहास का अध्ययन करते समय स्वाभाविक रीति से उस राष्ट्र का सैनिक सामर्थ्य और पराक्रम की ओर लक्ष जाता है क्योंकि राज्य संपादन और राज्य की रक्षा करने के कार्य में सैनिक शक्ति की आवश्यकता सबसे पहले होती है। राजकाज को यदि शतरंज के खेल की उपमा ठीक बैठती भी हो, तो भी सर्वांश में वह घटित नहीं होती क्योंकि शतरंज के खेल में दोनों पक्षों के मान्य नियमों का बन्धन होता है, इसलिये एक पक्ष के राजा के मुहरे को प्यादा शह देते समय उस पक्ष का खेलने वाला कितना ही बलवान क्यों न हो तो भी दूसरे पक्ष का हाथ पकड़कर वह यह नहीं कह सकता कि तुम शह मत दो, परन्तु राज कार्य में यह बात नहीं है। भले ही कुछ समय तक खेल के नियमानुसार राज कार्य में धर्म न्याय प्रसंग नीति आदि का अवलम्बन किया जाय, परन्तु अन्त में जब कठिन प्रसंग उपस्थित हो जाता है तब सब नियम एक ओर रख दिये जाते हैं और अन्त में जिसकी तलवार उसी का यही नियम सत्य ठहरता है। नाना फड़नवीस यद्यपि बहुत बड़े राजनीतिज्ञ थे, तथापि जब वास्तविक तलवार से सामना हुआ तब उनकी राजनैतिक चतुरता की तलवार को झुकना ही पड़ता था। महाराज शिवा जी राजनीतिज्ञ थे, परन्तु तलवार बहादुर भी

थे। यदि वे तलवार बहादुर नहीं होते तो केवल राजनीति के बल वे स्वराज्य की स्थापना न कर पाते। सारांश यह कि राज्य स्थापना और रक्षा के कार्य में सैनिक शक्ति मुख्य है। अतः यहाँ पर सबसे पहले मराठों की सैनिक शक्ति पर विचार करना उचित है।

पेशवा की तैयार फौज बहुत थोड़ी थी। सरदारों की और तैनाती फौज ही अधिक थी। मराठी राज्य के मुख्य स्वामी सतारे के महाराज थे, परन्तु उनके पास भी हजार दो हजार तैयार फौज कभी रही होगी या नहीं इसमें संदेह ही है। सन्मान की दृष्टि से महाराज के बाद पेशवा थे, परन्तु उनके पास भी दस पाँच हजार से अधिक तैयार फौज नहीं थी। पेशवा की मुख्य फौज हुजरात और खास पायगा थी और उसका प्रबन्ध पेशवा के द्वारा नियुक्त कृपा पात्र सरदार के द्वारा होता था।

पेशवा के आश्रय में जो सरदार थे और उन्हें जितनी फौज रखने की आज्ञा दी गई थी तथा उस फौज के खर्च के लिये जो जागीर प्रदान की गई थी उसकी सूची मराठी 'काव्यइतिहास संग्रह' में प्रकाशित हुई है। इस पर से यहां संक्षेप में उन सबका वर्णन दिया जाता है :—

सरदार	सेना	जागीर
मल्हारराव होलकर	२२ हजार सवार	६५ लाख की
आनन्दराव पवार	१५ हजार सवार	४५ लाख
पटवर्धन चिंतमणपांडुरंग गंगाधर गोविन्द	३ हजार सवार	११ लाख
पटवर्धन परशुराम रामचंद्र	१॥ हजार सवार	६॥ लाख
पटवर्धन कुरूंदवाड़कर	३ सौ सवार	२॥ लाख
प्रतिनिधि	५ हजार सवार	१४ लाख
रास्ते	३ हजार सवार	११ लाख
मुधीलकर घोरपड़े	८ सौ सवार	४ लाख
पानसे	तोपखाना	३॥ लाख
थोरात्त	५ सौ सवार	१। लाख
भाषकर	१॥ सौ सवार	६० हजार
हरिपंत फड़के	२ सौ सवार	१ लाख ८० हजार
नाना फड़नवीस	७ सौ सवार	४॥ लाख
त्रयंबकराव पेठे	१२ सौ सवार	७। लाख

सरदार	सेना	जागीर
अक्कल कोटका भोंसले	१ हजार सवार	४॥ लाख
सुलतानराव	५ सौ सवार	१॥ लाख
पुरंदरे	३ सौ सवार	२ लाख ३२ हजार
शेख मिरे	१॥ सौ सवार	६० हजार
अंबेकर	×	८० हजार
सुलतानी भोंसले (खानदेश)	२ सौ सवार	७५ हजार
नायगांवकर	५ सौ सवार	१ लाख ५० हजार
राजेबहादुर	३ हजार सवार	६ लाख
विट्ठलराव सुन्दर	३ हजार सवार	१२ लाख
खंडेराव बोड़कर	८ सौ	२ लाख ४० हजार
अली बहादुर	१० हजार	२२ लाख
दाभाड़े	५ सौ	१ लाख ३५ हजार
रघूजी भोंसले	२५ हजार	१ करोड़
गायकवाड़	५ हजार	७२ लाख
इसलामपुर मन्त्री	३ सौ	७५ हजार
आँग्रे (कुलावा)	×	३ लाख
सुमन्त	×	२५ हजार
चिटनवीस	×	७५ हजार
अमात्य	×	१५ हजार
सचिव	×	२ लाख ३२ हजार
राजाज्ञा	×	३० हजार
(सब मिलाकर राज मंडल १ करोड़ ८० लाख)		
कोल्हापुर का राजमंडल	३ हजार	६ लाख २२ हजार
वारामती के नावक	२ सौ	१ लाख ६५ हजार
भोंसले शंभुमहादेव	×	४५ हजार
चारों जगह के निंबाल कर	×	२ लाख ५७ हजार

सरदेशमुखी चौथ के सम्बन्ध में घास दाना आदि इस प्रकार नियत था :—

सरंजाम की बावत	२० लाख
दूसरे सरंजाम	२ लाख

दौलतराव सिंधिया आलीशाह बहादुर। सिंधिया, होलकर और पवार को सरंजामी जागीर के सिवा बादशाही दिल्ली और अकराबाद, आदि सर करने के कारण आमदनी में से क्रमशः २,२३, १० प्रतिशत दिया जाता था और ४५ प्रतिशत पेशवा लेते थे। इसके अनुसार सिंधिया की जागीर २ करोड़ ५ लाख की थी। २२ हजार सेना, ६० लाख जागीर।

घोरपड़े मंडली (गुत्तीवाले) १४ लाख ६३ हजार

शिवा जी और संभाजी के समय में स्वयं छत्रपति महाराज सेना के साथ सेनापति बनकर युद्ध करने जाया करते थे, परन्तु उनके बाद यह पद्धति बन्द हो गई और केवल पेशवा ही जाने लगे और सवाई माधवराव तक यह पद्धति बनी रही। खर्डा के युद्ध क्षेत्र पर स्वयं सवाई माधवराव गये थे, परन्तु दूसरे बाजीराव के समय में यह पद्धति भी नहीं रही। उसने सिर्फ दूर से लड़ाइयाँ देखी और वह भी भागने के मौके पर। नाना फड़नवीस के समान राजनीतिज्ञ को भी लड़ाई पर जाना पड़ता था। जब ब्राह्मणों की यह दशा थी तो मराठों के विषय में तो कहना ही क्या? उन्हें तो मानो जन्मघुटी के साथ ही युद्ध क्षेत्र के प्रेम की घुटी पिलाई जाती थी मराठी सेना में पैदल की अपेक्षा सवार ही अधिक होते थे। पहले ही उनकी युद्ध पद्धति इस प्रकार थी जिसमें सवार का उपयोग अधिक होता था। सामना बाँधकर या खाई खोद कर लड़ने की पद्धति नहीं थी। उनके गुरू ने उन्हें कभी धीरे-धीरे लड़ना नहीं सिखाया था। यदि शत्रु उनके कब्जे में आ जाता तो उस पर आक्रमण कर उसे घेर लेते थे। उसका रसद आदि सामग्री लूटकर उसे कष्ट पहुँचाते थे। यदि कभी विकट प्रसंग आ जाता तो किला अथवा गढ़ी जैसे मजबूत स्थान का आश्रय ले लेते थे। इसलिये यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लड़ाई की इस प्रकार की पद्धति में सवारों का ही अधिक उपयोग हो सकता था।

मुगलों तक यह पद्धति उनके लिए विशेष उपयोगी रही, परन्तु जब अंगरेजों से लड़ाई का काम पड़ने लगा तब उन्हें पैदल की आवश्यकता मालूम होने लगी। पहले के युद्ध में उन्हें परवाने की जरूरत नहीं पड़ती थी, परन्तु यूरोपियन से सम्बन्ध होने पर तो परवाने का प्रबंध भी करना पड़ा। घुड़सवारों के दो भाग होते थे। एक का नाम खास पायगा और दूसरे का शिलेदार था। खास पायगा के सवारों के पास घोड़ा और लड़ाऊ सामान सरकारी होता था और उन्हें मासिक वेतन दिया जाता था। इन सवारों को 'वारगीर' कहते थे। शिलेदार सवार अपने निजके घोड़े रखकर नौकरी करते थे। सैनिक पेशा के शिलेदार अपनी तनख्वाह ठहरा लेते थे और बदले में सरकार को बचन देते थे कि काम पड़ने पर इतने घुड़सवार देंगे। खासगी पायगा के वारगीर सवारों

को केवल उदरपोषणार्थ ८) से १०) रु० तक मासिक वेतन मिलता था और शिलेदारों को उनके पोषण तथा घोड़े के खर्च के लिए ३५) रु० मासिक वेतन दिया जाता था। इसके सिवा जब चढ़ाई करने के लिए सेना निकलती थी तब उत्साही तरुण मराठे अपने अपने घोड़ों के साथ सेना में आ मिलते थे। प्रतिष्ठित श्रेणी के होने के कारण तथा उनका घोड़ा आदि पशु अच्छे होने के कारण उन्हें ४५) मासिक तक वेतन दिया जाता था। पिंडारी लोग प्रायः सवार ही होते थे, परन्तु उनका वेतन नियत नहीं रहता था। वे अपना निर्वाह प्रायः लूट मार पर ही करते थे। ये लोग निरे पेट भरू हुआ करते थे, इन्हें सैनिक वृत्ति का अभिमान नहीं होता था। युद्ध समाप्त होने पर इन्हें लूट करने की आज्ञा दी जाती थी और लूट में से कुछ हिस्सा इन्हें, ठहराव के अनुसार, सरकार में जमा कराना पड़ता था। परन्तु, ये लोग किसी को प्यारे नहीं थे। काम पड़ने पर वे अपने ही पक्ष का पड़ाव लूटने में नहीं हिचकिचाते थे। इसलिए होलकर प्रभृति एक दो सरदारों के सिवा दूसरे लोग इन लोगों को अपने पास नहीं रखते थे। तैयार पैदल सेना अथवा पायगा के सवार बारहों महीना नौकरी करते थे, परन्तु शिलेदार आदि की सेना समय पर एकत्रित हो जाती थी। इसके लिए कोई नियम समय का प्रतिबन्ध नहीं होता था। अधिक तो क्या, यह सेना लड़ाई पर जाते समय अपने सुभीते के अनुसार आकर रास्ते में मिला करती थी और यही दशा उसके लौटने के समय रहती थी। उसके वापस लौटने का कोई नियम नहीं था। दूर देश में सेना जाने पर अकेले दुकेले लौटना संभव नहीं होता था, परन्तु ज्योंहीं सेना लौटती त्योंही कोई आगे और कोई पीछे रह जाया करता था। यद्यपि सेना की हाजिरी नाम मात्र की ही होती थी। अपने साथ के सवार और घोड़ो की संख्या के अनुसार मनुष्य और घोड़े को गिन लेने पर हाजिरी का काम पूरा हो जाता था। समय पर यदि घोड़ा न हुआ और तोबड़ा या पायबंद हुआ तो उसे ही दिखला देने से काम चल जाता था। शिलेदार प्रभृति लोगों को लड़ाई के सिवा दूसरा सरकारी काम नहीं दिया जाता था। निठल्ले समय में वे प्रायः स्वतंत्र होते थे। सेना के सब लोगों को, बहुत से ऊंचे दर्जे के सरदारों तक को भी रात को पहरेदारी का काम करना पड़ता था। भाला, बनेठी तलवार बन्दूक आदि चलाने की शिक्षा देने के लिए कोई शाला नहीं होती थी। इसके सम्बन्ध में तो यही कहना उचित होगा कि इन बातों का ज्ञान मराठों में प्रायः स्वाभाविक ही होता था। जिस प्रकार इन शस्त्रास्त्रों के चलाने का काम प्रत्यक्ष सीखे हुओं को दिया जाता है उसी प्रकार उन मराठे सैनिकों को भी दिया जाता था, परन्तु सैनिक शिक्षाशाला और व्यवस्थित कवायद के अभाव से उनके सैनिक गुणों में जो उपयुक्तता की कमी थी वह पीछे जाकर उन्हें भी खटकने लगी थी। सेना भरती के लिए मनुष्य और घोड़ों की कमी मराठों को कमी नहीं पड़ी। शान्ति के दिनों में घास की बीड़ में घोड़ों को

छोड़ कर चराने और अच्छी जातिवंत घोड़ियां रखकर अच्छे अच्छे घोड़े पैदा करके घोड़ों की पायगा बनाने का काम शिलेदारों का होता था। उस समय सब जगह घोड़े वालों की पूछ होने से ग़रीब से लेकर श्रीमन्त तक सब को उत्तम घोड़े रखने का प्राय: शौक था। अत: महाराष्ट्र में एक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि ऐसा एक भी घर नहीं था जिसके दरवाजे पर घोड़ा न हो और एक भी ऐसा मनुष्य नहीं होता था जिसे घोड़े पर चढ़ना न आता हो। भीमा और गोदावरी नदी के तीर पर के टट्टू मजबूत और लम्बी लम्बी मन्जिलें तय करने वाले होते थे। दिखाऊ और अच्छे घोड़ों की पैदाइश महाराष्ट्र में नहीं होती थी, परन्तु इस कमी को सौदागर लोग पूरी कर देते थे। काबुली अफगानी, अर्बी, तिब्वती, काठियावाड़ी आदि अच्छी नसल के घोड़े बेचने को सौदागर लाया करते थे और प्रत्येक धनिक की पायगा में ऐसा एकाध घोड़ा अवश्य होता था।

पैदल सेना में मराठों की अपेक्षा दूसरे ही लोग प्राय: अधिक होते थे। मराठों की सेना में मुसलमान लोग न केवल विना किसी प्रतिबन्ध के भर्ती हो सकते थे बल्कि उन्हें उच्च पद भी दिये जाते थे। अंगरेजी राज्य में तोपखाने की नौकरी भारत-वासियों को भूल कर भी नहीं दी जाती थीं, परन्तु उस समय मराठों का सारा तोप-खाना मुसलमानों के अधीन था। मुसलमानों के सिवा पैदल सेना में अरब और पुरविये लोग भी बहुत थे। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिस पर से यह कहा जा सके कि दक्षिणी लोगों ने उत्तर भारत में किसी राजा की नौकरी की हो यहाँ तक कि महादजी सिन्धिया ने जब नर्मदा के उत्तर तट पर अपना निवास स्थायी कर लिया तब उन्हें भी आवश्यकता अनुसार मराठे सवार मिलना कठिन हो गया। अत: उन्हें अपनी सेना में उत्तर हिन्दुस्तान के लोगों को ही भर्ती करना पड़ा। परन्तु मराठों की नौकरी की पद्धति में बहुत बड़ा अन्तर था। मराठे लोग साधारणतया ईमानदार होते थे। वे इन लोगों के समान क्रोधी, कड़ुवे, और अविचारी नहीं होते थे, अर्थात् जहाँ खड़ी नौकरी और हुक्म के साथ तलवार चलाने का काम पड़ता वहां मराठों की अपेक्षा इन्हीं लोगों का उपयोग अधिक होता था अत: उस समय महाराष्ट्र के सरदार या धनिक साहूकार लोग शरीर संरक्षणार्थ या खजाने पर अरबी या पुरबियों को ही नौकर रखा करते थे। घरद्वार छोड़कर नौकरी के लिए दूर देश से आने के कारण तथा यहाँ कुछ घर द्वार का झगड़ा न होने के कारण उन्हें आठों पहर नौकरी के सिवा दूसरा कोई धंधा नहीं होता था, परन्तु मराठों के पीछे घर द्वार, खेती बाड़ी, गाय बैल आदि का कुछ न कुछ पचड़ा लगा रहता था। इसलिए मराठा सिपाही कितना भी ईमानदार हुआ तो उसकी नौकरी में कुछ कुछ अन्तर पड़ता ही जाता था। इसके सिवा मराठा सिपाही विचारशील और कोमल हृदय होने के कारण शत्रु को उनका भय

जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता था। परदेशी सिपाहियों को नौकरी में रखने की चाल आगे जाकर इतनी बढ़ी कि छोटे, बड़े सबकी नौकरी में मराठे सिपाही का नाम भी नहीं रहा। प्रत्येक कीमत के दरवाजे पर अरबी सिपाहियों का पहरा रहा करता था। बाजीराव के समय में नाना फडनवीस जब अपने प्राण लेकर पहाड़ को भागे तो उन्हें अरबों का ही सहारा था। बड़ौदा में तो अरबों का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उनके विद्रोह को नष्ट कर उनके चंगुल से गायकवाड़ को छुड़ाने के लिये अंग्रेजों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। गायकवाड़ सरकार को यदि ऋण लेना होता तो राज्य की आमदनी की जमानत पर कर्ज न मिलकर अरब सरदारों के केवल वचन की जामिन पर कर्ज मिल जाया करता था। इसे बहाँदरी, कहते थे। उस समय गायकवाड़ी राज्य में इस पद्धति ने एक विशेष स्थान पा लिया था। बाजीराव द्वितीय के भागने के समय, अंत में, उत्तर भारत में उनके पास जो सेना बची थी उसमें अरब लोग ही अधिक थे। उस समय बाजीराव जब अंगरेजों के अधीन न होने लगा तो इन लोगों ने अपने चढ़े हुए वेतन के कारण उसे कैद कर लिया। यदि जनरल स्मिथ ने बीच बचाव न किया होता तो वे बाजीराव के प्राण भी ले लेते। नागपुर के अप्पासाहब भोंसले को पदच्युत करने के बाद शान्ति स्थापित करते समय सेना से अरब लोगों को निकालने में बड़ी कठिनाई हुई। आज भी दक्षिण हैदराबाद में साधारण मुसलमानों की अपेक्षा सिपाहियों में अरबों की ही प्रबलता अधिक देखने में आती है। जो बात अरब लोगों की थी वही पुरबियों की भी थी। इन्हें अपने स्वामी पर उलटने में देर नहीं लगती और न इन्हें ईमानदारी से च्युत हो जाने में ही कोई भय था। उस समय गारदी सिपाहियों में पुरबिये ही अधिक थे। नारायणराव पेशवा के खून करने वालों में सुमेरसिंह, खरगसिंह गारदी सैनिकों में से ही थे। आज अंगरेज सरकार विदेशियों को ही उच्च सैनिक सेवा में भर्ती करती है यह हमारा आक्षेप है मराठाशाही में भी यह आक्षेप कुछ न कुछ अवश्य था परन्तु इन दोनों की अपेक्षा में भेद है। आज देशी मनुष्य उच्च सैनिक पद बिलकुल प्राप्त नहीं कर सकते हैं। परन्तु उस समय प्राप्त कर सकते थे। मराठे सैनिक जितने मिलते उतने भर्ती कर उनसे जो काम अच्छी तरह नहीं हो सकता था वह परदेशी लोगों को दिया जाता था। पर विदेशियों को इतना अधिक संख्या में नौकर रखना कि एक दृष्टि हानिकारक ही था।

कवायदी पैदल सेना और तोपखाने का उपयोग बड़े रूप में पहले पहल भाऊ साहब की सरदारी में हुआ। कहा जाता है कि मराठों ने पानीपत के युद्ध में अरोक्ष लड़ाई की अपनी पद्धति को पहले पहल छोड़ा और आमने सामने की छाती से छाती भिड़ाकर लड़ने की बुद्धि सदाशिव राव भाऊ की हुई। इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इस युद्ध में इब्राहीम खाँ की गारदी सेना ने बहुत काम किया। इसके बाद महादजी सिंधिया

ने इस कवायदी सेना की पद्धति को खूब यशस्वी बना दिया। मालूम होता है कि मराठों को यह सुधरी पद्धति पसन्द नहीं थी। इसीलिए कवायदी सेना में मराठों की अपेक्षा अन्य जाति के ही लोग अधिक भरती होते थे। सेना में कोई भी रहा हो परन्तु इस सुधरी हुई सेना के कारण ही महादजी सिन्धिया के पैर टिक सके और दबदबा जम गया। महादजी ने यह विद्या यूरोपियनों से ली। महादजी के उत्तर भारत में होने के कारण उन्हें कम्पनी सरकार की कवायदी सेना का प्रभाव देखने का अवसर मिला और उनके महत्वाकांक्षी होने से उन्होंने तुरन्त इस पद्धति का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। सुदैव से फ्रेन्च सिपाही और नीतिज्ञ डिवाइन का महादजी से सम्बन्ध हो गया, अत: महादजी के मन के अनुसार काम बन गया और महादजी ने केवल दश पन्द्रह वर्ष की अवधि में डिवाइन की सहायता से न केवल कवायदी सेना ही तैयार कर ली, किन्तु आगरा में एक छोटे मोटे शस्त्रों की बनाने वाला और तोपों को ढालने वाला कारखाना भी स्थापित कर दिया। बड़गांव और खर्डा के युद्धों में महादजी के तोपखाने का और कवायदी सेना का बहुत उपयोग हुआ। महादजी के बाद इस पद्धति को होलकर ने अपनाया और यशवंतराव होलकर के अंतिम दिन अर्थात् उनके पागल होने के पहले दिन तक कवायदी सेना तैयार करने और तोप ढालने का कारखाना स्थापित करने में व्यतीत हुए अंगरेजों के समान फ्रेंच सैनिक भी कवायदी हुआ करते थे। अत: दक्षिण भारत के निजाम प्रभृति की सेना में १७६३ के पहले अंगरेजों के साथ फ्रेंचों की जो स्पर्द्धा और लड़ाई चल रही थी, वह यहाँ के राजा रजवाड़ों की सहायता से ही चल रही थी। इसके बाद यद्यपि फ्रेंचों को राज्य स्थापना करने का अपना मनोरथ छोड़ना पड़ा तो भी अंगरेजों से भारतीय राजा रजवाड़ों के द्वारा बदला लेने की उनकी इंच्छा बनी ही रही, अत: अपनी निजकी कवायदी सेना रखने का समय न रहने पर वे स्वयं यहाँ के राजाओं के आश्रय में रहकर उनकी सेना को सुसंगठित और युद्ध विद्या में निपुण करने लगे। डिवाइन की सहायता से सिंधिया ने २० हजार पैदल, दस हजार नजीव (बन्दूक वाले सिपाही), ३ हजार तुर्क सवार और एक अच्छा खूब बड़ा तोपखाना तैयार किया। पेशवा के आश्रित शिलेदारों की दशा देखकर सिन्धिया ने अपने सिपाहियों का समय पर नगद तनखाह देने का प्रबन्ध किया। इन कारणों से प्राय: सम्पूर्ण मराठाशाही पर महादजी का प्रभाव जम गया। आगे जाकर सिन्धिया का सैनिक व्यय बहुत बढ़ गया था। बाजी राव को गद्दी पर बैठाने की धूमधाम के समय दक्षिण में सिन्धिया की जो सेना थी, केवल उसी पर २५ लाख रुपये मासिक खर्च होता था और मुख्यत: इसी खर्च को पूरा करने के लिए पूना के नागरिकों को निरर्थक कष्ट झेलना पड़ा यह प्रसिद्ध ही है।

घुड़सवारों की अपेक्षा पैदल सेना में खर्च कम हुआ करता था आगे जाकर

ज्यों ज्यों पैदल सेना का उपयोग अधिक होने लगा त्यों त्यों मराठों की भी बँदूकों की आवश्यकता पड़ने लगी, परन्तु उनके कारखानों में आवश्यकतानुसार बँदूकें तैयार नहीं हो सकती थी, अत: मराठों और अँग्रेजों का सम्बन्ध होने पर मराठे लोग अंग्रेजों से अन्य वस्तुओं के साथ साथ बन्दूकें भी खरीदने लगे। कम्पनी भी व्यापार दृष्टि से उनकी आवश्यकता को पूरी करके लगी। फिर कम्पनी और मराठों में युद्ध प्रारम्भ हुआ। तब कम्पनी ने इस सम्बन्ध में अपना हाथ खींच लिया और मराठों की माँग को पूरा करने में आनाकानी होने लगी। अन्त में कम्पनी ने यह नियम किया कि अपनी सेना की बन्दूकें मराठों के हाथ न बेंचकर उनकी नलियाँ तोड़कर बिलायत वापस भेज दी जाया करें। क्योंकि कम्पनी के बन्दूक के कारखाने भारत में नहीं थे, किन्तु विलायत में थे। अत: प्राय: विलायत से ही भारत को हथियार मँगाये जाते थे परन्तु कम्पनी के कितने ही अधिकारियों को यह नियम पसन्द नहीं था। वे कहते थे कि कम्पनी को बन्दूकें बेचना बन्द कर देने से आवश्यकता के कारण मराठे लोग अपने कारखाने खोलेंगे और सिंधिया ने ऐसा कारखाना स्थापित कर उदाहरण भी दिखला दिया है तथा कम्पनी के नियम करने पर चोरी से बन्दूकें बिकेंगे ही। अच्छी कीमत मिलने पर भला कौन न बेचेगा। फिर इस तरह चोरी छिपा के मार्ग से व्यक्तिगत लाभ उठाने देने का अवसर देने की अपेक्षा कम्पनी ही अधिक कीमत पर बंदूकें बेचकर लाभ क्यों न उठावें ? इसके सिवा निरूपयोगी बन्दूकें लेकर मराठे लड़ने लगे तो कम्पनी का काम बिना परिश्रम के ही सिद्ध होगा। क्योंकि कम्पनी के सिपाहियों के पास टूटी तथा निरूपयोगी बन्दूकें होगी। अत: युद्ध प्रसंग उपस्थित होने पर कम्पनी से सिपाही लंबी मार कर सकेगें और मराठे नजदीक मार करने वाली बन्दूकें होने के कारण कम्पनी के सिपाहियों पर मार न कर सकेगे तथा निरूपयोगी बन्दूकें विलायत भेजने से जहाजों का जो स्थान रुकेगा उसमें दूसरा माल जा सकेगा और मराठों के पास दूनी बन्दूकें हो जायंगी इस तरह हमारा दोहरा काम बनेगा। इसके सिवा बन्दूकें मिलने पर मराठों की दृष्टि पैदल सेना बढ़ाने पर रहेगी और इस तरह से उनकी सवार सेना कम होने लगेगी। यद्यपि मराठों की सवार सेना सुशिक्षित नहीं होती, तो भी बहुत कष्टदायक है। सवारों से लड़ने पर युद्ध आमने सामने का नहीं होता और बिना कारण बढ़ता ही जाता है। जब पैदल सेना से लड़ाई होने लगेगी तब कम्पनी की पैदल सेना के पास दूर की मार करने वाली उत्तम बन्दूकें होने के कारण कम्पनी की जय होने की अधिकार सम्भावना हैं। युरोप के राष्ट्रों में सन्धि होने पर भी हिन्दुस्थान में दूसरे राष्ट्रों से आवश्यकतानुसार बन्दूक आवेगी और टीपू सुलतान तो सदा मँगवाता ही है। दूसरे राष्ट्र भी व्यापार करने से नहीं रुकेगा। फिर इंग्लैण्ड ही अपना यह व्यापार क्यों डुबाये ? कम्पनी को हित की दृष्टि से इस युक्तिवाद में

बहुत तथ्य था। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि बन्दूकों के सम्बन्ध में मराठे प्राय: दूसरों पर ही अवलम्बित थे।

मराठों के कारखानों में बन्दूकों के सिवा थोड़ी बहुत तोपें और गोला बारूद भी बनाई जाती थी। यद्यपि बन्दूक की बारूद का मसाला उत्तम होता था तो भी उसका मिश्रण सशास्त्र न होने के कारण बारूद जैसी चाहिये वैसी उत्तम नहीं होती थीं। तोपे भी बहुत थीं, परन्तु उनकी गाड़ियाँ ढीली ढाली टेढ़े और तिरछे चक्कों की होती थी। तो गोलों के माप की न ढालकर तोपों के मुहरे के अनुसार गोले बनाये जाते थे। गोले ढाले नहीं, गढ़े जाते थे। उन्हें हथोड़ी से ठीक ठाक कर इच्छानुसार बना लेते थे। इसलिये उनमें गड्डे रह जाते थे जिससे तोपों का मुँह बहुत जल्दी खराब हो जाता था। यद्यपि फौज के साथ तोपखाना रहा करता था, परन्तु उस पर मराठों का विश्वास बहुत कम होता था। मराठे लोग बाण का भी उपयोग करते थे। बन्दूकों का उपयोग पहले सिंधिया ने किया था; मराठों के तो मुख्य शस्त्र भाला और तलवार ही थे।

मराठों की सेना का पड़ाव पड़ जाने पर उसके पास ही बाजार लग जाता था और आगे के मुकाम की डुग्गी इसी बाजार में पिटवा देने से उसकी सूचना सब सैनिकों को मिल जाया करती थी। सेना के साथ यदि स्वयं स्वामी की सवारी होती थी तो फिर बहुत वैभव बढ़ जाता था। फिर हाथी, घोड़े, पालकी, आदि बहुत प्रकार का सामान साथ में होता था। स्वामी के तथा सरदारों के तम्बू बहुत सुशोभित रहते थे। मुख्य सरदार के तम्बू के आगे द्वार पर प्रतिदिन शाम को दरबार भरता था जिसमें सब सरकारी काम व्यवस्थित रीति में किया जाता था। प्रत्येक मनुष्य भीतर प्रतिदिन सरदार से बड़ी सरलता के साथ मिल सकता था। उस समय यूरोपियन लोग, मराठों का यह सादा वैभव देखकर बहुत आश्चर्य करते थे। अभिमानी मुगलों की तुलना में मराठे बहुत ही सादे दीखते थे। शायद इसी सादगी के कारण मराठे पड़ाव उठाकर लम्बी-लम्बी लम्बी जिले पार कर सकते थे। वे न तो हवा की परवाह करते थे और न खाने पीने की। ज्वारी के भुटटे हाथ से मसलकर खाते-खाते उनकी निश्चित मंजिले पूरी हो जाती थी। साथ में यदि तोपखाना होता तो उसके सवार गाँव-गाँव से बैल लाकर तोपे खींच ले जाते थे। प्राय: बारह मील की मंजिल हुआ करती थी। मराठी सेना के साथ रसद नहीं थी। बनिये और व्यापारी बंजारे लोग अपने टाँडे और नौकरों को सेना से आगे भेजकर गाँवों से खाद्य सामग्री खरीद करते और गाँव के भाव से बाजार भरने की तैयारी करते थे। उन्हें सैनिक बाजार में सवाया मूल्य लेने की आज्ञा रहती थी।

मराठों ने कवायदी सेना की पद्धति यूरोपियनों से ली, अतः उसके साथ-साथ यूरोपियन अधिकारी भी उन्हें रखने पड़े। इन अधिकारियों की तनख्वाह बहुत ज्यादह हुआ करती थी। सिंधिया के आश्रय में रहने वाला डिवाइन तो एक जागीरदार ही बन गया था। डिवाइन के बाद सेनापति के बाद सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित होने वाले कर्नल पेनर का वेतन पाँच हजार रुपये मासिक था। एक हजार से तीन हजार मासिक वेतन तक के भी कुछ गोरे अधिकारी थे। वेतन के सिवा इनके पास और भी मिल्कियत हुआ करती थी। होलकर के यूरोपियन सेनापति और बाजीराव के गोरे अधिकारियों को तीन-तीन हजार रुपये मासिक वेतन मिलता था। निजाम के सेनापति मारेमन्ड की सेना के खर्च के लिये तीस लाख की जागीर थी। अनुमान किया जाता है कि १७६६ के लगभग सब हिन्दू और मुसलमान सरदारों के यहां करीब तीन सौ यूरोपियन नौकर थे। इनमें से सात आठ उच्च अधिकारी और लगभग आठ दूसरी श्रेणी के अधिकारी थे। शेष सार्जेंट, गोलन्दाज आदि के काम पर थे। इनमें बहुत से फ्रेन्च लोग थे और ऐसे भी बहुत लोग थे जो अँगरेज कम्पनी की सेना से भाग आये थे या जो जहाज की नौकरी छोड़कर यहीं रह गये थे। इन लोगों को तीस से ६०) रु० मासिक तक वेतन मिलता था। ये लोग प्रायः छटे हुये बदमाशों में से हुआ करते थे, परन्तु सैनिक नौकरी में ऐसे ही लोग प्रायः उपयोग में आते हैं। कवायदी सेना रखने की ओर मराठों का ध्यान जब से खिंचा तब से यूरोपियनों को नौकर रखने की प्रवृत्ति बढ़ी और किन्हीं-किन्हीं बातों में सरकार की ओर से मराठों की अपेक्षा गोरे लोगों को अधिक सुभीते मिलने लगे। इन गोरे लोगों के लिए जो माल विलायत से आता था उस पर चुङ्गी भी माफ होने लगी। दरवार में पालकी में बैठकर जाने के लिये स्वयं स्वामी के सिवा दूसरों को आज्ञा नहीं थी, परन्तु यूरोपियनों को पालकी पर बैठने की भी स्वतन्त्रता होने लगी थी। निजाम राज्य में हाथी पर पीला हौदा रखने की मुमानियत थी, परन्तु यूरोपियनों के लिए इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और गोरे लोगों का सामान लाने ले जाने के लिए बिना विरोध कर बेगार मिलने लगी थी।

कहावत है कि स्तुति का एक अनुकरण भी है। इस दृष्टि से देखने पर कहना होगा कि महादजी सिंधिया जैसे प्रबल और मराठा सेनापति ने जब यूरोपियनों की सैनिक पद्धति का अनुकरण किया और उसके लिये अपने यहाँ अधिक वेतन पर यूरोपियन अधिकारी नौकर रखे तो मानो उन्होंने यह स्वीकार किया कि यूरोपियनों में और उनकी पद्धति में स्तुति के योग्य कुछ बात अवश्य है। इसके सिवा जो मनुष्य दूसरों का अनुकरण करता है उसे जरा दबना भी पड़ता है। इसलिए सब शत्रुओं में महादजी सिंधिया ही अंग्रेजों से कुछ दबते थे। राजपूत, मुसलमान अथवा रुपयों की परवाह महादजी

ने कभी नहीं की। उनका विचार फ्रेंचों की सहायता से अपनी कमी को पूरा कर अंग्रेजों से टक्कर लेने का था। इस कार्य में उन्हें थोड़ा बहुत यश प्राप्त होने लगा था। अंग्रेजों और महादजी में पहले लड़ाइयाँ जो हुई उनमें दोनों समान बली ठहरे। अतः अंगरेजों ने महादजी के जीते जी उत्तर भारत में, उनका राज्य लेने का प्रयत्न कभी नहीं किया, परन्तु महादजी की मृत्यु के बाद उनके लिए चारों दिशाएँ खुल गई। महादजी के बाद दौलतराव सिंधिया ने पूना की सत्ता लेने के इरादे से पूना में अपना अड्डा जमा दिया और वहाँ सलाहकारों की सलाह से उसने पूना वासियों को अनेक कष्ट दिये थे। दौलतराव के प्रतिस्पर्धी होलकर भी इसी विचार से पूना गये थे और इन दोनों कारणों को बाजीराव रूपी कालमूर्ति की सहायता मिलने पर मराठाशाही को त्रिद्रोष ने घेर लिया था। इस आपत्ति के समय में भी मराठों के मुख्य सरदारों की सेना अंग्रेजों की अपेक्षा बहुत ज्यादह थी। एक अंगरेज ग्रन्थकार के अनुमान के अनुसार उस समय मराठे सरदारों की सेना इस प्रकार थी:—

	सवार	पैदल	कुल
पेशवा	४०,०००	२०,०००	६०,०००
सिंधिया	६०,०००	३०,०००	९०,०००
भोंसले (नागपुर)	५०,०००	१०,०००	६०,०००
होलकर	३०,०००	४०,०००	७०,०००
गायकवाड़	३०,०००		३०,०००
			कुल योग ३,१०,०००

इस संख्या को देखते हुए कहना पड़ता की मराठों की अपेक्षा अंग्रेजों की सेना बहुत कम थी।

अठारहवीं शताब्दी में, भारतवर्ष में, काले गारदियों के समान गोरे गारदियों का भी प्रारंभ हुआ था। हाथ में, तलवार और अंतरंग में साहस होने पर उस अशान्ति के समय में धन और यश प्राप्त करना कोई कठिन काम नहीं था। जो लोग अपना घर द्वार छोड़कर हजारों कोस से आते हैं वे प्रत्येक प्रकार का अनुभव प्राप्त करने को सदा तैयार रहते हैं। ऐसे लोगों में वे भी हैं जो निज देश से अपयश के कारण लापता हो जाते है। जिनका साथ केवल साहस ने दिया था। ऐसे बहुत से लोग काले गारदियों के समान गोरेगारदियों में भी थे। मालूम होता है कि ऐसे लोगों का प्रारम्भ दक्षिण भारत से शुरू हुआ। क्योंकि सारे भारतवर्ष में अपने यहां यूरोपियन गारदियों को रखने का सबसे पहला मान शायद हैदरअली को ही मिलेगा और उसके बाद टीपू न तो इस पद्धति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। फिर इनके पड़ोसी

निजाम ने भी यही पद्धति ग्रहण की। इन्हें देखकर सदाशिवराव भाऊ पेशवा ने भी गारदी सेना की कल्पना का अनुकरण किया। उत्तर में तो यूरोपियन और फ्रेंचों के अनुकरण से बहुत रजवाड़ों ने अपने यहाँ यूरोपियन गारद रखने की रीति शुरू कर दी थी। सिंधिया के यहाँ डिवाइन के नौकर होने के पहले गौहद के राजा ने मडो नामक एक फ्रेंच सिपाही की सहायता से कवायदी फौज की एक पलटन तैयार की थी। इस पलटन पर सेक्टर नामक एक स्काचमैन मुख्य अधिकारी और लेग नामक आयरिश दूसदे दर्जे का अधिकारी था। यद्यपि इस प्रकार अनेक लोगों ने यह नवीन पद्धति का प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु इसे पूर्णता को पहुँचा देने का मान सिंधिया को ही मिला।

डिवाइन ने यूरोप के अनेक राष्ट्रों की सैनिक नौकरी में धक्के खाये थे और फिर इस सम्बन्ध में भारत की प्रशंसा सुनकर केवल अपना नसीब आजमाने के लिए वह यहाँ आया था। कम्पनी सरकार की मद्रासी सेना की नौकरी से इस्तीफा देने पर वह वारन हेस्टिंग्ज के पास सन् १७८२ में गया। फिर हेस्टिंग्ज ने, बादशाह शाह-आलम के दरबार में मराठों का प्रवेश कितना हो गया है और अपनी अँगुली जाने की जगह है या नहीं, इसकी गुप्त जाँच करने के लिए जो वकील देहली भेजा था उसके साथ डिवाइन भी देहली गया और वहाँ से आगरा गया। अपने आस-पास बेकाम भटकने वाले अङ्गरेजों पर महादजी सिंधिया की सूक्ष्म दृष्टि रहती थी, अतः कहा जाता है कि वारन हेस्टिंग्ज के पास से आने के कारण महादजी ने डिवाइन के सामान की चोरी करवा कर उसके पत्र उड़वाये। उस समय महादजी सिंधिया और गौहद के रानों में युद्ध चल रहा था। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि महादजी के दरबार में रहने वाले अंग्रेज वकील की ही सलाह से डिवाइन ने पाँच हजार सेना तैयार करने के लिए प्रारम्भ ही में एक लाख रुपया मांगे। परन्तु राना ने यह स्वीकार नहीं किया। तब सिंधिया के दूसरे शत्रु, जयपुर के राजा के यहाँ दो हजार रुपये मासिक वेतन पर वह नियुक्त हुआ। फिर सालबाई की संधि हो जाने से उत्तर भारत में लड़ने वाले राजाओं में भी काम चलाऊ मैत्री हो गई। अतः जयपुर दरबार ने डिवाइन को दस हजार रुपये परितोषक में देकर काम से पृथक किया। डिवाइन की थोड़ी सी परीक्षा ले लेने से ही सिंधिया का मत उसके सम्बन्ध में अच्छा हो गया था। अतः जयपुर राज्य की नौकरी से छूटते ही सिंधिया ने उसे अपने यहाँ एक हजार रुपये मासिक वेतन पर नियुक्त किया और कंपनी सरकार के समान अपनी सेना तैयार कर देने का काम उसे दिया। डिवाइन ने तुरन्त ही रँगरूटों को भर्ती किया और कितने ही यूरो-पियन (स्काच, डच, फ्रेंच) लोगों को एकत्रित कर अपने हाथ के नीचे उन्हें अफसर बनाया तथा राना की नौकरी में रहने वाले अफसरों को बुलाकर उनकी सहायता से

आगरे मे तोपें और बन्दूकें बनाने का कारखाना खोला। डिवाइन की नियुक्त पहले पहल सिंधिया के सरदार अप्पा खंडेराव के हाथ के नीचे हुई। पहले तीन वर्षो में डिवाइन की सेना ने कलिंजर, लालसोट, आगरा और चकसाना के युद्ध में अच्छा पराक्रम दिखाया। इससे सिंधिया बहुत संतुष्ट हुए। जिस प्रकार कारीगर के घर में घुसने पर वह अपना काम बन्द नहीं होने देता, नया-नया काम निकालता ही जाता है उसी प्रकार डिवाइन ने भी किया। वह नवीन-नवीन सेना तैयार करने के लिए सिंधिया से कहने लगा, परन्तु सिंधिया ने यह स्वीकार नहीं किया तब डिवाइन ने इस्तीफा दे दिया। जब उत्तर भारत के जीते हुए प्रदेश की रक्षा के लिए जितने मराठा चाहिए उतने सिंधिया को नहीं मिले तब उन्हें फिर नयी सेना रखनी पड़ी और इसके लिए डिवाइन को लखनऊ से बुलाया। तब डिवाइन ने दस पैदल पलटनों का काम और तोपखाना यूरोपियन पद्धति से तैयार किया और उस पर यूरोपियन अधिकारी नियुक्त किये। इस समय सिंधिया की सेना में अनेक जातियों के यूरोपियनों की भरती थी। आगरे के किले में तोप बन्दूक आदि सैनिक सामान भरा गया। उस समय बन्दूक भी बहुत सस्ती बनती थो। केवल दस रुपयों में विलायती बन्दूक के समान बन्दूक तैयार हो जाती थी। सिपाहियों की भी नई तरह की पोशाक दी गई थी। इस नयी व्यवस्था में डिवाइन को जनरल का पद मिला था और उसका ४०००) से प्रारम्भ होकर दस हजार मासिक तक वेतन बढ़ाया गया था। कहा जाता है कि डिवाइन ने यह शर्त की थी कि हम अंग्रेजों से नहीं लडेंगे, परन्तु इस बात में संदेह है कि यह शर्त महादजी सिन्धिया ने स्वीकार की होगी सेना के व्यय के लिए सिंधिया ने पहले डिवाइन को सोलह लाख रुपयों की जागीर दी थी। फिर उसकी आमदनी बढ़ते-बढ़ते बत्तीस लाख तक पहुँच गई थी। इस जागीर की व्यवस्था करने से डिवाइन को दुहरा लाभ हुआ। जगीर की आमदनी नियमित रीति से वसूल कर सेना का वेतन समय पर चुकाने का काम डिवाइन के जिम्मे किया गया। आमदनी पर दो रुपया सैकड़ा उसे दिया जाता था। इससे वह स्वयं भी बहुत धनवान हो गया था। इस प्रकार सिन्धिया की सेना में एक ही समय में कवायदी और वे कवायदी ऐसी दो तरह की सेना हो गई थी। सन् १७६० में कवायदी सेना ने पाटन का युद्ध जीता उसमें राजपूतों के शौर्य को सिन्धिया की व्यवस्था के आगे हाथ टेकना पड़े। इसी सेना के बल पर सिन्धिया ने इस्माइलवेग का पराभव किया और इसी साधन से सिन्धिया ने मर्टा की की लड़ाई जीती। सन् १७६१ और ६३ में सिन्धिया ने और दो कैंप तैयार कराये। अंत में कवायदी सेना तीस हजार तक बढ़ गई। नई लेना के संगठन के मासिक वेतन तक के १७-१८ यूरोपियन भिन्न-भिन्न श्रेणी के अधिकारी थे और इन पर तीन हजार का लेफटीनेन्ट कर्नल, बारह सौ के वेतन का मेजर, चार सौ वेतन का

कप्तान और डेढ़ सौ दो सौ के लेफ्टनेन्ट अधिकारी थे। इन गोरे लोगों को धवल नदी के दक्षिण की ओर नौकरी पर भेजने पर ड्योढी तनख्वाह दी जाती थी। वेतन के सिवा दूसरी आमदनी पर ध्यान देने से विदित होता है कि उच्च अधिकारियों के लिए दस लाख रुपये तक संग्रह करना कोई कठिन काम नहीं था। डिवाइन तो एक प्रकार से नवाब ही बन गया था। अंतर इतना ही था कि वह विलासी नवाब न होकर सैनिक नवाब था इस कवायदी सेना की बढ़ती से दूसरी मराठी सेनाएँ मन में ईर्षा करने लगी थी। उत्तर भारत में सिन्धिया और होलकर में सिन्धिया का पक्ष कमजोर था। जब इसके द्वारा वह होलकर के बराबर हो गया तब १७९१ में प्रथम तुकोजीराव होलकर ने शेहवेलियर डूड्रेल नामक फ्रेंच सिपाही को अपने यहाँ रख कर कवायदी सेना की एक कोर तैयार करना प्रारम्भ किया। उस समय पूना दरबार में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए उत्तर भारत का सब भार डिवाइन को देखकर महादजी सिन्धिया निश्चित होकर पूना चले आये थे। होलकर भी पूना ही में थे। महादजी सिन्धिया जिस समय पूना में थे उस समय राजपूतों से खंडनी वसूल करने के सम्बन्ध में होलकर की सेना से खटपट हो जाने पर डिवाइन ने डूड्रेल के हाथ के नीचे की होलकर सेना को पराजित किया। तब होलकर को अपने राज्य की रक्षा के लिए मालवा वापस आना पड़ा। सिन्धियां की अनुपस्थिति में सिन्धिया का दिल्ली वाला अधिकार डिवाइन ही को प्राप्त था। १७९४ में महादजी की मृत्यु हुई और दौलत राव सिन्धिया का शासन प्रारम्भ हुआ। इसके पहले ही मेजर पैरन के अधीन सिन्धिया की सेना दक्षिण में आई थी और उसकी सहायता से पेशवा ने खर्डा की लड़ाई में एक खेल के समान विजय प्राप्त की थी। व्यवस्था का गुण संसर्ग जन्य होता है। सिन्धिया की यह स्थिति देखकर होलकर ने भी यूरोपियनों को नौकर रखकर बहुत सी पलटने बढ़ाई। पिलमेन्ट और गार्डनर होलकर के सरदार थे। सिन्धिया के उप सेनापतियों ने अपने अपने हाथ के नीचे यूरोपियन अधिकारी नियत किये थे। लखवा दादा ने कप्तान बटरफील्ड को नियुक्त किया और अँबाजी इंगला ने शेफर्ड और बेलासिस को। अप्पा खंडेराव के यहाँ जार्ज टामस नौकर था। दौलतराव सिन्धिया ने जानहेसिंग माइकेल फिबोश, कप्तान ब्राउन, और कर्नल सेलर को नियुक्त किया। बुन्देलखड में अलीबहादुर और बरड़ा में रघूजी भोंसले ने भी यही क्रम स्वीकार किया। यहाँ तक कि स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने यहाँ मेजर टोन और मेजर बाइड को नौकरी में रखकर अपने आश्रित सरदारों का अनुकरण किया।

बहुत से लोगों का कहना है कि मराठों ने अपनी युद्ध पद्धति छोड़ कर जो कवायदी पद्धति स्वीकार की वह उनके लिए लाभदायक नहीं हुई। एक ने कहा है कि जिस दिन मराठों ने घोड़े की सवारी छोड़ी उसी दिन उनका राज्य भी चला

गया।' कहा जाता है कि दौलतराव सिंधिया और उनके सरदार गोपालराव के बीच में दरबार में इस प्रकार का संबाद हुआ था। गोपालराव पुराने चलन का सिपाही था। उसने कहा "हमारे जिन बाप दादों ने राज्य प्राप्त किया पहले उनका घर घोड़े की पीठ पर था, फिर वह तंबू में हुआ, पर अब तुम मिट्टी की बेरक बनवा रहे हो। देखना कहीं आगे जाकर सबकी ही मिट्टी न हो जाय।" दौलतराव ने उत्तर दिया—"जब तक मेरी सेना और तोपें हैं तब तक मैं किसी से नहीं डरता।" इस पर गोपालराव ने कहा "ये तोपें ही अन्त में तुम्हारा घाव करेंगी।" विलायत की पार्लामेन्ट में सर फिलिप फ्रांसिस ने एक बार स्पष्ट रीति से यह कहा था कि "मराठे लोग अब कवायद सीखने और तोपें ढालने लगे हैं, परन्तु इसी से उनका नाश होगा। क्योंकि उन्होंने अपनी स्वदेशी पध्दति छोड़ दी है और विदेशी पध्दति कभी किसी को नहीं बदली। अब हमें उनसे डरने का कोई कारण नहीं है।" कहा जाता है कि ड्यूक आव वेलिंगृन का भी यही मत था। एक दृष्टि से यह मत ठीक भी दीखता है, क्योंकि अङ्गरेजों ने दौलत राव सिन्धियाँ का पूरा नाश केवल एक ही वर्ष में कर दिया जब कि अव्यवस्थित दुष्ट पिन्डारियों का पूरी रीति से पराभव करने में अङ्गरेजों को ७-८ वर्षों का समय लगा, फिर भी इस मत को सर्वथा ठीक भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि पिन्डारियों की अव्यवस्थित पध्दति ही ठीक मानें तो अन्त में उन्हें भी सफलता कहाँ मिली है यद्यपि मुगलों से लड़ने में मराटों को अपनी पद्धति से सलफता मिली थी, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वही पद्धति अङ्गरेजों से लड़ने में भी सफलता देती, छापा मारना अथवा दौड़कर भाग जाना यह युध्द का एक तरीका है, परन्तु इतने ही से काम पूरा नहीं होता। इसके सिवा इस प्रकार के युद्धों में आश्रय स्थान की हैसियत से किलों का जो उपयोग होता था अंग्रेजों की तोपों के कारण वह निरूपयोगी हो गया था। सन् १८१७-१८ में किलेपर से अँगरेजों के विरुद्ध बहुत समय मराठे न लड़ सके। इसका कारण अंग्रेजों की तोपें ही थीं। अतएव शत्रु के युद्ध साधनों के समान अपने तक साधन बनाने के अतिरिक्त मराठों को सफलता मिलने की संभावना नहीं थी। मराठों को जो असफलता मिली उसका कारण सेना की अव्यवस्था, नहीं थी, किन्तु मराठे सरदारों की व्यवस्था बिगड़ जाने के कारण ही उन्हें असफलता मिली। इसके सिवा पहले से यह चला आया है कि सेना चतुरंग हुआ करती है। सेना में यदि एक भाग कवायदी फौज का रखा तो इससे यह प्रयोजन नहीं है कि चपल घुड़सवारों का दूसरा भाग न रखा जाय। टीपू ने भी कवायदी सेना रखी थी, परन्तु छापा मारने की अपने पद्धति उसने नहीं छोड़ी थी। टीपू के पराभव का कारण केवल यह था कि सब के शत्रु मिलकर कर उस पर एक साथ टूट पड़े थे। सारांश यह है कि यह कहना उचित नहीं है कि कवायदी सेना और तोपखाना रखने के कारण मराठों का नाश हुआ

इन युद्ध साधनों के रखने में किसी प्रकार की भूल नहीं थी । भूल सरदारों की थी। महादजी के समय में डिवाइन का जो प्रभाव और उपयोग था वह दौलतराव के समय में नहीं रहा। १८०६ में अर्थात दौलतराव के शासन काल में टामस ब्राडन के "मराठों की छावनी से लिखे हुए पत्र" यदि कोई पढ़े तो उसे मराठों के नाश का कारण सहज रीति से समझ में आ जायगा।

मराठों की जल सेना (जहाजी बेड़ा)

बम्बई से दक्षिण की ओर कोकन प्रान्त में पेशवाई के अन्त तक अंगरेजों का शासन प्रारम्भ नहीं हुआ था। कोकण पट्टी पर पेशवाई के पहले शिवाजी महाराज का और उनसे पहले मुसलमानों का शासन था। कोकन में कभी कोई स्वतन्त्र राजा नहीं हुआ। देश के एक अथवा अनेक राजाओं की सत्ता के नीचे कोकन प्रान्त सदा से रहा है, परन्तु उसका अधिकारी अन्य प्रदेशों के अधिकारियों से अधिक स्वतंत्र हुआ करता था। क्योंकि उसे सैनिक जहाजी बेड़े का अधिकार और काम दिया जाता था, इसलिए इन कामों पर एक प्रकार से वहाँ के अधिकारियों का ही ठेका हो जाता था। सेना के समान जहाजी बेड़े का अधिकार एक व्यक्ति या घराने से ले लेना सहज नहीं है। क्योंकि सिपाही जितनी जल्दी सिखाकर तैयार किया जा सकता है उतनी जल्दी खलासी तैयार नहीं किया जा सकता। अधिकारियों के स्वतंत्र होने का दूसरा कारण यह था कि वह प्रदेश पहाड़ी और समुद्र किनारे का होने के कारण इतर प्रदेश के अधिकारियों को वश में करने की अपेक्षा वहाँ के अधिकारी को वश में करने में अधिक परिश्रम पड़ता था। तीसरा कारण यह था कि यह प्रदेश अधिक उपजाऊ नहीं था, अतः अर्थ विभाग में इसे कोई महत्व नहीं दिया जाता था। घर में टट्टी के दरवाजे का जितना प्रबन्ध हम साधारणतया रखते हैं उतना ही प्रबन्ध राजा लोग कोकण पट्टी का रखते थे। इसलिए वहां के अधिकारियों में भी महत्वाकांक्षा नहीं होती थी। स्वतंत्र रीति से रहकर सामुद्रिक लूट पाट से जो आमदनी हो उसमें संतुष्ट रहते थे। परन्तु वे अपने कार्य क्षेत्र में अवश्य बलवान् होते थे। यद्यपि उत्तर प्रदेश के समान कोकन प्रान्त के युद्धों का वर्णन देने का कोई साधन नहीं है तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं है कि समुद्र में लड़ते समय कोकन के खलासियों और सरदारों ने शौर्य और वीरता प्रकट करने में कुछ कमी की होगी। सामुद्रिक लुटेरों के साहस और धृष्टता की कथा सब देशों में बहुत चित्ताकर्षक मानी जाती है। यदि कोई सहृदय ग्रंथकार या कवि कोकन प्रान्त के वीरों का चरित्र लिखेगा तो उससे मराठी इतिहास में और भी अधिक विशेषता उत्पन्न होगी।

यद्यपि कोकण पट्टी में अंगरेजों का व्यापार सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ था, परन्तु कोकन के किनारे पर अपना जहाजी थाना बनाने का उनका विचार कभी

सफल नहीं हुआ। बम्बई के दक्षिण ओर आंग्रे, धुलप, कोल्हापुर वालों और सावंतवाड़ीवालों के समान बलवान् खलासियों ने क्रमश: सब किनोर पर अधिकार कर रखा था। इन सबों में आंग्रे बहुत प्रबल था और कोकण पट्टी की ओर समुद्र भाग से आने जाने वाले व्यापारियों को उसका बहुत भय लगा रहता था। कान्होजी आंग्रे ने अनेक जल युद्धों में अंगरेजों को पराजित कर उनके कई जहाज पकड़े और डुबोये थे। अंगरेजों ने सन् १६३८ में राजापुर में कोठी खोली परन्तु वह बहुत जल्दी ही उन्हें उठानी पड़ी। शिवाजी के इस कोठी के लूटने पर अंगरेज बहुत भयभीत हुए और जब वे शिवाजी के पराक्रम के कारण कोकणपट्टी में दिन पर दिन मुसलमानी शासन नष्ट होते देखने लगे तब इन्हें केवल सूरत को संभालने की चिंता हुई। शिवाजी की मृत्यु के पश्चातु वहां फिर मुसलमानी शासन होने लगा था, परन्तु प्रत्यक्ष शासन मुगलों की ओर से शामल हवशी और मराठों की ओर से आंग्रे धुलप का था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात कोकण पट्टीसे मुसलमान शासन सदा के लिए नष्ट हो गया। यद्यपि उस समय शिद्दी और हबशी मराठों से झगड़ते और उन्हें त्रास देते थे, परन्तु वे मुसलमानों की ओर से न झगड़कर स्वयं अपने को राजा मानकर झगड़ा करते थे। अंगरेजों को जो थोड़ा बहुत लाभ हुआ वह इस झगड़े ही से हुआ। वे बीच बीच में मराठों की सहायता से पोर्तुगीजों से और शिदी की सहायता से मराठों से लड़कर अपनी रक्षा का उपाय करते थे।

मराठी जहाजी सैनिक बेड़े की स्थापना सरकारी रीति से छत्रपति शिवाजी महाराज के समय में हुई। जब सन् १६६१ में जंजीरा पर अधिकार नहीं हुआ तब शिवाजी ने समुद्र की ओर से उसे घेरने का विचार किया। उस समय हब्शियों के पास जहाज होने के कारण वे समुद्र मार्ग से अन्न सामग्री ला सकते थे। इस मार्ग को बन्द करने के उद्देश्य से महाराज ने अपना स्वतन्त्र जहाजी बेड़ा तैयार करने की आज्ञा दी।

जहाजी बेड़ा तैयार हो जाने पर शिवाजी महाराज ने उसके द्वारा धीरे-धीरे कोकण प्रान्त के सामुद्रिक बन्दरगाहों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया और समुद्र किनारे का अच्छी तरह निरीक्षण कर मार्के के स्थान ढूँढ़ कर जंजीरे (पानी में तैयार किये गये किले) बनवाना शुरू किया। सन् १६६२ में वाड़ी के सावंतों पर महाराज ने चढ़ाई की और उनका बहुत सा प्रान्त छीन लिवा। इसी समय महाराज से सांवत के सामुद्रिक सरदार रामदलवी और नानाजी सावंत आकर मिले, जिन्हें महाराज ने अपने बेडे की जहाजी सेना का लड़ाऊ सूबेदार नियत किया। मालकन का सिंधु दुर्ग नामक किला सन् १६६४-६५ में महाराज ने बनवाना शुरू किया और उसे जहाजी बेड़े का मुख्य स्थान करना निश्चित किया, तथा कुलावा, सुवर्न दुर्ग को सुधरवा कर

वहाँ जहाज बनवाने का काम प्रारम्भ किया। ये सब किले मराठी सैनिक जहाजी बेड़े के मुख्य स्थान थे।

मराठों का जहाजी सैनिक बेड़ा तैयार हो जाने पर सन् १६६४ से कोकन किनारे पर मराठों और परदेशियों में युद्ध होना प्रारम्भ हुआ। मराठों के जहाजी बेड़े की शक्ति देखकर पोर्तुगीज, शिद्दी और अंगरेजों को भय होने लगा। १६६५ में स्वयं शिवाजी महाराज, बेड़े के साथ कारबार तक गये और वहाँ तक का समुद्र किनारा अपने अधिकार में कर लिया। कारवार के अंग्रेज व्यापारियों ने लिखा है—"कि शिवाजी की इस चढ़ाई में उनके साथ ८५ 'फ्रिगेटस' अर्थात् ३० से १५० टन तक वजन के और अन्य कई एक उच्चकोटि के छोटे बड़े जहाज थे। सन् १६७० में जब शिवा जी ने जंजीरा पर सब शक्ति इकट्ठी पर आखिरी धावा किया और शिद्दी का पराभव करने का निश्चय किया, उस समय महाराज का जहाजी बेड़ा बहुत बढ़ गया था। इसी वर्ष मराठों और पोर्तुगीजों में सामुद्रिक युद्ध हुआ जिसमें पोर्तुगीजों ने मराठों के बारह छोटे जहाज छीन लिये, परन्तु डामन के पास मराठों ने पोर्तुगीजों को पराजित किया और उनका एक बड़ा जहाज छीन लिया।

सन् १६७६ में शिवाजी ने अपने सामुद्रिक सेनापति दोलनखाँ के द्वारा खांदेरी द्वीप पर चढ़ाई कर उस द्वीप पर अधिकार कर लिया। इस द्वीप पर अंगरेजों और पोर्तुगीजों की दृष्टि थी। अतएव शिवाजी के जहाजी बेड़े को जंजीरा की ओर जाते समय इन दोनों ने रोका और बड़ी मुठभेड़ हुई। आर्म नामक इतिहासकार ने लिखा है—"कि इस समय अंगरेजों की अपेक्षा मराठों के जहाजों की रचना उत्तम थी।" शिवाजी के जहाजी बेड़े का मुख्य उद्देश्य कोकनकिनारे को जीत कर शत्रुओं से उसकी रक्षा करना थां और जंजीरा टापू छोड़कर अन्य स्थानों में यह उद्देश्य सफल भी हुआ।

सारी कोकनपटटी पर अमिकार हो जाने के बाद जहाजी बेड़े के सुभीते के लिये महाराज शिवाजी ने कुलावा, 'उंदेरी, अंजनवेल प्रभृति (पानी में के किले) बनवाये। ये किले बनवाने से उनका प्रयोजन मराठों की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाकर किनारे पर के सब नाके मजबूत करने का था। महाराज के शासन-काल में उनके बनवाये हुए किलों में से सिंधु दुर्ग किला मराठी जहाजी बेड़े का मुख्य स्थान था और मालवण के पास पदमदुर्ग नामक जो किला है वहाँ जहाज बनाने का कारखाना था। विजयदुर्ग और कुलाबे में लड़ाऊ जहाजों की तोपें और गोला बारूद की कोठी थी। समुद्र किनारे पर रहने वाले कोली, भंडारी आदि व्यवसायी खलासियों को वश में कर महाराज ने उन्हें अपनी नाविक सेना में भर्ती कर लिया था। डगलस साहब ने

लिखा हैं कि "यह अच्छा हुआ कि शिवाजी खलासी नहीं था। नहीं तो, जिस तरह शिवाजी ने पृथ्वी का पृष्ठ भाग शत्रुहीन कर दिया था, उसी प्रकार समुद्र किनारे को भी किया होता।" नैर्न साहब ने कोबून के इतिहास में वह मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि—"उस समय के समुद्र किनारे के मुसलमान या क्रिश्चियन सत्ताधिकारियों से शिवाजी में कम दर्जे की राजकीय योग्यता नहीं थी।"

जंजीरा का शिद्दी उन्मत्त हो गया था। शिवाजी महाराज के समय में मराठे इसको पराजित नहीं कर सके थे, क्योंकि इसे अंगरेजों और पोर्तुगीजों की गुप्त सहायता मिलती थी। संभाजी ने शिद्दी पर चढ़ाई कर जंजीरा हस्तगत करने का संकल्प किया, था परन्तु वे सफल न हो सके। इधर राजापुर में मराठों का जो जहाजी बेड़ा था उसने पोर्तुगीजों पर अपना अच्छा दबदबा जमाकर उनसे कारंजा आदि थाने छीन लिये थे। आर्म नामक इतिहासकार ने लिखा है कि—"मराठों का केवल राजापुर का जहाजी बेड़ा गोआ के पोर्तुगीजों से बड़ा था। संभाजी के शासनकाल में हब्शियों और अंगरेजों पर जो दो सामुद्रिक चढ़ाइयाँ की गईं, उनसे मराठों के जहाजी बेड़े का सफल प्रयोग नहीं हुआ। संभाजी के बाद जिस प्रकार धनाजी जाधव और संताजी घोरपड़े नामक महावीरों ने अपना पराक्रम दिखा कर यवन शत्रुओं से स्वदेश की रक्षा की और मराठा राज्य को विपत्ति से मुक्त किया,उसी प्रकार जिसने समुद्र किनारे पर अंगरेज, फिरंगी, डच, शिद्दी आदि स्वसत्ता स्थापन करने की महत्वाकांक्षा रखने वाले विदेशियों का दाँत खट्टे कर मराठी जहाजी बेड़े को फिर बलवान बनाया, और मराठों के सामुद्रिक युद्धों में अलौकिक शौर्य प्रगट कर सबको चकित कर दिया, उस कान्हौजी आँग्रे का नाम मराठी इतिहास से चिरकाल तक चमकता रहेगा, इससे संदेश नहीं है। यह कहने में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है कि शिवाजी के बाद कोकन किनारे पर विदेशियों के पाँव न जमने देने में जिस किसी ने वीरता की पराकाष्ठा दिखाई, है वह कान्हौजी आँग्रे थे।"

विदेशी इतिहासकारों ने कान्हौजी आँग्रे को सामुद्रिक डाकुओं के नायक के नाम से उल्लिखित किया है, परन्तु वास्तव में वह उन लोगों का नायक न होकर मराठी जहाजी वेड़े का पुनरुद्धारक था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यदि कान्हौजी आंग्रे सरीखा सामुद्रिक युद्ध विद्या विशारद, अद्वितीय पराक्रमी और अटूट साहसी पुरुष राजाराम महाराज के शासन काल में उत्पन्न न हुआ होता, तो उस समय ऐसे विकट राजीय वातावरण में समुद्र किनारे पर से मराठों का अधिकार नष्ट हो गया होता।

कान्हौजी ने मराठों के जहाजी सैनिक बेड़े का बहुत कुछ सुधार किया और उसे सुदृढ़ बना दिया। शिवाजी महाराज के शासन काल की अपेक्षा कान्हौजी के

समय का मराठी जहाजी बेड़ा अधिक प्रबल और अजेय हो गया था। क्योंकि शिवाजी को जल और स्थल दोनों प्रदेशों पर सत्ता स्थापित करना था इसलिए उनका ध्यान दोनों ओर रहता था, परन्तु कान्होजी ने केवल समुद्र किनारे को ही अपने अधिकार में लिया था। अतः उनकी सम्पूर्ण शक्ति जहाजी बेड़े के सुधार करने और उसकी वृद्धि करने में व्यय होती थी। आंग्रेज ने थोड़े ही वर्षों में मराठी जहाजी बेड़े का सुधार कर लड़ाऊ जहाजों की और सामुद्रिक सेना की संख्या बहुत बढ़ा दी। जहाजों पर लड़ने वाले लोगों को अच्छी तरह शिक्षा देकर उन्हें सामुद्रिक युद्ध कार्य के अनुकुल बना दिया। सन् १६६० से सन् १७५६ तक मराठों का जहाजी बेड़ा आंग्रे घराने के ही अधिकार में रहा।

सन् १७१६ में शिद्दी, फिरंगी और मुगलों ने मिलकर प्रबल कान्होजी आंग्रे की शक्ति तोड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु कान्होजी ने अपने जहाजी बेड़े के बल पर सबों को अपने दबाव में रखने का प्रयत्न किया और उनके अधिकार से राज्य छीनना प्रारम्भ किया। इस तरह कान्होजी ने मराठों की सत्ता और प्रभाव कोकन प्रान्त में फिर जमाया। कान्होजी ने विजय दुर्ग को अपने जहाजी बेड़े का मुख्य स्थान नियत किया और बन्दरों के किलों की तटबन्दी कर उन पर भी जहाजी बेड़े का सुदृढ़ प्रबन्ध किया। बम्बई से लेकर गोआ तक उसने एक भी खाड़ी, एक भी बन्दर और एक भी नदी के मुहाने को बिना तटबन्दी किये और जहाजी नाका बनाये नहीं छोड़ा।

अंग्रेज ग्रंथकारों ने कान्होजी के जहाजी बेड़े का जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि कान्होजी का बेड़ा बहुत बड़ा था। उसके बड़े जहाजों के दो अथवा तीन बादवान होते थे। जिन जहाजों के तीन बादवान होते थे उनकी शक्ति तीन सौ टन वजन की शक्ति के होते थी। भूमध्य समुद्र के जहाजों के समान उसके जहाजों की नोक बहुत तीखी होती थी और उस पर मंजिलें रहती थीं। सन् १७१६ में अंग्रेजी बेड़े में ३२ तोपों का एक बड़ा जहाज, २० से २८ तोपों के ४ और ५ से १२ तोपों तक के २० जहाज थे। ठीक इसी समय कान्होजी के बेड़े में केवल १६ से ३० तोपों के दस और ४ से १० तोपों के ५० जहाज थे। तब भी कान्होजी ने १७१६ में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के प्रेसीडेन्ट नामक जहाज से लड़कर उस जहाज को नष्ट कर दिया और १७१७ में सक्सेस नामक जहाज लड़कर छीन लिया। सन् १७२२ में अंग्रेज और पौर्तुगीजों ने मिलकर कुलाबा पर चढ़ाई की, परन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर दो वर्ष बाद डच लोगों के ३० से ५० तोपों वाले ७ प्रचन्ड जहाजों ने विजयदुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु वे भी छिन्न-भिन्न होकर लौट गये। इस तरह अंगरेजों के जहाजी बेड़े की शक्ति का प्रभाव विदेशियों पर अच्छा जम गया।

अत: उनके एक भी व्यापारी जहाज का लड़ाऊ जहाज की सहायता के बिना आना जाना बन्द हो गया। लो नामक इतिहासकार ने लिखा है—"कि जिस प्रकार भूमध्य सागर में अल्जेराइन्स नामक डाकू का नाम सुनते ही व्यापारी थर थर कांप उठते थे, उसी प्रकार सामुद्रिक शक्ति सम्पन्न इस मराठावीर का नाम सुनकर अंग्रेज व्यापारियों के होश उड़ जाते थे। फिर जब सन् १७२७-२८ में आंग्रे ने अंगरेजों के दो जहाज नष्ट कर अंग्रेजों की हानि की तब उन्होंने बाड़ी के सावंतों से संधि कर उनसे सहायता लेने का निश्चय किया। क्योंकि बाड़ी के सावंत भी आँग्रे के समान सामुद्रिक युद्ध में समर्थ थे। सन् १७२९ में कान्होजी की मृत्यु हो गयी। इसके पहले बम्बई के अंगरेज गवर्नर ने कान्होजी से मैत्री कर अपना काम बनाने की इच्छा से कान्होजी की दिलजमई करने का प्रयत्न किया, परन्तु उस समय कान्होजी ने जो उत्तर दिया उससे विदित होता है कि वह (गवर्नर) बहुत बड़ा व्यवहार-पटु और धूर्त था। बम्बई के गवर्नर ने लिखा था कि—"हमारी तुम्हारी अनबन का कारण केवल तुम हो। तुम जो दूसरे का माल लेना चाहते हो सो यह काम विचार शून्यता का है। इस प्रकार का अपराध एक प्रकार का डाकूपन है। तुम्हारा इस प्रकार का व्यवहार बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। तुमने यदि पहले से ही यह कार्य बढ़ाया होता और व्यापारियों पर कृपा रखी होती तो आज तुम्हारे अधिकार के बन्दरों की बहुत उन्नति हुई होती और सूरत बन्दर से भी अधिक उन्नति तुम कर जाते। साथ ही तुम्हारी कीर्ति भी सर्वत्र फैल गई होतीं। ये बातें सरल रीति से व्यापार वृद्धि किये बिना नहीं होती।" इसके लिखने के बाद फिर सन्धि करने के सम्बन्ध में गवर्नर ने जो पत्र लिखा था, उसका उत्तर कान्होजी ने बड़ी चतुराई के साथ दिया था। कान्होजी ने लिखा था कि "तुम्हारा लिखना प्रशंसनीय है। तुमने लिखा कि आज तक के तुम्हारे और हमारे बीच के भेदभाव और झगड़े का कारण मैं हूँ, परन्तु तुमने दोनों पक्षों का विचार नहीं किया। यदि किया होता तो तुम्हें सत्य बात मालूम हो गयी होती। तुम मुझपर दूसरे की संपतिहरण आरोपित करते हो, परन्तु मैं नहीं समझता कि तुम जैसे व्यापारी इस प्रकार की महात्वाकांक्षा से अलिप्त हों, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् का मार्ग एक ही है। ईश्वर स्वयं किसी को कुछ नहीं देता। एक की संपत्ति दूसरे को मिलना ही जगत् का नियम है, तुम जैसे व्यापारियों को यह कहना शोभा नहीं देता कि हमारा राज्य अत्याचार, बलात्कार और डाकूपन से चल रहा है। शिवाजी महाराज ने चार बादशाहतों से लड़कर अपने पराक्रम के बल पर स्वराज्य की स्थापना की थी, और तभी से हमारी सत्ता का प्रारम्भ हुआ, और इसी साधन द्वारा हमारा राज्य टिका हुआ हैं, यह तुम जानते ही हो। इसका विचार तुम्हीं करो कि यह स्थायी है या क्षणिक। जगत् में स्थायी कुछ भी नहीं हुआ है। जगत् का यह क्रम सर्व विदित है।"

कान्होजी आंग्रे की मृत्यु के पश्चात आँग्रे घराने में गृहकलह का बीजारोपण हुआ। अतः कोकण-किनारे पर अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा रखनेवाले विदेशी लोगों को अपना मतलब साधने का मौका अनायास ही मिल गया। कान्होजी के दो पुत्र मानाजी और संभाजी में परस्पर झगड़ा होकर लड़ाइयाँ होने लगीं। इन लड़ाइयों में निजी उत्कर्ष और स्वार्थ के सिवा राष्ट्र-हित की उदार और उच्च कल्पना का नाम भी नहीं था। इनके पारस्परिक झगड़े पेशवा को रोकना चाहिए थे, परन्तु वहाँ भी स्वार्थ बुद्धि का ही निवास था अतः राष्ट्र कल्याण की भावना ताक में रख कर स्वयं पेशवा ने आंग्रे के प्रदेश जीतने का काम प्रारम्भ कर दिया।

यद्यपि इनमें और आँग्रे में परस्पर झगड़ा चल रहा था, तो भी उनके, जहाजो बेड़े का विदेशियों पर अच्छा दबदबा था। मानाजी ने अंगरेज और हब्शियों के जहाजी बेड़े से अनेक बार युद्ध किया था और एक बार वह खास बम्बई किनारे पर अपना जहाजी बेड़ा ले आया था। संभाजी ने भी अंग्रेजी, फिरंगी और दूसरे शत्रुओं से अनेक बार सामुद्रिक युद्धकर उन्हें हानि पहुँचायी थी। इनके पहले मराठी जहाजी बेड़े में तीन सौ टन तक के जहाज थे। परन्तु सम्भाजी ने बढ़ाकर चार सौ टन तक के कर दिये। उसके चार चार सौ टन तक के आठ जहाज थे। १७४२ में उसकी भी मृत्यु हो गई। तब उसका भाई तुला जी सुवर्ण दुर्ग के जहाजी बेड़े का अधिपति हुआ। इसने समुद्र में एक प्रकार से प्रलय-काल उपस्थित किया और अंग्रेजों को बहुत कष्ट पहुँचाया तथा पेशवा से भी विरोध कर लिया। तब सबने मिलकर विजय दुर्ग पर चढ़ाई की और सन् १७५५ में उसका और उसके जहाजी बेड़े का नाश कर समुद्र पर से आंग्रे की सत्ता उठा दी।

डगलस साहब ने कान्होजी आँग्रे और उसके वँशजों का जो वर्णन लिखा है ' उसमें उन्होंने मुक्तकंठ से यह स्वीकार किया है कि 'हिन्द महासागर में तीनों यूरोपियन राष्ट्रों (अंग्रेज, फिरंगी, वलदेज) को पराक्रम के कार्य में आंग्रे ने नीचा दिखा दिया। कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सका।''

१७५६ में तुलाजी आंग्रे कैद हुआ, पेशवा ने उसके जहाजों में से जितने जहाज हाथ लगे उन्हें अपने उपयोग में लिये और विजयदुर्ग को ही मराठों के जहाजी बेड़े का स्थान बनाया क्योंकि विजयदुर्ग का पानी में बना हुआ जजीरा किला बहुत ही मजबूत और जहाजी बेड़े के योग्य स्थान था। उसकी नैसर्गिक रचना और वहाँ मराठों द्वारा आरम्भ किये हुये अनेक कार्यों के सम्बन्ध से उस स्थान को बहुत महत्व प्राप्त हो गया।

विजयदुर्ग के जहाजी बेड़े में अनुमानतः दो से तीन हजार तक सेना थी। जो सबसे बड़ा 'फतहजंग' जहाज था उस पर २२६ सैनिक १६ गोलंदाज, १३२ खलासी

ऐसे कुल मिलाकर ३७४ लोग थे। सबसे छोटा जहाज 'बावड़ी' नामक था जिस पर केवल १५ मनुष्य थे। लड़ाऊ जहाज पर युद्ध सामग्री खूब रहती थी। ई० सन् १७८३ से १७८६ तक मराठों के जहाजी वेड़े में सब मिलाकर छोटी बड़ी करीब २७५ तोपें थीं। उस समय नारायापाल नामक एक बड़ा तिकोना जहाज था, जिस पर २८ तोपें और ४ जंबूरे इस प्रकार ३२ नग थे।

विजयदुर्ग के जहाजी वेड़े पर एक मुख्य अधिकारी होता था, जिसे 'जहाजी वेड़े' के सूबेदार' कहते थे। इस बेड़े के अधिकारियों से आनन्दराय धुलप नामक अधिकारी ने सामुद्रिक युद्धों में बहुत नाम कमाया था। उसने और इसके भाइयों ने युद्धों में बहुत शौर्य और प्रकट किया था। सन् १७८३ में अंगरेजी जहाजी वेड़ा और धुलप के जहाजी वेड़े में जो युद्ध हुआ उससे दोनों ओर के वीरों ने अपना रण कौशल दिखाया था। उस समय के एक पत्र का अनुवाद यहाँ देने से उस समय के मराठी जहाजी बेड़े का वास्तविक स्वरूप पाठक सहज में समझ सकेंगे। यहाँ जिस पत्र का अनुवाद दिया जाबा है वह पत्र पेशवा सरकार को भेंजे हुये आनन्दराय धुलप के उस पत्र का उत्तर है जिसमें धुलूप ने उक्त युद्ध का वर्णन पेशवा को लिखकर भेजा था।

"राजश्री आनन्दराव धुलुप, सूबेदार, जहाजी वेड़ा, किला विजयदुर्ग।

"अखंडित लक्ष्मी अलंकृत राजमान्य स्नेहांकित माधवराव नारायण प्रधान का आशीर्वाद पहुँचे। यहाँ कुशल है। तुम अपनी कुशल लिखते रहना। विशेष समाचार यह है कि तुम्हारा चंद्र (छ) जमा दिलावल का पत्र मिला जिसमें तुमने लिखा कि "अंग्रेजों के जहाज मय चार सौ गोरे गोलंदाज तथा सात कौसिलरों के, विलायत से आकर हैदर नायक के राज्य का प्रबन्ध करने के लिए जलमार्ग से जा रहे थे, सौ उनकी और हमारी (आनन्दराव धुलप की) मुठभेड़ रत्नागिरी में चंद्र १ जमा दिलावल को सुबह के समय हुई और तोपखाने की लड़ाई प्रारम्भ की गई वह शाम के एक पहर दिन बाकी रहने तक जारी रही, परन्तु जब देखा कि अंग्रेजों के जहाज वश नहीं होते तब सब लोगों ने एक जी होकर और स्वामी (पेशवा) के चरणों का स्मरण कर बिना सोचे विचारे उनके जहाजों से अपने जहाज भिड़ा दिये। इस तरह जब हाथ से हाथ मिलाया, तब फिर कौन किस को मारता है इसका होश नही रहा। एक पहर तक इस प्रकार मारा मारी होती रही। स्वामी का पुन्य बलवान था। अतः अन्त में अंगरेजों के जहाज अधिकार में आये। इस लड़ाई में हमारी ओर के बड़े आदमियों में से आठ सरदार मारे गये, पन्द्रह सौ आदमी जख्मी हुए और नौ सौ अन्य सैनिक मारे गये। अंगरेजों की ओर के करीब दो हजार सैनिक और एक मुख्य अधिकारी मारे गये।

तथा पाँच छह सौ सैनिक जख्मी हुये । शत्रु के सम्पूर्ण जहाजी बेड़े को कौंसिल के साथ विजयदुर्ग के जञ्जीरे में कैद कर रखा है । न्याय करने वाले स्वामी हैं ।"

तुम्हारे यह विस्तार पूर्वक लिखे हुये समाचार विदित हुये ।

पत्र का उत्तर:—"पहले, आंग्रे का राज्य हमारे पूर्वजों ने लिया और उस पर तुम्हारे पूर्वजों को अधिकारी नियत किया । उस समय अठारह टोपी वालों पर तुम्हारे पूर्वजों को अधिकार था । अतः तुम्हारे पिता को नियत किया । तुम्हारा यह वीरत्व देखकर कहना पड़ता है कि तुमने अपने पूर्वजों का सार्थक किया है । अंगरेज अपने आप को सिपाही बतलाते हैं । ऐसे सिपाहियों के साथ उनके अफसर और बड़ा जहाजी बेड़ा होते हुये भी अपने प्राणों का मोह त्याग कर बिना कुछ सोचे-विचारे जो तुमने उनसे टक्कर ली उसके लिये हम तुम्हें और तुम्हारे आदमियों को धन्यवाद देते हैं । तुम जो महाराजा की सेवा करने के लिए इस प्रकार बड़े-बड़े काम करने की इच्छा करते हो उसी में तुम्हारी प्रतिष्ठा है । जो आठ सरदार मारे गये हैं उनके स्थान पर उनके पुत्रों की नियुक्ति की जायगी । जिसके पुत्र नहीं होगा उनकी सरदारी दत्तक पुत्र द्वारा जारी रखी जायेगी । बाकी के लोगों के स्थान पर उनके पुत्रों को नियत करो । जिनके पुत्र न हो उनके घर वालों को परवरिश की जायेगी । तुम अपनी इच्छा के अनुसार जिसे जो इनाम देना उचित समझो उसकी एक फेहरिस्त बनाकर भेज दो । उसपर विचार कर आज्ञा दी जायेगी । अपनी ओर के जो जख्मी सैनिक है उनके लिए जो खर्च हो वह करो और तुम स्वयं उनका प्रबन्ध करो तथा जो कुछ करना उचित हो वह करो । अंगरेजों के जख्मी सैनिकों पर साधारण खर्च करना । तुम्हारे लिए खासगी की ओर से बहुमान की पोशाक, सिरपेंच तथा मोतियों की कंठी और कड़े भेजे हैं सो लेना । अंग्रेजों की ओर से वकील यहाँ आया है । परन्तु उससे सन्धि पूछकर की जायेगी । तुमने यह काम बहुत बड़ा किया, इसलिए सरकार तुम पर बहुत प्रसन्न है । सरकारी राज्य में तुम जैसे अधिकारी हैं यह जानकर सन्तोष हुआ । यह पत्र रवाना किया गया चन्द्र १३ जमादि लावल को । अधिक क्या ? आशीर्वाद (मुहर) ।"

धुलप के समान विचारे, सुर्वे, कुवेसकर, जावकर, आदि अनेक सरदार सामुद्रिक युद्धकला मे नामाँकित हुए हैं और उन्होंने बहुत शौर्य प्रकट किया है । पेशवा की ओर से जहाजी बेड़े के विभाग में दीवान, फर्दनवीस, मजमूदार, हशमनीस, आदि जागीरदार नियुक्त कर दिये गये थे । उन सबका खर्च ठहरा हुआ था । नवीन जहाज बनवाने में दस से चालीस हजार रुपयों तक खर्च पड़ता था और सुधराई में पाँच से दस हजार रुपये तक होते थे । रत्नागिरी और अंजनवेल में सरकारी और प्रजाकीय गोदियाँ भी थीं । मराठों के जहाजी बेड़े का डेढ़ से दो लाख रुपये वार्षिक होता था ।

जहाजी बेड़े के खर्च के लिये एक सोंदल का नाम परगना ही पृथक कर दिया था। इसके सिवा सरकार के यहाँ से नगद रुपये भी दिये जाते थे। विदेशी व्यापारी जहाजों से जकात ली जाती थी और जो जहाज व्यापार करने को जाते उन्हें हर तरह की चीजें हर जगह से भरने के लिये एक परवाना दिया जाता था। इस परवाने पर कुछ कर देना पड़ना था। प्रत्येक जहाज से सरकार को साढ़े चार रुपया मिला करते थे। आमदनी का एक और भी मार्ग था। अर्थात परराष्ट्र का जो जहाज बिना सरकारी आज्ञा के व्यापार के लिये अथवा राजकीय हेतु से मराठों के राज्य में आता और लड़ने को उद्यत होता, उससे लड़कर उसे और उसके माल को लेते थे। इससे आमदनी बहुत होती थी और इस आमदनी का नाम पैदाइश था। यह पैदाइश कभी-कभी पचास हजार तक पहुँच जाती थी। व्यापार करने वाले स्वदेशियों में विशेष कर भाटिया, सारस्वत ब्राह्मण और मुसलमान ही अधिक थे।

मराठों के जहाजी बेड़े पर मालवी (होकायंत्र), वालुकायंत्र और दूरबीन भी आदि होते थे। उस समय विद्युतप्रकाश का काम चन्द्र ज्योति (बरगद) की सहायता से लिया जाता था। चिन्हों के लिए जहाजी ध्वजाएं भिन्न-भिन्न रंग की हुआ करती थी। आजकल जिस तरह जहाज के आवागमन की सूचना के लिये भाप के द्वारा कर्कश सीटी बजाई जाती है, उस समय भी यह काम सींग तथा तुरई के उच्च-स्वर द्वारा लिया जाता था।

———

नवाँ अध्याय

मराठा राज्य की विभागीय व्यवस्था

यद्यपि राजकीय दृष्टि से सैनिक शक्ति का महत्व मुख्य है तो भी राज्य-व्यवस्था का महत्व उससे कम नहीं है। पराक्रम एक दिन का होता है परन्तु राज्य-व्यवस्था सदा के लिए होती है। इसलिए राष्ट्र के बड़प्पन, स्थायीभाव और नैतिक गुणों की परीक्षा राज्य-व्यवस्था से ही की जा सकती है। राज्य-संचालन करने और राज्य चलाने के गुणों की जोड़ी यदि नहीं मिलती तो फिर राज्य का टिकना कठिन हो जाता है और प्रजा असन्तुष्ट हो जाती है, किसी तरह का प्रबन्ध ठीक नहीं होता और एक दिन में प्राप्त किया हुआ राज्य, चार दिनों में ही क्यों न हो, पर अन्त में, वह अवश्य हाथ से निकल जाता है। यद्यपि राज्य की प्राप्ति तलवार के बल पर की जा सकती है, परन्तु राज्य की आमदनी वसूल करने में तलवार का उपयोग नहीं होता। उसके लिये योग्य व्यवस्था ही आवश्यक होती है। राज्य-संचालन करने वाला राजा केवल अपने ही लिये राज्य का संचालन नहीं करता, किन्तु अपनी प्रजा और समाज के लिए करता है, इसलिये समाज राज्य का उपयोग हो अथवा उपभोग राज्य-संस्था के द्वारा ही करती है। शूर-वीर होने के कारण शिवाजी की जो योग्यता मानी जाती है उससे भी कुछ अधिक योग्यता सुराज्य राज्य-संस्था की सुन्दर व्यवस्था स्थापित करने के बाद उसे नियमानुकुल चलाने का काम बहुत चातुर्य और उत्तरदायित्व का था। इस कार्य में क्षत्रियों के अपेक्षा जिनका विशेष अधिकार था और परम्परागत शिक्षा के कारण जो विशेष चतुर थे, ऐसे ब्राम्हणों और कायस्थों की आवश्यकता थी। महाराजा शिवाजी को ऐसे लोग मिल भी गये थे। इस तरह तलवार और लेखनी का योग हो जाने से शिवाजी महाराज के राज्य को सुव्यवस्थित रूप प्राप्त हो सका और वह सौ दो सौ वर्षों तक टिका रहा। आगे चलकर मराठों के सैनिक गुण और ब्राम्हण तथा कायस्थों के व्यवस्था करने के गुणों में शिथिलता आ गई थी ओँर इन दोनों गुणों की न्यूनता का कारण स्वार्थपरायणता थी। उधर मराठों से भी अधिक व्यवस्था से काम करने वाले और सैनिक शक्ति सम्पन्न अंग्रेजों से मराठों की मुठभेड़ हुई, अतः मराठों का राज्य नष्ट हो गया। परन्तु राज्य नष्ट के पहले अपने राज्य को चलाने में उन्होंने जो चातुर्य प्रगट किया था उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। मनुष्य मृत्यु के वश होने के कारण कभी न कभी रोग की प्रबलता होने से मरेगा ही, परन्तु इससे यह नहीं

कहा जा सकता कि वह मृत्यु के पहले कभी तेजस्वी, शक्ति सम्पन्न और हट्टा-कट्टा न रहा होगा। यद्यपि हम इस प्रस्ताव के द्वारा मराठाशाही का शतसांवत्सरिक श्राद्ध कर रहे हैं और स्वीकार करते हैं कि पुरानी मराठाशाही नष्ट हो गई है, पर हाथ से पिंड दान कर तिलांजलि देते हुए भी जिसे वह अंजली दी जाती है वह व्यक्ति भूतकाल में जीवित था और उसमें अमुक-अमुक गुण थे ऐसा कहने से पिंड दान करने वाले के द्वारा जिस तरह किसी प्रकार की असंगतता नहीं होती उसी तरह हमारे द्वारा भी मराठों की राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी चातुर्य प्रगट करने में कोई असँगतता नहीं मानी जा सकती। सर अल्फ्रेड लायल कहते हैं कि—"भले ही मराठी सेना लुटेरू रही हो और मराठे सरदार भी उद्दण्ड और अशिक्षित रहे हों, परन्तु उनकी मुल्की व्यवस्था और आमदनी का काम ब्राह्मण के द्वारा होता था। उस समय ये ब्राम्हण लोग अन्य सब लोगों से अधिक चतुर और कर्त्तव्यपरायण थे।"

मराठों का राजकीय विस्तार।

शिवाजी के समय की अपेक्षा दूसरे बाजीराव के समय में मराठी राज्य का विस्तार बहुत अधिक था। शिवाजी के अधिकार में नीचे लिखे हुए प्रदेश थे—

१. मावल प्रान्त और उसके १८ किले।

२ वाई सतारा प्रान्त और उसके १५ किले।

३. पन्हाला प्रान्त और १३ किले।

४. दक्षिण कोकन प्रान्त और ५८ किले।

५. थाना प्रान्त और १३ किले।

६. त्र्यंबक तथा बागलाण प्रान्त और ६२ किले।

७. बनगड़ उर्फ धारवाड़ प्रान्त और २२ किले।

८. बिदनूर प्रान्त।

९. कोल्हापुर प्रान्त।

१०. श्रीरंगपट्टम और १८ किले।

११. कर्नाटक प्रान्त और १८ किले।

१२ वेलोर प्रान्त और २५ किले।

१३. तंजोर प्रान्त और ६ किले।

इस सूची से यह प्रगट होता है कि शिवाजी का राज्य उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक फैला हुआ था। उनके राज्य की पश्चिम सीमा में अरब समुद्र, उत्तर सीमा में गोदावरी, पूर्व सीमा में भीमा नदी और दक्षिण सीमा में कावेरी थी। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि शिवाजी के बाद दक्षिण की ओर मराठा का

राज्य बढ़ने नहीं पाया, किन्तु हैदरअली, टीपू और अँग्रेजों के दक्षिण में प्रबल होने से उन्हें कुछ हटना ही पड़ा, परन्तु उत्तर और पूर्व की ओर उनका राज्य बढ़ा। उत्तर में उनका राज्य पंजाब तक हो गया और पूर्व में नीचे की ओर निजाम राज्य के कारण यद्यपि उनका राज्य न बढ़ सका, पर ऊपर की ओर बङ्गाल तक और पश्चिम में राजपूताना तक बढ़ा।

मराठों के हाथ से अंगरेजों के हाथ में दिल्ली के चले जाने तक बादशाही राज्य और मराठा राज्य, एक प्रकार से मिल सा गया था, स्वराज्य का प्रदेश, सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार का प्रदेश, केवल खंडनी कर वसूल करने का प्रदेश और घास दाना वसूल करने का प्रदेश जिसे विनोदीभाषा में घोड़े दौड़ाकर लूटने का प्रदेश, कह सकते हैं—इस प्रकार अनेक प्रकार से मराठों का उत्तर की ओर बहुत राज्य बढ़ गया था तथा बादशाह के गुमाश्ते, सेनापति अथवा तहसीलदार के नाते से उत्तर हिन्दुस्तान के अनेक रजवाड़ों से मराठों का राजकीय सम्बन्ध बहुत कुछ हो गया था। बादशाही और मराठी राज्य की एक फहरिस्त मिली है जो नीचे दी जाती है।

छोटे महाराज के समय में एक कागज पर "दक्षिण और उत्तर भारत के सूबों का वृक्ष बनाया गया था। वह कागज मिलने पर "भारतवर्ष" में प्रकाशित किया गया था। उस पर से नीचे लिखा वर्णन यहाँ दिया जाता है।

	जमाबन्दी
दक्षिण के सूबे ६	१८,२६,१८,६६५।)।।।
उत्तर भारत के सूबे १५	३२,४६,१६,०६३।।। ≡)

इनमें के दक्षिण के सूबों का विवरण इस प्रकार है :—

सूबा बीजापुर	७,८२,८३,६२६।।)।
सूबा तेलंगाना	७५,६५,८६८)
सूबा औरंगाबाद	१,२०,६६,६५६।।।)
सूबा बुरहानपुर	५८,०८,१५६।।।)
सूबा बरार	१,३०,५३,४८६।)।।
सूबा हैदराबाद	६,६१,१०,५३१।।।)।।
कुल	१८,२६,१८,६६५।)।।।

उत्तर भारत के सूबों का विवरण

सूबा सरकार	महाल	दिहात	जमाबंदी
अकबराबाद (१२)	२४४	३१,८००	२,७१,००,१८३
शहालयाबाद (१२)	२८१	४०,५८८	३,१०,१२,१५४

इलाहाबाद (८)	२१७	७,६०५	१०,६०,६०,६७१
हलालाबाद (१७०)	२६६	४७,६०७	१८,७०,४६८
पंजाब (५)	३५८	२७,७६१	१८७०,४६८
अयोध्या (५)	१५०	५२,६६१	६२,२५,५६१
मुलतान (४)	१०३	५,२५६	२४;७५,३४६॥। ≡)।
काशमीर (०)	५३	५,६५२	३५,२,४५६
अंतर्वेद (०)	४८	१,३१६	३,७४,२०१
ठठा (४)	५६	१,३२३	२३,६५,३६७
बिहार (०)	२५०	५५,६७६	६३,३५,५५१
मालवा (११)	२६२	१८,६७८	८४,७२२६६
बङ्गाल (३४)	३५०	५०,७८८	८,६१,६२,४६०
उड़ीसा (४६)	१,०११	१३०,७८०	१,६५,५८,८५६
गुजरात (१०)	२१६	१०,३७०	८६,६२,८०३

सब मिलकर १५ सूबे, २७४ सरकार, ३,८७१ महाल, ४,६०,७६१ देहात और जमाबन्दी के रुपये ३२,७६,१७,०६३॥) थे। सब मिलाकर दक्षिण—उत्तर के सूबे २१ और जमाबन्दी की आमदनी ५०,७३,३५,०२६ रु० पौने चार आना थी।

काव्येतिहास संग्रह में बादशाही राज्य की आमदनी की एक सूची प्रकाशित हुई है, उसका सारांश इस प्रकार है :—

राज्य	सरकार	परगने या महाल	जमाबन्दी		
			करोड़	लाख	हजार
शाहजहाँबाद (दिल्ली)		२२६	२	८६	५८
अकबराबाद (आगरा)	१४	२६८	२	४५	४६
अजमेर (मारवाड़)	७	१२३	१	३७	५६
इलाहाबाद	१६	२४७	०	६४	०
पठण	८	२४०	०	६५	१८
अयोध्या	५	१२७	०	६६	१३
उड़ीसा (जगन्नाथ)	१५	१३२	१	६	६२
ढाका (बङ्गाल)	७	१०६	१	१५	७२
अहमदाबाद (गुजरात)	६	८८	१	४५	२४
ठठा (सिंध)	४	५७	०	२५	७४
मुलतान	३	८६	०	६१	१६

लाहौर	५	३१६	२	२३	३४
काश्मीर	०	४६	०	३१	५७
काबुल	८	९६	०	३१	६३
उज्जैन (मालवा)	१२	३०३	१	६२	२६
केदार	०	५०	०	३८	६५
औरंगाबाद	१२	१३६	१	२७	४३
बुरहानपुर	६	१३६	०	५७	४
वेदर	१२	१३६	०	७५	४
एलिचपुर (बरार)	५	६१	१	१२	५०
बीजापुर	१८	२८१	४	६६	७६
हैदराबाद	४२	४०५	५	७७	३६
		कुल	३०	१०	९

इसकी बांटनी इस प्रकार की गई थी :—

राव प्रान्त (पेशवा) को	१२	४२	२०
नवाबअली निजाम बहादुर को	३	४६	७३
अंग्रेज बहादुर को	१२	३५	७
आबदाली को	१	६३	१
सिक्ख आदि को	३	१०	३४

इस सूची के शीर्षांक में इस प्रकार वर्णन दिया गया है :—

"यह याददाश्त औरंगजेब बादशाह के शासन-काल की बादशाही हिन्दुस्तान की जमाबन्दी की है। इसे (सन् १८०३ ई०) में पूने पर चढ़ाई करने के समय कम्पनी सरकार की ओर से जनरल वेल्जली बहादुर ने बनाई।"

इस सूची में राव पंडित प्रधान (पेशवा के हिस्से का विवरण नीचे लिखे अनुसार दिया गया है—

सरकार	८ करोड़	७२ लाख	२९ हजार
निसबत (बाबत)	३ करोड़	६९ लाख	९१ हजार
कुल जोड़	१२ करोड़	४२ लाख	२० हजार

इस सूची में अंग्रेजों की आमदनी का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

	करोड़	लाख	हजार
खालसा	९	४१	२१

निसवत	२	६४	२७
नबाब कासम अली बङ्गाल द्वारा	३	२	३५
सूरत के नबाब से	०	४१	०
औरङ्गाबाद सूबा, बम्बई साष्टी प्रभृति परगने की आमदनी	०	४६	०
नबाबअलीखाँ से पहले से चला आया	१	८१	६६
टीपू सुल्तान से लिया	२	२४	१२
नबाब निजामअली खाँ ने दिया	१	२०	२
पहली बार	०	४२	८
दूसरी बार	१	७७	६३
चांदोर के राजा से अब जो कम्पनी के अधिकार में है	०	६६	५६
सुजाउद्दौला बहादुर	१	५६	८६
नंजनार्ड किरीट राजा	०	६२	०
अन्य संस्थानिक	०	४२	७१
झिमानशा अब्दाली	१	६३	०
गुलामशाह शिद्दी	०	२३	७४
सिक्ख [लाहौर]	०	६३	३४
नेपाल, गोरखा आदि	१	०	०
सावन्तवाड़ी श्री वर्धन	१	०	०
हबशी	०	५	२६
कुल जोड़	३३	१०	६

ऊपर के अंकों के विश्वास योग्य होने में संदेह ही है परन्तु इन्हें ऐतिहासिक पत्रों में मिली हुई मनोरंजक तालिकाएं मानने में तो किसी प्रकार की हानि नहीं है।

१७७४ में पेशवाई के गृहकलह में अंगरेजों का प्रवेश और यहीं से दोनों के भावी युद्ध का बीजारोपण हुआ। इसके एक वर्ष पहले ही (१७७३) में पार्लमेन्ट ने रेग्युलेशन एक्ट पासकर सम्पूर्ण अंग्रेजी भारत को एक गवर्नर जनरल की सत्ता के अधीन कर दिया था। जिससे राज्यकार्य अच्छी तरह व्यवस्थित रीति से हो गया था। १७७४ में कंपनी सरकार की आमदनी इस प्रकार थी:—

	आय		व्यय	
	करोड़	लाख	करोड़	लाख
बंगाल	२	४८	१	४८
मद्रास	०	८६	०	८१
बबई	०	११	०	३५
कुल	३	४८	२	६४

खर्च में सैनिक खर्च ही प्राय: अधिक था । १७७४ के लगभग कंपनी के पास करीब ५३ हजार तैयार सेना थी। इसमें ४० हजार देशी और १३ हजार गोरे सैनिक थे। कंपनी के पास इंगलैंड और भारत में सब मिलाकर ७०।७१ हजार टन वजन के ८५ जहाज भी थे । इस समय कंपनी का व्यापार भी बहुत वढ़ गया था, अर्थात प्रति वर्ष वह विलायत से ६५, ६७ लाख का माल और सोना चाँदी बाहर भेजती थी और बाहर से करीब डेढ़ करोड़ का माल विलायत ले जाती थी । जिसे विलायत में साढ़े तीन करोड़ में बेचती थी । इस तरह से वार्षिक दो करोड़ की वचत होती थी ।

मराठा राज्य की साम्पतिक स्थिति

उस समय मराठी राज्य के द्रव्य बल और मनुष्य की स्थिति कैसी थी इस पर भी विचार करना उचित है । ग्रांट डफ साहब के मत के अनुसार उस समय मराठी राज्य की आय सरकारी कागज पत्रों के अनुसार दस करोड़ थी जिसमें होलकर, सिंधिया, भोंसले और गायकवाड़ की जागीरें मंडलिकों की खंडनियाँ, नजराना, भूमिकर तथा और भी अनेक करों का भी समावेश होता है । यह कागजी आमदनी सब वसूल नहीं होती थी । वसूल प्राय: साढ़े ७ करोड़ की होती थी जिसमें पेशवा के हाथ में केवल पौने तीन वा तीन करोड़ ही पड़ते थे । नाना साहब पेशवा के समय में सबसे अधिक वसूल होती थी, जिसका परिमाण करीब साढ़े ३ करोड़ था । जिस समय पेशवा के कारबार में अंग्रेज सरकार का प्रवेश हुआ उस समय केवल पेशवा की आमदनी से अंग्रेज सरकार की आमदनी यद्यपि अधिक थी तो भी सब सरदारों की आमदनी यदि मिलाई जाय तो मराठी राज्य की कुल आय अंग्रेजों की आय से दुगनी थी । पेशवा के खर्च का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि खर्च का कोई लेखा अभी तक मिला नहीं है ,पर कह सकते हैं कि आय के प्रमाण से अर्थात् अंगरेजों की तुलना से, पेशवा का खर्च अधिक रहा होगा । १७७४ में कम्पनी सरकार पर कर्ज नहीं था लेकिन पेशवा के ऊपर बहुत कर्ज था । इसका कारण यह हो सकता है कि अंगरेजों का खर्च नियमानुकूल बंधा हुआ रहा होगा और पेशवा का अनियमित खर्च रहा होगा । कंपनी के नौकर भारत में मुनीम के समान होते थे और वे बिना कंपनी के संचालकों की मंजूरी

के स्वयं खर्च नहीं कर सकते थे। यद्यपि वे निजी व्यापार, रिश्वत, लूटपाट आदि से बहुत पैसा विलायत ले जाते थे, परन्तु कंपनी की आमदनी में से अपने निश्चित वेतन के सिवा अधिक खर्च नहीं कर सकते थे। सब हिसाब प्रत्येक छ: मास में साझीदारों की सभा के सन्मुख उपस्थित करने के लिए भेजना पड़ता था। उस हिसाब का निरीक्षण आडीटर (निरीक्षक) करते थे। पेशवाई राज्य में स्वयं पेशवा ही स्वामी थे, अतः अमुक खर्च करने या न करने की आज्ञा देने वाला दूसरा कोई नहीं था। निजी खर्च और दरबारी खर्च का अनुमान अलग अलग नहीं किया जाता था। लोगों का कहना है कि जब बड़े माधवराव पेशवा की मृत्यु हुई तब उनकी निजी संपत्ति २५ लाख रुपयों की थी, परन्तु जब दूसरे बाजीराव पेशवा ब्रम्हावर्त को गये तब उनके पास एक करोड़ के सिर्फ जवाहिरात ही थे। यद्यपि माधवराव के पास निज के चौबीस लाख रूपये थे। तो भी उन पर कर्ज इतना अधिक हो गया था कि उसका चुकाना कठिन था। अतः मृत्यु के समय उन्हें इसके कारण दुःख भी हुआ था। आज भी यद्यपि देशी राज्यों में राज्य की आमदनी में से उसके निज व्यय के लिये रकम अलग कर दी जाती है तो भी उसे घटाने बढ़ाने का अधिकार उन्हें ही रहता है। मालूम होता है कि पेशवाई में भी यही बात रही होगी। पेशवा की निजी आमदनी और जागीर होने पर भी वे राज्य के खजाने से भी खर्च के लिये रुपये लेते थे। बड़े माधवराव साहब की जागीर करीब तीन लाख की आमदनी की थी। ऐसी जागीरें दूसरे राज्य से भी मिला करती थी। उदगीर के युद्ध के बाद जो संधि हुई थी उससे निजाम ने प्रसन्न होकर करीब करीब दो लाख की जागीर दी थी। पुरन्दर की संधि के अनुसार पराजित होकर शरण में आये हुए रघुनाथराव को १२ लाख नगद देना नियत किया गया था। सालबाई की संधि के बाद रघुनाथराव की शर्त यद्यपि कम हो गई थी, पर चार लाख से वह कभी कम नहीं हुई थी। जब द्वितीय बाजीराव अंगरेजों की शरण में गये तब उन्हें आठ लाख की जागीर देने का निश्चय किया गया था। इन सब अंकों पर से पेशवा के निजी खर्च की कल्पना अच्छी तरह की जा सकती है। कर्ज राज्य का भूषण माना जाता था, और यह भूषण मराठाशाही में स्वयं पेशवा और उनके सरदारों को अच्छी तरह प्राप्त था। सरंजामी पद्धति के अनुसार सरदारों को सेना सदा तैयार रखनी पड़ती थी जिस पर उन्हें खर्च करना पड़ता था। इसके लिए उन्हें जो प्रदेश दिये जाते थे उसकी आमदनी तो अपने समय पर आती थी और फिर भी पूरी नहीं आती थी तथा सरकारी खजाने से भी मासिक वेतन समय पर नहीं मिलता था। इससे मराठे सरदारों पर कर्ज हो जाया करता था। शायद ही कोई सरदार होगा जिसका साहुकार न हो। पहले बाजीराव पेशवा का सम्बन्ध बहुत कुछ बढ़ गया था इससे उन्हें सदा बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ती थी। अतः उनपर ऋण भी बहुत हो गया था। ब्रह्मेन्द्र स्वामी को लिखे हुए

बाजीराव के बहुत से पत्र प्रकाशित हुए हैं जिनमें उन्होंने अपना ऋण सम्बन्धी रोना ही रोया है। उसे पढ़कर मन ऊब जाता है। एक जगह उन्होंने लिखा हैं कि "आजकल मैं बहुतों का देनदार हो गया हूं। कर्जदारों के तकाजे मुझे नर्क यातना के समान मालूम होते हैं। साहुकारों और किलेदारों के पांव पड़ते मेरे कपाल का पसीना नहीं सूख पाता" बड़े माधवराव के समय तो राज्य पर इतना ऋण चढ़ गया था कि उन्हें मरते समय बहुत दुःख होने लगा था। तब उन्हें सन्तोष देने के लिए रामचन्द्र नायक परांजपे ने साहुकारों को उनके ऋण के बदले में अपने नाम के रुक्के लिखकर उन्हें ऋण मुक्त कर दिया था। परशुराम भाऊ, पटवर्धन और हरिपन्त फड़के के पत्रों में भी इसी ऋण का ही वर्णन पढ़ने को मिलता है। दूसरे बाजीराव के सेनापति बापू गोखले को कर्ज के कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। उसने अपने गुरु चिदंबर दीक्षित को जो पत्र लिखे हैं उसमें केवल एक इसी विषय के समाचार हैं। सरकार पर ऋण हो जाने से सेना का वेतन रुक जाता था। अतः सरकार स्वयं सेना की ऋणी हो जाती थी और उसकी आज्ञा की प्रधानता में कमी आ जाती थी। चढ़ाई के समय रास्ते में लूटपाट करना और लोगों को कष्ट पहुँचाकर खूब खंडनी वसूल करना इसी स्थिति का एक साधारण परिणाम है और भी एक कारण है जिससे मराठे लुटेरों के नाम से बदनाम हुए हैं। परन्तु ऐसी स्थिति होने पर भी धनिक साहूकारों को निरर्थक लूटने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। मराठा सरदारों पर ऋण हो जाने का और एक कारण है। वह यह की ऋण का कारण बतलाकर सरदार, अपने सरंजामी राज्य का हिसाब और खंडनी मुख्य सरकार को देने से टालमटोल कर सकता था। सिंधिया और नाना फड़नवीस का हिसाब के सम्वन्ध में सदा झगड़ा बना रहता था। सरदारों के कर्मचारी सदा पेशवा के दरबार में बुलाये जाते थे और उन्हें पूना में रहकर प्रतिवर्ष हिसाब समझाना पड़ता था। परन्तु उसकी सफाई कभी नहीं होती थी। हिसाब की जाँच करने वाले पेशवा के कर्मचारी रिश्वत लेते थे और सरदारों के कर्मचारी देते थे। इससे राज्य को बहुत क्षति उठानी पड़ती थी।

सरदारों पर ऋण होने पर भी स्वयं सरदार घर के करीब नहीं होते थे। प्रत्येक सरदार की निजी आमदनी अलग होती थी तथा दूसरे दरबारों के लोग भी इनके महत्व के अनुसार इन्हें भीतर ही भीतर पैसे देते थे। इसके सिवा लड़ाई में जीत होने पर लूट में इन्हें हिस्सा मिलता था और जीता हुआ सरदार विजित राजा से, अपने लिए भी जागीर आदि अलग लेता था। अपना निजी खर्च और दरबारी खर्च हिसाबी कागजों में स्पष्ट रीति से दर्ज किया जाता था। उस समय राजनीतिक कारणों से सरकारी नौकरी के निज के लिए कुछ न लेने की कड़ी आज्ञा न थी। और यह पद्धति मराठों ही में नहीं अंगरेजों के

कारबार में भी उस समय दिखलाई देती थी। कंपनी के क्लाइब हेस्टिंग्ज, प्रभृति शासकों ने उस समय लाखों रुपये निजी तौर पर लिये थे और इन लोगों की संपत्ति देख देखकर विलायत के लोगों तथा कम्पनी के साझीदारों का पेट दुखता था। इसी का यह परिणाम था कि वारेन हेस्टिंग्ज के समान प्रतिष्ठित कर्मचारी की जाँच, कमीशन बैठाकर की गई। कंपनी को जब बादशाह की दीवानगीरी की सनद मिली थी उसके पहले ही क्लाईब ने अपने निजकी एक बड़ी जागीर कर ली थी। अंत में, उसे कम्पनी के नाम पर कर देना पड़ा। लार्ड कार्नवालिस ने जो अनेक सुधार किये थे उनमें कम्पनी के नौकरों की निजी आमदनी न करने की मुमानियत भी एक बहुत बड़ा सुधार था। इस सुधार को व्यवहार में परिणत करने के लिए उन्होंने नौकरों का वेतन बहुत बढ़ा दिया था। मराठाशाही में वेतन की अपेक्षा, इतर आमदनी पर ही प्राय: बहुत आधार रहता था। नाना फड़नवीस का वेतन उनके अधिकार को दृष्टि से बहुत कम था, परन्तु उनके पास निजी संपत्ति बहुत अधिक थी और वह इतनी कि दूसरे बाजीराव के समय में जब उन्हें पूना छोड़ना पड़ा तब उन्होंने एक बड़े सैनिक सरदार के समान अपनी निज की सेना खड़ी की थी। इसके सिवा लाखों रुपये उन्होंने अन्य स्थानों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध साहूकारों के यहाँ अपने नाम से जमा कराये थे।

दफ्तर

पेशवा के कार्यालय में सब तरह की लिखावट होने से प्रत्येक विभाग की छोटी से छोटी बात का भी उल्लेख मिलता है। आजकल "पेशवा का दफ्तर" पूना में इनाम कमीशन के अधिकार में हैं। इस दफ्तर में से स्वर्गीय रावबहादुर गणेश चिमणाजीवाड़ ने कुछ चुने हुए कागजों की नकल की थी, वे दस बारह खंडों में डेकन वर्नाक्यूलर ट्रांस्लेशन सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित हुए है। जिन्हें मराठी राज्य शासन के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त करना हो वें इन्हें अवश्य पढ़े, इनमें सेना, किले, जहाजी सैनिक बेड़ा, जमीन की पैमाइश, जमीन का निरीक्षण, जमाबन्दी, आमदनी, छूट, किस्तबन्दी, मामलतदार और तहसीलदारों के नाम, गाँवों के झगड़े, जमीन को आबाद करने और बगीचा आदि लगाने में उत्तेजना का दिया जाना, फसल की नुकसानी का चुकाया जाना, गाँवों के थाने, जमीन की बिक्री, जमीनी महसूल का ठेका, जंगल कर, घास दाने के सम्बन्ध में, गांवों के कर्मचारी जागीरदार, इनाम, वृत्ति जागीर, दीवानी दावे, कर्जवसूली, पंचायत अपराध और न्याय तथा दंड, पुलिस तथा जल की व्यवस्था, सरकारी कर्मचारी, और जागीरदारों के दुराचार, विद्रोह, छल कपट, राजद्रोह, दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार, वकालत राजाओं से व्यवहार, डाक, वैद्यक्रिया, शस्त्रक्रिया, टकसाल, सिवके भाव और मजदूरी, गुलामगीरी,

सरकारी ऋण, व्यापार तथा कारखानों का उत्तेजन, धर्म विषयक निर्णय, सामाजिक बातें, ग्रामीण धार्मिक और सामाजिक उत्सव, शहर, पेंड़े, अथवा इन दोनों की घसाहत जल मार्ग का व्यवसाय सार्वजनिक भवन, तालाब बावड़ी, इतर लोकोपयोगी कार्य, पागलों की व्यवस्था, पदवियाँ और सन्मान, भूमिगत द्रव्य की व्यवस्था सरकारी दूकानों और खदानों आदि सैकड़ों बातों का मनोरंजक वर्णन देखने को मिलता है। यद्यपि इन खंडों में प्रकाशित लेखों के फुटकर होने से किसी एक विभाग के कारबार का पूरा बिवरण इनसे नहीं जाना जा सकता, तो भी इस टूटी-फूटी सामग्री के द्वारा यह अच्छी तरह से जाना जा सकता है कि पेशवा के समय में राज्य कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा था।

सनदें

पेशवा के यहाँ से जो सनदें दी जाती थीं वे सार्थक होती थी। इनमें दिये हुये अधिकार, वृत्ति आदि का पूरा और नियमित उल्लेख रहता था तथा उनके द्वारा किले का अथिकार दिया जात्ता है, कौन अधिकार से मुक्त किया जाता है आदि का भी पूरा वर्णन रहता था। सनदों की कई प्रतियां की जाती थी और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक विभाग के अधिकारियों के पास वे भेजी जाती थीं ताकि उनका पालन अच्छी तरह से हो सके। यदि स्वयं छत्रपति सनद देते थे तो उसकी सूचना पेशवा और उससे सम्बन्ध रखने वाले मन्त्री से लेकर गाँव के अधिकारियों तक को दी जाती थी। इस प्रकार की एक सनद का हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया काता है।

"......राजेश्री स्वामी जब गढ़ से उतरकर सिंहासनारूढ़ हुए उस समय ब्राम्हणों को इनाम जमीन अव्वल और दोयमी दो तरह बात स्वराज्य और मोगलाई दोनों ओर का इनाम, तिहाई और चौथाई हक और सरदेशमुखी, छठा हिस्सा और नाडगोन्डी और कुलबाब और कुलकान मोजूदापट्टी और पहले की पट्टी, जलतरू तृण काष्ठ पाषाण निधि निक्षेप हकदारों को छोड़कर, ६ वेदमूर्ति राजेश्री जनार्दन भट्टबिन नारायण भट्ट उपनाम सातपुत्र, वशिष्ठ गोत्र, आश्ववातपन सूत्र, ज्योतिषी, सुईज मौजा, धर्माधिकारी, कसवाबाई की समस्त हवेली परगना मजकूर से चावल १, मौजा पाँचवड़ १।४, मौजा कलब, १।४ कुल १।२ के सम्बन्ध में चिट्ठियाँ १ मुख्य पत्र २ मुकद्दम की ३ चिछनवीसी, १ देशमुख और देशपाण्येय १ राजश्री वेशाधिकारी और लेखक वर्तमान १ राजश्री नारी पंडित प्रतिनिधि कुल ६।"

किले।

शाहू के समय करीब २००० किलों की सूची दफतर में थी। प्रत्येक किले पर किलेदार रहता था और उसके हाथ के नीचे पहरेदार थे। ये लोग प्रायः किले के

आसपास के प्रदेश के हुआ करते थे। इनके निर्वाह के लिए उसी प्रदेश की जमीन दे दी जाती थी। किले के ऊपर की अथवा किले के नीचे की नौकरी में ब्राह्मण, मराठा, महार, माँग आदि अनेक जातियाँ के लोग रखे जाते थे। इस कारण किलों की रक्षा करने में सब जातियों का कुछ न कुछ हित अवश्य रहता था। किले के महत्व की दृष्टि से पहरेदार लोगों के सहायतार्थ अरबी, गारदी अथवा कवायदी फौज थोड़ी बहुत अवश्य रहती थी। कितने ही किलों पर तोपें और गोलन्दाज भी रखे जाते थे। बहुत से किलों पर पानी के तालाब, टंकी आदि बहुत होते थे और बहुत दिनों तक सामग्री तथा गोला-बारूद के लिए अन्न प्रबन्ध किया जाता था। किले का जमा खर्च रखने के लिये किलेदार के हाथ में नीचे कर्मचारी रहते थे। पहले माधवराव पेशवा के रोजनामचे में चन्दन बन्दन के किले के सम्बन्ध में नीचे लिखे अनुसार वर्णन मिलता है :—

"बिट्ठलराव विश्वनाथ को सनद दी जाती है कि इस वर्ष चन्दनगढ़ किले और चन्दनगढ़ किले का तअल्लुका तुम्हारे सिपुर्द किया गया। उसके वार्षिक खर्च का व्यौरा इस प्रकार है :—

३६०) भोजन खर्च प्रतिदिन ५ व्यक्ति, प्रतिमास के ३०) रूपये जुमले बारह मास के।

१३५) ऊपर के हुकुम पाबन्दी के लिए मुसहरा खर्च प्रतिवर्ष।

७५ अस्बारी (रसोइया) १

६० ब्राम्हण

२१६) नीचे लिखे लोगों का सालाना खर्च

६०) मशालची १

७२) आबदागिरी उठाने वाला १

६०) लड़का १

२४) मसाला के लिए तेल मासिक २) रु० से

२१६)

कुल जोड़ ७११) रु०

जुमला ७११) रू० सालियाना देने का करार किया गया है। तुम सरकारी काम में कमीबेशी न कर साल के अन्त में आकर कच्चा हिसाब समझाना।

बहुला के किले की सालबन्दी की तफसील इस प्रकार मिलती है।

अच्छे होशियार आढ़ाव और बरकंदाज ७५ नियत किये जाये, दर प्रतिमास

व्यक्ति ७) मिले। ३ कारकून की वार्षिक ६५०) रु०, दो दस्तकारों को वार्षिक २५०) (कुटुम्ब व कपड़े लत्ते के खर्च सहित), इमारते नवीन बनवाई और धराई १०००) रु० सब मिलाकर किले की सालबन्दी ७६७५)। किले की व्यवस्था इस तरह की जाय कि किले के खर्च के लिए जो गाँव इसके प्रबन्ध के लिये दिया गया है, उस गाँव की सब व्यवस्था ठीक रखी जाय। आमदनी बढ़ाई जाने की कोशिश की जाय। जो लोग मुकर्रर किये गये उनकी हाजिरी ली जाय। बदले में लोग न रखे जायँ। जो लोग रखे जावें उनकी तैनाती कायदे से हुजूर सिक्के के द्वारा की जाय। किले का चौकी पहरा व नौबत बजाना आदि सिरस्ते के अनुसार होगा। देवयात्रा, नन्दादीप (अखंडदीप) कुत्ते जो किले पर हों इनके लिए पहले के मुताबिक खर्च किया जाय और वह खर्च मुजरा दिया जाय। इसके सिवा कोठारी, मसालची, मेहतर आदि की आवश्यकतानुसार रखकर बन्दोवस्त किया जाय।

जमीन

चालू जमीन और गांव की सूची गांव के दफतरों में अच्छी तरह संभाल कर रखी जाती थी और उनकी कई नकलें रहती थीं। एकाध फेहरिस्त के खो जाने पर सही सिक्के के साथ दूसरी फेहरिस्त की नकल दी जाती थी। उदाहरणार्थ शाहू महाराज के रोजनामचे में लिखा है कि मौजे मजगुर की कुल कैफियत सही सिक्के के साथ दी जाय और फिर शिकायत न होने पावे।

गाँव की फसल नष्ट हो जाने पर छूट दी जाती थी और किस्तबन्दी भी होती थी। उदाहरण, शाहू महाराजा के रोजनामचे में लिखा है—"मौजा रहिमनपुर के मुकद्दम को पाला पड़ने से गांव की फसल मारी गई। इसलिये अभय पत्र दिया सो सन इहिदे खमसेन (१७५ -५३) की बाकी में ये रुपये ३०००) की रकम छूट में दी गई। अब आगे की जमीन जोती वोई जाय। खंडनी के मुताबिक उगाही होगी।"

"कलण भी बड़ी के कुछ ब्राह्मणों ने १० बीघा जमीन की उपज का हिस्सा तौजी में देने की शर्त पर जीती। इनमें जमीन की उपज को तौजी में देने की शक्ति नहीं थी, इसलिये इनसे तौजी के रूप में ली जाय।"

(रोजनामचा माधवराव पेशवा)

"अहमदनगर किले के पास से रघुनाथराव की सेना निकली। सिपाहियों के लिये खेत काटा गया इसलिये खेत वालों की तौजी माफ कर दी गई। पर शत्रुओं की

चढ़ाई होने से किसानों का जब बहुत नुकसान होता तो भी तौजी वगैरह की छूट दी जाती थी। चढ़ाई के कारण पहले लोग भाग जाते थे तो नये आदमी बसाकर उनसे बहुत कम तौजी ली जाती थी।" (रोजनामचा माधवराव पेशवा)

"बागलाण प्रान्त से एक पानी के बांध के बह जाने से उसे फ़िर बाँधने में जो १४०००) रु० खर्च होंगे उन्हें रावोनारायण देकर बाँध की दुरुस्ती करेंगे, ऐसा उन्होंने वादा किया तब उन्हें १४ वर्षों तक बढ़ती तौजी की किस्तबन्दी दी गई। बागलाण प्रान्त मेला बाँध बाँधकर जो नई देती करेगा, उसे प्रतिशत १० बीघा जमीन इनाम लेकर लोग बाँध वगैरह ठीक रखते थे।"

"नसरापुरा के पास ८००) रु० खर्च कर बांध बांधा जा सकता था इसमें से ४००) रु० सरकार ने दिये और ४००) रु० जिनकी जमीन उस बांध से सींची जा सकती थी उन्होंने दिये।"

"तुङ्गभद्रा की एक नहर का बांध फूट जाने से हानि होने लगी तब कमावी-सदार की कोपल परगने की आमदनी में से २०००) रु० ही खर्च करने की मन्जूरी देकर जमाबन्दी में वह रकम मुजरा की गई" (रोजनामचा माधवराव पेशवा)

गांवों का ठेका (इजारा) दिया जाता था। इजारे की रकम से कमावीसदार अगर ज्यादह मांगते थे तो उनको हिदायत दी जाती थी।

"गांव की अथवा निजी खेत की सीमा के सम्बन्ध में झगड़ा हो तो सरपंच के द्वारा अथवा कसम (शपथ) पर सीमा निश्चित की जाय।"

(रोजनामचा माधवराव पेशवा)

"गांव की जमीन बस्ती आबाद करने को दी जाय तो चालू जमीन के हिसाब में जमा खर्च कर उसकी तौजी जमाबन्दी में कम कर दी जावे।

गाँवों के कर्मचारी

गाँव में काम करने वालों को गाँव के लोगों की ओर से सालना जो बँधा रहता था, दिया जाता था और सरकारी कर के मुताबिक उसकी वसूली होती थी। शाहू महाराज के रोजनामचे में पटेल व पटवारी का मान और कर इस प्रकार लिखा हुआ है :—

पटवारियों का मान :—

(१) शिरोपाँव,

(२) दुकान के लिये तेल प्रतिदिन ६ टंक,

(३) चमार के यहां से वर्ष में जूते का जोड़ा १,

(४) कोली पानी भरे,
(५) हर एक त्योहार पर लकड़ी की मोली १,
(६) स्याही के लिये काजल और कागज बांधने के लिये कपड़े का रूमाल,
(७) तमोली के यहां के पटेल से आये पान,
(८) दिवाली और दशहरा को बाजा बजाने वाले बजावे,
(६) माली के यहाँ से डाली और,
(१०) मन्दिर की आमदनी का हिस्सा,

सरमुकद्दमी के वेतन के अधिकार इस प्रकार थे :—

सरकारी नकद तौजी पर १) रु० सैकड़ा और एक खंडी, अनाज आदि पर १ धडी दी जाय। जलमार्ग से आने वाली वस्तुओं पर प्रति खंडी तीन पायली तोल की खंडी पर १० सेर। प्रत्येक खंडी नमक पर तीन पायली नमक उसे बैल के पीछे जगात का एक रुक्का (सिक्का विशेष)। ग्वाले के यहाँ से प्रति भैंस पीछे सालाना आधा सेर मक्खन। तेली की घानी पर प्रतिमास आधा सेर तेल। चमार के यहां से एक जूती का जोड़ा मिले इसी प्रकार देशमुख, देशपांडे नाडगौढा, चौगुला आदि के भी हक निश्चित किये गये थे। एक दृष्टि से ये सब बातें झगड़े की दिखती हैं। परन्तु उस समय यह सब व्यवहार गांव में होता था और सबों को मालुम था तथा सब मानते भी थे। ये सब बिना किसी झगड़े के सालाना वसूल होते थे। यदि कोई झगड़ा होता भी तो गांव के गांव में तै हो जाता था। यदि पटेल और कुलकर्णियों के कारण प्रजा भाग जाती थी तो उन्हें फिर बसाने का हुक्म होता था।

प्रजा का संरक्षण

मराठाशाही में गावों और लोगों की रक्षा का तथा अपराधों की जांच का और इन्साफ का बहुत सा काम प्राय: गांववाले अपने आप ही कर लेते थे। बिशेष अवसर पर सरकार की ओर से रखवाली का प्रवन्ध कर दिवा जाता था। यदि किसी स्थान पर मेला उत्सव आदि होता तो वहां आवश्यकतानुसार पुलिस रख दी जाती थी। घाटी प्रदेश पर चोर लुटेरों के प्राय: उपद्रव हुआ करते थे। इस लिए वहां सदा के लिए या कुछ दिनो तक तहसीलदार की मार्फत चौकियां बैठा दी जाती थी। अपराधियों को पकड़ने के लिए इनाम रखे जाते थे। विशेष अवसर पर यदि किसी गांव पर पुलिस रखी जाती तो उसका खर्च गांववालों से वसूल किया जाता था। इस कर से ब्राह्मण मुक्त नही होते थे। यदि यह मालूम हो जाता था कि चोर आदि लोगों की इच्छा धनिकों

के यहां चोरी करने की है तो पुलिस का खर्च धनिकों से ही लिया जाता था, फिर गरीबों से नहीं लिया जाता था। पुलिस को शस्त्रास्त्र बिना रोकटोक दिये जाते थे। तहसीलदार की मातहती में पहरेदार और सवार सैनिक पुलिस का काम करते थे। बड़े बड़े शहरों में कोतवाल रखे जाते थे। अन्य स्थानों पर तहसीलदार ही कोतवाल का काम करते थे और उन्हें फौजदारी के थोड़े बहुत अधिकार रहते थे।

जेल

पुलिस की व्यवस्था के समान जेल की व्यवस्था भी अच्छी थी। अपराधियों के पाँवों में बेड़ी डाली जाती थीं परन्तु प्रतिष्ठित कैदी छुट्टे ही रखे जाते थे। कैदियों को उनकी स्थिति के अनुसार अन्न या सीधा दिया जाता था। जेल में अपराधियों को बेइज्जत न करने का भी प्रबन्ध रखा जाता था। ब्राह्मण कैदी को ब्राह्मण के हाथ की रसोई ही दी जाती थी। यदि कैदी छुट्टा रखा जाता था तो इस बात का प्रबन्ध रहता था जिससे वह छड़ियों पर से कूदने न पावे, न विष प्रयोग कर सके। अथवा ब्राह्मण हुआ तो वह आततायी न होने पावे, ऐसी व्यवस्था की जाती थी। भोजन के समय राजनीतिक कैदियों की बेड़ियाँ निकाल दी जाती थीं। स्त्रियों को भी जेल में रहने का दंड दिया जाता था। जेल में चाबुक मारने का भी दण्ड दिया जाता था। नजर कैद के अपराधियों को उन्हीं के घर पर रख कर उन की देखरेख के लिए चौकी या पहरा नियत कर दिया जाता था। साधारणतया उस समय अपराधियों के साथ सरकार की नीति सौम्य व्यवहार रखने की थी। राजकीय अपराधों के लिये जो दंड दिया जाता था, वह कठोर नहीं होता था। प्राण दंड बहुत कम दिया जाता था। राजकीय इच्छा से जो व्यक्तिगत अपराध होते थे उन पर कड़ी नजर नहीं रहती थी परन्तु जो शस्त्र लेकर छापे मारते और लूटपाट करते थे उनके हाथ पाँव तक काट डाले जाते थे। अपराधी पिता के भाग जाने पर उसे बुलाने का सख्त उपाय यह किया जाता था कि उसके आने तक उसके पुत्र को कैद में रखते थे। इस प्रकार के बदले का दंड, शिवाजी के लिए उनके पिता शाहजी महाराज ने भी बीजापुर के दरबार में माँगा था। उस समय के फौजदारी कानून के पालन और जेल के सम्बन्ध में जस्टिस रानाडे ने इस प्रकार उदगार प्रगट किये हैं कि "नाना फड़नवीस के कार्यकाल के सिवा अन्य समय में फौजदारी कानूनों का पालन निर्दयता से या बदला लेने की नियत से न कर दयापूर्ण सौम्य रीति से किया जाता था और वह इस तरह कि जैसा पहले न तो कभी हुआ और न आगे भविष्य में होगा। अपराध के योग्य ही दन्ड दिया जाता था। कठोर दन्ड प्रायः कभी नहीं दिया जाता था।"

न्याय-विभाग

मराठाशाही में फौजदारी और दीवानी कानूनों का पालन अच्छी तरह से किया जाता था। पूना में पेशवा के राजधानी ले आने पर सतारा के न्यायाधीश का महत्व कम हो गया था और पूना के न्यायाधीश का पद विशेष महत्व का माना जाता था। इस पद पर ४ विद्वान् और शास्त्री की नियुक्ति की जाती थी। पूना के न्यायाधीश रामशास्त्री की योग्यता प्रसिद्ध ही है। पूने की मुख्य अदालत के समान प्रान्त प्रान्त में भी छोटी छोटी अदालतें थीं। इसके सिवा मामलतदार और तहसीलदारों को भी फौजदारी दीवानी के कुछ थोड़े अधिकार रहते थे। तभी बहुत से झगड़ों का न्याय प्रायः निजी तौर पर ही होता था। यदि शपथ लेने या कष्ट देने पर भी झगड़ा तय न होता था अथवा साहूकार, कर्जदार से वसूली करने में किसी प्रकार असमर्थ होता तो सरकारी अदालत की शरण ली जाती थी। और यह हो जाने पर आपस में पंचों के द्वारा, झगड़ा निपटाने का अवसर दिया जाता था। पन्चों का फैसला अमान्य होने पर सरकारी अदालतों का उपयोग अपील के लिए किया जाता था। प्रारम्भिक जाँच, गवाहियां, सुबूत आदि का काम प्रायः सरकारी कचहरियों में नहीं होता था। कानून का स्पष्टीकरण करने का अवसर आने पर न्यायाधीश के सन्मुख प्रश्न उपस्थित किया जाता था। सरकारी अदालतों में दावा दायर करने का काम बहुत कम पड़ने के कारण कोर्ट फीस २५) रु० सैकड़ा ली जाती थी, परन्तु वह प्रजा को भारी नहीं होती थी। क्योंकि काम कभी कभी पड़ता था। यद्यपि कानून के मुख्य ग्रँथ स्मृति ग्रंथ माने जाते थे तो भी उनकी अपेक्षा देशाचार, कुलाचार और ग्रामाचार के नियमों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। इस कारण जो गाँव के पन्च कह देते वैसा ही न्याय किया जाता था। नदी में स्नानकर या शपथ लेकर दावा का निकाल हो सकता होता तो उसमें वकील की कोई आवश्यकता नहीं रहती थी। मुद्दई मुद्दालह ही अपना काम करते और न्यायाधीश, न्याय का तथा दोनों पक्षों के वकील का काम करते थे। सरकार को यदि पन्च फैसला मन्जूर नहीं होता तो फिर दूसरे पन्च नियत किये जाते थे। बड़े-बड़े दावों में प्रजा को पेशवा तक अपील आदि करने का अधिकार था। परन्तु यदि छोटे-छोटे दावे भी पेशवा तक पहुँच जाते तो फिर उनकी भी सुनाई हो जाती थी। अंतिम फैसले के अनुसार काम करने के लिए तहसीलदार को आज्ञा दी जाती थी। तब सख्ती और शीघ्रता के उनके अनुसार काम किया जाता था। मराठाशाही के अनेक फैसले प्रसिद्ध हुए हैं। उन्हें देखने से विदित होता है कि उस समय झगड़ों का विवरण सविस्तार लिखा जाता था।

कर और लगान

जमीन के लगान के सिवा और भी कई तरह के कर उस समय प्रचलित थे। भिन्न-भिन्न धन्धों पर कर लगता था और जकात प्रत्येक गांव में वसूल की जाती थी। जो व्यापार विशेष लोकोपयोगी होते थे उनपर जकात माफ की जाती थी। जकात की वसूली बहुत शान्ति से होती थी। बिना माफी के परवाने के यदि पेशवा के लिए भी माल आता हो तो उस पर भी जकात ली जाती थी। कहा जाता है कि माधवराव साहब पेशवा की माता गोपिका बाई ने निजी देव मन्दिर बनवाने के लिए मलेवरा से लकड़ी मँगाई उसपर श्रीमन्त (पेशवा) के घर की लकड़ी होने के कारण जकात नहीं ली गई तब यह बात माधवराव साहब के कानों तक पहुँची। इस पर उन्होंने व्यवस्था की रक्षा के लिए अपने निजी द्रव्य में से जकात चुकाई।

व्यापार

इस सम्बन्ध में हम अपना मत पहले ही प्रगट कर चुके है कि मराठों ने अंग्रेजों को अपने राज्य में व्यापार करने की छूट देकर कोई भूल नहीं की है। मराठाशाही में न केवल अंगरेज ही बरन अन्य विदेशी भी आकर बिना रोक टोक व्यापार कर सकते थे और उन्हें सब तरह से सुभीते दिये जाते थे। शाहू महाराज के रोजनामचे के एक उदधृत अंश से विदित होता है कि शिवाजी महाराज के समय से अरब लोग समुद्र के पश्चिम किनारे के बन्दरों पर आकर साहूकारी करते थे, परन्तु आगे जाकर अंगरेज ने उन्हें रोका। तब 'मस्कत' के अरब मुखिया ने आकर शाहू महाराज से विनय की। इस पर शाहू महाराज ने उनके लिए राजापुर बन्दर नियुक्त कर दिया। १७३४ में शाहू महाराज ने अरब के मलिक मुहम्मद का सत्कार किया और जब वह मस्कत को जाने लगा तब उसके लिए जहाज आदि का प्रबन्ध फर दिया। नाना साहब पेशवा के रोजनामचा से विदित होता है कि विठोजी कृष्ण कामत नामक सारस्वत व्यापारी को बम्बई में व्यापार करने के लिए जकात माफी कर दी गई थी और पालकी, वस्त्र और रहने को तथा कोठी के लिए स्थान भी दिया गया था।

इसी प्रकार तीन वैश्य साहूकारों को बसई और साष्टी में घर और जमीन दी थी। तथा आधी लगान माफ की गई थी। (१७५१) उमदुत्तुजार मुल्ला मुहम्मद फकरुद्दीन को अहमदाबाद में व्यापार बढ़ाने में उत्तेजना के रूप से एक लाख रुपये की कीमत के माल पर जकात माफ कर दी थी। जल मार्ग के द्वारा बन्दरों पर व्यापार करने वालों को इसी प्रकार उत्तेजना दिया जाता था और जलमार्ग के चोर आदि से उनकी रक्षा की जाती थी। जो माल नदी आदि में बहकर आता और किनारे से लग जाता था

वह सरकार में जमा किया जाता था, परन्तु खाली जहाज यदि बहकर आते तो वे उनके मालिकों को ही लौटा दिया जाता। उत्तर कोंकन पट्टी के पारसी व्यापारी डच लोगों की ध्वजा अपने जहाजों पर लगाकर डच उपनिवेशों से व्यापार करते थे और उन्हें इस सम्बन्ध में सुभीते दिये जाते थे। स्थानों पर सरकारी दूकाने खोली जाती और उनके द्वारा विशेष वस्तुओं का व्यापार किया जाता था, जैसे कि पट्टू आदि कपड़ा और सरकारी खादानों में से निकले हुई हीरे आदि। हीरों की खदान का स्वतंत्र तअल्लुका कर दिया जाता था। सरकारी व्यापारी दूकानों से आसामियों को कर्ज दिया जाता था। कागज कपड़ा, कला-कौशल के पदार्थ आदि व्यापारी चीजों की आवश्यकता होने पर सरकार की ओर से कारखाने वालों को पहले पैसे दिये जाते और नमूने को देखकर बनाने का ठेका दिया जाता था। नमूने के अनुसार माल बनवाने और सरकारी माल देने के पहले बनाया गया माल न बेचने देने के लिए सरकारी आदमी रख दिया जाता था। नवीन बाजार और गांव आदि बसाने तथा नये हाट शुरू करने की ओर पेशवा का बहुत लक्ष रहता था। ऐसा हाट वगैरह शुरू करने का यदि कोई ठेका लेता तो उसे गांव में रहने की जगह, गाँव का परवाना, हाटों की दुकानों से या गाँवों में रहने को आनेवाले नये मनुष्यों से जगह का उचित भाड़ा और वस्तुओं पर कर वसूल का काम या ठेका भी उसे ही दिया जाता था। इसके सिवा सरकारी रास्तों या इमारतों के लिए किसी की निजी जमीन की आवश्यकता होती तो उसे लेकर या तो उसकी कीमत दे दी जाती अथवा बदले में दूसरी जगह देकर सनद लिख दी जाती थी।

सरकारी कर्ज

दूसरे राष्ट्रों के समान मराठाशाही में भी आवश्यकता पड़ने पर सरकार ऋण लेती थी। यह ऋण साहूकारों को किसी प्रकार का भय न होने के कारण तथा ब्याज का भाव बहुत अधिक होने के कारण उनका साहूकारी धन्धा बहुत चलता था साहूकारों के यहां प्रायः सब तरह के सिक्कों के रुपये खूब रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर चाहे जितने रुपये आधी रात को भी उनके यहां से सरकार के या सरदार के हुक्म से, गाड़ियों पर थैलियों में भर कर, लाये जाते थे। मराठाशाही में साहूकारों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। शाहू महाराज के रोजनामचों में एक जगह उल्लेख है कि शिद्दी पर चढ़ाई करने को जब बाजीराव गये तब उन्होंने चढ़ाई के खर्च के लिए साहूकारों से कर्ज लिया। इस कर्ज की रकम पर तीन रुपया सैकड़ा माहवार कर्ज देने और वसूल न होने पर राज्य की वसूली का हक देने की शर्त ठहरी थी। नाना साहब पेशवा के समय में ब्याज की दर ज्यादह से ज्यादह २॥) रु० सैकड़ा और कम

से कम १४ आना सैकड़ा होने का उल्लेख मिलता है। नाना साहब पेशवा के रोजनामचे में १७४० से १७६० तक सरकार ने जिन साहूकारों से करीब डेढ़ करोड़ का ऋण लिया था उनके नाम की सूची दी गई है। उस पर से विदित होता है कि बड़े-बड़े साहूकार कौन लोग थे। उस रकम की व्याज की दर १) रु० से १॥) रु० सैकड़ा मासिक थी। बड़े माधवराव पेशवा के समय में व्याज की दर खूब बढ़ी हुई थी। सवाई माधवराव पेशवा के समय में भी सरकारी ऋण के व्याज की दर का यही हाल था। दूसरे बाजीराव पेशवा के रोजनामचे में सरकारी ऋण का कोई उल्लेख नहीं है। मालूम होता है कि बाजीराव के समय में १८०३-४ से शान्ति होने के कारण सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके सिवा सवाई माधवराव के अन्तिम समय तक सरकारी जमा खर्च की व्यवस्था उत्तम हो जाने से सरकारी कोष की स्थिति भी अच्छी हो गई थी।

टकसाल और सिक्के

मराठाशाही के समय में महाराष्ट्र में अनेक प्रकार के सिक्के चलते थे। किसी सिक्के का बदला यदि दूसरे सिक्कों से करना होता तो ऊपर से बट्टा देना होता था। इनका भाव ठहरा लिया जाता था, इससे बड़ी गड़बड़ी रहती थी। सिक्कों में असल धातु सोना, चांदी, तांबा रहती थी पर दूसरी कम कीमती धातु अवश्य मिलानी पड़ती थी। जहां का सिक्का वहां चलाने से चलती कीमत और वास्तविक कीमत का कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता था। परन्तु दूसरी जगह के सिक्के चलाने में बड़े झगड़े उपस्थित होते थे। इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में हम एक जगह दिखला चुके हैं कि शिवाजी और अंगरेजों के व्यवहार में एक बार कुछ रकम निश्चित करने का मौका आया तो शिवाजी ने स्पष्ट कह दिया था कि—"मैं तुम्हारे सिक्कों की चलती कीमत को नहीं मानूंगा, किन्तु सिक्कों की जो यथार्थ कीमत होगी उसे मैं मानूंगा।" अंगरेज भी मराठों के सिक्के लेते समय इसी प्रकार का हिसाब करते थे। सम्प्रति सम्पूर्ण भारत में एक छत्री राज्य होने से प्राय: सम्पूर्ण स्थानों पर एक ही प्रकार का सिक्का चलता है। परन्तु निजाम हैदराबाद के राज्य में निजामशाही सिक्का अभी भी चलता है। स्वत: के सिक्के चलाना स्वतन्त्र राजसत्ता का चिन्ह है और भारत में निजाम, सिंधिया, होलकर आदि राजाओं का वास्तविक स्वातन्त्र्य नष्ट हो गया था, तो भी अंगरेज सरकार ने उनके सिक्के के स्वातन्त्र्य को सख्ती से नहीं छीना था। किन्तु राजी खुशी से ही सिक्के बन्द किये गये। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दि में चारों ओर राज्यों की अधिकता होने के कारण एक

प्रकार का सिक्का चलना सम्भव हीं नहीं था। दूसरे राजाओं के समान मराठों ने भी अपना सिक्का चलाया था, परन्तु सरकारी टकसाल एक भी नहीं थी। निजी टचसाल खोलने के लिये सरकार की ओर से परवाने दिये जाते थे। इस सम्बन्ध में पेशवा के रोजनामचे से उदघृत किये हुये नीचे लिखे परवानों से निजी टकसालों की व्यवस्था किस तरह की जाती थी, यह हमारे पाठक जान सकेंगे।

(नाना साहब पेशवा के रोजनामचे से उदधृत) बाला जी बापू जी नागौठणे टकसाल खोलें। १० मासे का पैसा बनावें। दस मासे का पैसा बना तो अच्छा ही है। यदि कम बना तो दंड दिया जायगा। करार तीन वर्ष का किया है। ठेके की रकम प्रतिवर्ष क्रमशः ५०), ७५', और १०००) १२०) रु०।

बहिरो राम दात्तार रेवदंडा टकसाल खोलें। पैसा १० मासे वजन का बनावें। तिमाही ठेके की रकम ६०), ९०) और १२०) रु०।

धारवाड़ में जमींदारों ने घर-घर टकसाल खोल कर खोटे सिक्के चलाये हैं। इससे बहुत नुकसान होता हैं। इसलिये टकसालें तोड़कर सिक्का ढालने फा ठेका एक को दो। होन का सिक्का पहले करार के ही मुताबिक रहे। होन का वजन ३।। मासे ही रुपया अर्काटी फ़ुलचरी के समान बने। माल खरा हो। तौल भी पूरी हो। मोहर दिल्ली के सिक्के के मुताबिक बाराकसी बनाई जाय। इसके बदले में सरकार को प्रत्येक हजार पीछे छः मोहर और छः रुपये दिये जाय। कर माफ किया जाता है। टकसाल वाले सिक्के तोल में रक्खें। पहले वर्ष के लिए सरकार की ओर से वैतनिक ढालने वाले सहायतार्थ दिये जावेंगे।

(माधवराव के रोजनामचे से उदधृत) नाना साहब ने पहले जो करार किया था उसके अनुसार व्यवहार नही हुआ। दो वर्षों तक झगड़ा हुआ और मामलतदारों ने भी आज्ञा नहीं मानी इसलिये कृष्णा नदी से तुङ्गभद्रा तक सब टकसालें तोड़ कर धारवाड़ में एक टकसाल खोलने के लिये पांडुरङ्ग मुरार को परवाना दिया गया और ११ तहसीलदार, २१ जमींदार, १९ साहूकार, २१ घटकार आपाकर और कारीगर आदि लोगों को सख्त हुक्म दिया जाय कि वे सिक्का न बनावें तथा सरकारी कचहरियों में इस टकसाल के सिक्के के सिवा दूसरे सिक्के न लिये जाँय। टकसाल के लिये कोलसा के वास्ते सरकारी जंगल से टकसाल वाले लकड़ी वगैरह लावें तो लाने दी जाय। सन् १७६५।

इसीवर्ष नासिक के लक्षरण अप्पाजी को सरकारी टकसाल को सनद दी गई और सहायता के लिये १ कर्मचारी, २ सिपाही, ५ कारीगर सुनार, १ लुहार, २ घनवाले, १ सिक्का ढालने वाला, दिया गया। १००० में ४५ रु० नफा लेने की आज्ञा हुई।

तुळू सुनार और मोराजी सुनार को आज्ञा दी जाती है कि किंचवड़ की टकसाल में रुपया और मुहर खरी नहीं बनतीं। इसलिए तुम्हें नवीन टकसाल खोलने का परवाना दिया जाता है। तुम सूरती सिक्का न बनाकर जयनगरी बनाना और मुहरें हर सनजी जयनगरी के सिक्के की बनी प्रतिवर्ष सिक्के पर संवत् बदला जाय। मुहर और रुपया में किसी प्रकार का यदि अन्तर पड़ेगा तो दन्ड दिया जायगा।

बड़गांव, तलेबांव (इन्दूरी), तलेगांव (ढमढेरे) वगैरह के अधिकारियों को आज्ञा दी जाती है कि जगह-जगह की टकसालों के घर, सरकार में जप्त कर, जो कागज वगैरह हो सो सरकार में हमारे (पेशवा के) पास भेज दिये जाँय। सन् १७६७।

नसराबाद (धारवाड़) में टकसाल खोलने की आज्ञा दी जाय। होन सिक्का ३।। मासे का हो जिसमें २।। मासे आध रत्ती अच्छा सोना और दिल्ली की जूनी मुहर की कसका सोना ५।। रत्ती। मुहर दिल्ली के आलमशाही सिक्के की और वजन पौन तोला पौने दो मासा एक रत्ती हो। रुपये का वजन १।। मासे हो। इसमें चाँदी दिल्ली छाप की डाली जाय। सनद के बदले में नजराना ५०१) रु० देना होगा। सन् १७६७।

(सवाई माधवराव के रोजनामचे से उदधृत) धारवाड़ के रुपया और चाँदी में खार चार रत्ती रहे। यदि ४।।, ५ रत्ती हो तो टकसाल तोड़कर खोटे रुपये में जो नुकसान बैठे वह और दंड लिया जाय। जमखंडी की टकसाल के लिए भी यही हुक्म है। सन् १७७७।

कोकनप्रान्त में खुर्दा (विल्लड़) बनाने की टकसाल का परवाना दुल्लभ सेठ वगैरह को दिया गया। इनसे १२००१) रु० नजराना लिया गया। इन्हें यह सुभीते दिये गये कि दूसरे को परवाना नहीं दिया जायगा और अलीबाग तथा अंगरेजों के तालुकों से दूसरा खुर्दा नहीं आने दिया जायगा और नजर व कर नहीं लिया जायगा। सन १७८२।

(बाजीराव दूसरे के रोजनामचे से उदतन) बोई कन्हाड़ और सतारा में मलकापुरी खोटे रुपये बहुत चल गये हैं। इसलिये चांदौड़ी चालू किये जाय और सरकारी कामों में चांदौड़ी सिक्के का ही व्यवहार किया जाय। सन १८००।

मराठाशाही के सिक्कों के नाम

पैसे—टव्बू (दो पैसे का पैसा) १८।। मासे वजन का, आलमगीरी १३।। मासे, शिवराई ६। मासे।

रुपये—जोधपुरी, चांदोड़ी, गंजीकोटी, मिठे, खंदार।

होन—ऐलोरी, हैदरी, सतगिरी, हरपनहल्ली, कंकरपती।

महमशाही, एकेरो, धारबाड़ी, नवीन धारवाड़ी।

मुहर—दिल्ली सिक्का, अहमदाबादी, चलनी, मालखंड और १४ रु० १० आना की, सूरती, औरङ्गाबादी, बनारसी, जहानाबादी, मछली बन्दरी, पट्टणी, लाहौरी बुरहानपुरी, कीमत १३॥।) ।

आबकारी

पेशवाई में आबकारी विभाग नाम मात्र का ही था। सरकार को शराब से प्रायः कुछ भी आमदनी नहीं थी। सवाई माधवराव के समय में आबकारी विभाग की प्रवृति शराब न बनने देने की ओर थी। कोकन में माड (एक प्रकार का वृक्ष) की शराब भी बन्द कर दी गई थी। जो फिरङ्गी गोरे कृस्तान सरकारी नौकरी में रखे गये थे उनका काम शराब बिना नहीं चलता था। इसलिये उन्हें शराब बनाने के लिए भट्टी चढ़ाने की आज्ञा दी गई थी। बन्दूकों की बारूद के लिए जो कलाली शराब की आवश्यकता होती थी वह सरकार के ही द्वारा तैयार की जाती थी।

दूसरे बाजीराव के समय में महुये के फूल पर बहुत थोड़ा कर था। सन १८०० में बलसाड़ के पारसी दारोबजी रतनजी को महुए के फूल खरीदने और बेचने का ठेका ५०) रु० साल का दिया गया था। इसका उल्लेख उनके रोजनामचे में किया गया है। पेशवाई में आबकारी का ठेका प्रायः पारसी लोग ही लेते थे।

बेगार और गुलामी

गुलामी की रीति मराठाशाही में भी चालू थी। सम्प्रति किसी से बिना उसकी इच्छा के नौकरी नहीं कराई जा सकती थी, परन्तु पहले यह बात नहीं थी उस समय गुलामों को रख कर उन्हें भर पेट खाने को दिया जाता था और सख्ती से नौकरी कराई जाती थी। गुलामों तथा नीच जाति की स्त्रियों की खरीद तथा बिक्री भी होती थी। विदेशी व्यापारी जहाँ आवारा औरतें मिलती वहाँ से लाकर इस देश में वेचते थे, परन्तु गुलामों के साथ पाश्चात्य देशों सा निर्दयता का व्यवहार नहीं होता था। गुलामी से केवल स्वातन्त्रय नाश और इच्छा विरुद्ध नौकरी करने का ही प्रयोजन था। गुलामों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के बहुत से उदाहरण नहीं मिलते। आजकल भी खानदेश में वंश परम्परागत सालाना काम लेने वाले नौकर

होते हैं । उस समय गुलाम भी प्राय: इसी तरह के रहे होंगे। स्वामी की नौकरी ईमानदारी से करने पर इनको इनाम दिया जाता था, अथवा जमीन आदि देकर सुखी और स्वयन्त्र कर दिये जाते थे। एक का गुलाम यदि दूसरे के यहाँ चला जाता तो सरकार के द्वारा वह जिसका होता उसी को दिलाया जाता था। लौंडियों की गिनती पायगा के जानवरों के साथ या मनुष्यों में की जाती थी और उनका हिसाब रक्खा जाता था। लावारिस अनाथ और अत्यन्त दरिद्रियों के ऊपर गुलामी की आपत्ति प्राय सब देशों में और सब कालों में आती रही। अंगरेजी साम्राज्य में भी अभी गुलामी की इस प्रथा को नष्ट हुए पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं। उपनिवेशों में तो यह रीति अप्रत्यक्ष रीति से आज भी चालू है। आज भी भारत में आसाम प्रभृति स्थानों और भारत के पास सीलोन में आजन्म वचन बद्ध के रूप में वह थोड़ी बहुत जारी ही है।

प्रवास और डाक

जिस राज्य में पैसा आदि साथ लेकर निर्भय रीति से राजमार्ग के द्वारा लंबी लंबी यात्रा की जा सकती हो उसे सुराज्य समझने की स्वाभाविक पद्धति सदा से चली आई है। आज भी शान्तिमय अंगरेजी राज्य का वर्णन करते समय यही कहा जाता है कि "सोना उछालते हुए रामेश्वर से काशी तक चले जाओ कोई पूछने वाला भी नहीं है।" पेशवाई में भी इस दृष्टि से सुराज्य था, ऐसा विदित होता है। सम्प्रति रेलवे हो जाने के कारण सोना उछालते हुए यात्रा करना सरल हो गया है, परन्तु रेलवे में भी चोरी आदि हो ही जाती है। पेशवाई में भी एक बार ऐसा सुराज्य हो गया था। सवाई माधवराव साहब के शासनकाल के सम्बन्ध में इतिहासकार लिखता है कि "श्रीमन्त सावाई माधवराव के अवतार लेने के पश्चात पूना से दिल्ली तक लाख रुपयों की चीजें सोना, चाँदी जवाहिरात साथ में लेकर निर्भय रीति से यात्रा की जा सकती है। इस प्रकार उनके तेज और प्रताप से अब किसी को कोई भय नहीं है।" (राजवाड़े खन्ड ४)।

माराठाशाही में यद्यपि आजकल के समान रेलवे और तार का प्रबन्ध नहीं था तो भी डाक का प्रबन्ध अवश्य था और इस प्रबन्ध के बिना राज्य का कारबार और प्रजा के लोगों का काम चल नहीं सकता था। यद्यपि उस समय समाचारों के साधन आज के समान सुधरे हुए नहीं थे, पर समाचार जानने की इच्छा आज से कुछ नहीं थी। उस समय सरकारी डाक के सिवा निजी डाक का भी प्रबन्ध था। कभी-कभी सांड़नी सवार या घुड़सवार के द्वारा पत्र भेजे जाते थे। पर साधारण रीति, मनुष्य के द्वारा डाक भेजने की थी। जो धंधा पीढ़ी दरपीढ़ी से चला आता है उसे करने वालों की

एक अलग जाति ही बन जाती है। इसी प्रकार उस समय ऐसे डाक लाने ले जाने वाले सैकड़ों और हजारों थे जिन्होंने इसी काम में अपना जन्म व्यतीत कर प्रवीणता प्राप्त की थी। डाक ले जाने वाले को 'जासूस हलकारा' अथवा काशीद (कासिद) कहते थे। पास की मंजिल पर एक ही डाक वाला जाता था, परन्तु लम्बी मंजिल पर या महत्व के पत्र होने पर दो हलकारे भेजे जाते थे जिससे कि मार्ग मे एक के बीमार आदि हो जाने या किसी प्रकार की अड़चन पड़ जाने से और निरूपयोगी होने पर दूसरा उस काम को कर सके। प्रत्येक सरकारी कार्यालय में और व्यापारियों की दूकानों पर गत आगत पत्रों की बही रहती और बहुधा प्रत्येक सरकारी कार्यालय तथा व्यापारी दूकानों पर से प्रति दिन गांव गाँव पत्र भेजे जाते थे। सामान्य स्थिति के लोग निजी डाक हलकारों के द्वारा नहीं भेजते थे। इनके लिये किसी किसी स्थान पर सरकारी डाक के साथ प्रजा की डाक भेजने के भी थोड़े बहुत सुभीते रहते थे और इसके लिये उनसे कुछ निश्चित रकम ली जाती थी।

डाक चमड़े की थैली में बहुत बन्दोबस्त से भेजी जाती थी। यद्यपि डाक वाले के समान का वजन कुलियों के समान बहुत भारी नहीं रहता था तो भी भारी होता ही था। सरकारी डाकियों के लिए टप्पे का प्रबन्ध रहता था और ज्यों ही डाकवाला पहुँचता त्यों ही डाकिये का भार टप्पेवाले को देकर तुरन्त रवाना करने का काम गावों के कर्मचारियों पर था और इसमें जरा भी भूल हो जाने से उन्हें दंड दिया जाता था। डाकिये को सरकार की ओर से चप्पल, जूते और लकड़ी दी जाती थी। इस लकड़ी में घुंघरू बंधे होते थे जिससे डाकियों को चलने में घुंघरू के स्वरपूर्ण शब्द के सुनने से कम परिश्रम पड़े और जंगली रास्ते में उस आवाज़ को सुनकर छोटे मोटे जानवर भाग जाँय। इसके सिवा उस आवाज को सुनकर आगे के टप्पेवालों को भी तैयार रहने की सूचना मिल जाती थी। घुंगरू की आवाज सुनकर लोगो को चैतन्य हो जाने का अभ्यास हो गया था और डाक को रोकना एक प्रकार से सरकार के विरुद्ध अपराध समझा जाने लगा था। सरकारी डाक की मंजिल का टप्पा थोड़ा होने से सरकारी डाक तुरन्त पहुँच जाती थी, परन्तु निजी डाकवाले भी एकएक दिन में तीस-तीस पैतीस-पैतीस कोस की मंजिल मारते थे। कभी-कभी तो सरकार के पहले बाजार में समाचार फैल जाते थे। डाकियों से जो करार किये जाते थे उसका एक मिसाल इस तरह का मिलता है—"कि कासिद से इकरार किया गया कि वह पच्चीसवें रोज वहाँ (काशी) पहुँचे और वहाँ से पच्चीसवें रोज जवाब लेकर पूना आवे। मिहनताना रु० २५) और प्रतिदिन एक सेर अन्न दिया जाय।" पर वर्षाकाल में भी कलकत्ते से दिल्ली को पन्द्रह दिनों के भीतर भीतर डाक पहुँच जाती थी। सरकारी डाकिये को नदी पर नाव या डोंगी तुरन्त मिलती थी और रास्ते में यदि जंगल होता तो नजदीक के गाँव

के कर्मचारी उस जंगली रास्ते के लिए साथी और मसाल देते थे। बेंगी डाक की अपेक्षा हलकारे की डाक और हलकारे की डाक की अपेक्षा कासिद की डाक अधिक जल्दी पहुँचती थी। सरकारी डाकिये को मासिक वेतन मिलता था और निजी डाक के लिये कामपुरता ठहराव कर लिया जाता था जो कि डाक पहुँचा देने पर उसे मिल जाता था। केवल रास्ता खर्च के लिए कुछ थोड़ा बहुत पहले दिया जाता था।

पदवियाँ

मराठाशाही में भी सम्मान सूचक पदवियां दी जाती थी। उनके मिलने पर लोग अपने को सम्माननीय समझते थे और यह एक स्वाभाविक बात है। मनुष्य स्वभाव सदा एकसा ही रहता है। कुछ पदवियों के नाम इस प्रकार हैं, हिन्दूराव, हिम्मत बहादुर, बजारतमाआब, सेनापति, सेनाखासखेल, सेना साहब पूर्व सेना, धुरन्धर, धुरन्धर समशेर बहादुर, महाराव, रूस्तमराव, फतहजंग बहादुर, सरलश्कर, सेनावार हजारीं।

ये पदवियाँ छूंछी नहीं होती थीं, किन्तु इनके साथ जागीर अथवा वेतन आदि कुछ न कुछ मिलता ही था। पदवी दान का खर्च पदवी प्राप्त पुरूषों से नही लिया जाता था। उसके सन्मान में त्रुटि न आने और उसी योग्य कार्य होने की सम्हाल सरकार की ओर से की जाती थी। विट्ठल शिवदेव को अपने यहाँ घंटा बजाने की परवानगी दी गई थी और साथ में बजाने वाले की भी नियुक्ति सरकार की ओर से की गई। इसी तरह पालकी का खर्च और उठाने वाले कहारों की तनख्वाह सरकार से मिलती थी। सन् १७५३-५४ में अखराज नाइक बन्जारी लमाणा को नगाड़ा और निशान रखने की आज्ञा दी गई। इसका काम बैलों के टाके के द्वारा धान्य का व्यापार और माल की आमदरफत करने का था। किसी को आबदागीरी या मशाल रखने का मान मिलता तो साथ में आवादगीरीं या मशाल रखने का जलाने वाला भी सरकार की ओर से ही दिया जाता था। इसी तरह चँवर मिलते तो चँवरवाला भी मिलता था।

विद्या वृद्धि और सुधार

विद्या वृद्धि और भौतिक प्रगति करना भी सुधरे हुए राज्यों का एक कर्त्तव्य है, परन्तु उस समय यूरोपियन राष्ट्रों को देखते हुए इस सम्बन्ध में मराठों ने कुछ नहीं किया, यही कहना उचित होगा। मराठों का ध्यान विद्या की अपेक्षा राजकीय कार्यों में ही सदा रहता था। इसके शिवा पूर्ण शान्तिमय काल भी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इन्हीं दो कराणों से मराठों के हाथ से विद्या वृद्धि और भौतिक सुधार के कार्य नहीं हो पाये। मराठों के समकालीन अंगरेज, मराठों की अपेक्ष शस्त्र, कला और जगत

के ज्ञान में बहुत ही आगे थे। तभी ६ हजार मील की दूरी पर से भारत में आये। यह कहना अनुचित न होगा कि मराठे गूलर के कीड़े के अथवा पानी के मेढक के समान थे। उनका ध्यान शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने, कला कौशल सीखने, व्यापार बढ़ाने अथवा खेती सुधारने आदि धनोत्पादक कार्यों की ओर नहीं गया, इसका कारण राजकीय बातों में महात्वाकांक्षी होने पर भी भौतिक सुख के सम्बन्ध में उनका अल्प सन्तुष्ट होना है। उन्हें अपने तोप, बन्दूक आदि के लिए यूरोपियनों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। जब इसी में यह दशा थी तो दूसरी कला के ज्ञान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या था? यद्यपि अठारहवीं शताब्दी की भारतीय कला कुशलता की बहुत कीर्ति है, तथापि इस कीर्ति में मराठों का भाग बहुत ही कम है। मराठों का सादा रहन सहन एक प्रकार से गुण कहा जा सकता है, परन्तु इस सादेपन के कारण उन्हें आंखें खोलकर जगत को चारों ओर से देखने की इच्छा न होने से इस गुण को दोष ही कहना उचित है। इसी तरह मुसलमानों का विलासप्रिय होना उनका दोष कहा जाता है, परन्तु इस विलासिता की इच्छा के कारण उन्होंने उद्योग, धन्धे, व्यापार, कला कौशल आदि से बहुत कुछ परिचय बढ़ा लिया था। मुसलमानों का इतने देशों को लांघकर भारत में आना ही यह सिद्ध करता है कि मुसलमानों को भूगोल का ज्ञान मराठों की अपेक्षा अधिक था। नानाफड़नवीस बहुत चतुर थे तो भी उनके दफतर से रावबहादुर पारसनीस ने जो भूगोल वर्णन का एक पत्र प्रसिद्ध किया है उसे देखकर हँसी आये बिना नहीं रहती, ग्राण्टडफ के इतिहास को कोई इतर कारणों से भले ही कुछ कहे पर यह निश्चित है कि उनका मराठों सम्बन्धी ज्ञान किसी भी मराठे से सौगुना अधिक था। मराठों का भूगोल सम्बन्धी ज्ञान प्राय: 'दंडकारण्य महात्म्य' पर से बना हुआ था और उनके ऐतिहासिक ज्ञान का उगदमस्थान भविष्य पुराण' कहा जा सकता है। मराठी इतिहास में एक जगह वर्णन है कि सदाशिव भाऊ ने दिल्ली लेने के बाद रूम शाम का सिंहासन लेने का विचार कह सुनाया था, परन्तु मालूम होता है 'रूम शाम की बादशाहत' इन चार शब्दों के शिवा उन्हें वहाँ का और कुछ ज्ञान नहीं था। फराशी अर्थात् फ्रेन्चों को वे प्रत्यक्ष जानते थे, परन्तु उनके पूर्व इतिहास को जानने की मराठों ने कभी इच्छा प्रगट नहीं की। टीपू ने अपना वकील पेरिस फ्रान्स की राजधानी में भेज कर वहाँ अपने वकील के निवास स्थान पर कुछ दिनों तक अद्धचन्द्र चिहिन्त ध्वाजा उड़ाई थी। इससे विदित होता है कि मराठों की अपेक्षा टीपू को परदेश का ज्ञान बहुत अधिक था। कहा थाता हैं कि वर्क के समय में दो ब्राह्मण विलायत गये थे, परन्तु मराठी दफतरों में इतिहास संशोधकों के ऐसा कोई कागज नहीं मिला जो अंगरेजों के ही हाथ का लिखा हो और जिससे यूरोप का परिचय मिलता हो। मराठी कागजों में इस समाचार का उल्लेख मिलता है कि फ्रान्स की प्रजा ने अपने राजा को मार डाला, पर

इस पर से यही सिद्ध होता है कि तत्कालीन फ्रान्स राज्यक्रान्ति का भी परिचय उन्हें नहीं था जो कि उस समय सहज ही प्राप्त किया जा सकता था। श्रीयुक्त राजवाड़े लिखते हैं कि—'उस समय के यूरोपियन दरबारों में अर्थात् पन्द्रहवें लुई महान् फ्रेडरिक और द्वितीय जार्ज के दरबारों में और राज्य में भूगोल का जो ज्ञान था उनकी अपेक्षा पेशवाई दरबार का भौगोलिक ज्ञान बहुत क्षुद्र था, ऐसा स्वीकार करना उचित है।" कपिल कणाद प्रभृति रचित शास्त्र, मुनि प्रणीत शास्त्रों के अतिरिक्त यूरोप को जिन जिन शास्त्रों का ज्ञान था, पेशवा के राज्य में उनकी गन्ध भी नहीं थी। और न केवल पाठशाला विद्यापीठ, विद्वत सभा, कौतुकालय, वादसभा, बोधसभा, पृथ्वी पर्यटन आदि यूरोपियन संस्थाओं के समान संस्थाएं ही पेशवा के राज्य में नहीं थी, किन्तु दुनिया में कहीं ऐसी संस्थाएं हैं, इसका भी पता महाराष्ट्र में किसी को नहीं था। इन सब बातों का सार इतना ही है कि अठारहवीं शताब्दि में मराठों की संस्कृति यूरोप के प्रगतिशील राष्ट्रों की अपेक्षा कम दर्जे की थी। राजवाड़े ने इस सम्बन्ध में बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है कि पेशवा ने अंगरेजों से मुद्रणकला क्यों न ली? परन्तु जहाँ वैदिक विद्या ही में सम्पूर्ण विद्या की समाप्ति मानी जाती थी वहाँ छापेखाने की क्या जरूरत? उस समय वेदविद्या केवल अधिकारी लोगों को ही दी जाती थी और वेदों का पढ़ना यही वैदिकों का काम था। वेदों की भाषा का यदि अभ्यास था तो बहुत ही थोड़ा था ऐसी स्थिति में छापेखाने की आवश्यकता ही न थी। उस समय यही कल्पना थी कि धर्म ग्रन्थों के सिवाय स्वतन्त्र वाँगमय कोई हो ही नहीं सकता, आजकल महाराष्ट्र मोरोपन्त की कविता को वाङ्मय में स्थान दिया जाता है। उस समय पेशवाई काल में उसकी गणना धर्म ग्रन्थों में शायद ही की जाती हो। उनके ग्रन्थों में महाभारत, रामयण, भागवत आदि के विषयों का वर्णन और भक्ति प्रधान स्फुट कविता होने के कारण उन्हें धर्म ग्रन्थों में ही स्थान देना उस समय के लोग अच्छा समझते थे। उनकी भी पोथियाँ लिखी जातीं और ब्राम्हणों लोग उनका स्पर्श अब्राम्हाणों को नहीं करने देते थे। वेद वेदांग पुराण तो धर्म ग्रन्थ हैं ही, परन्तु प्रत्येक विद्या को, धर्म पर मानने, धर्म की परिधि में खीचने की प्रवृत्ति उस समय बहुत अधिक थी। धर्म विचार की यह एकलौती दिशा को छोड़ दें और व्यावहारिक शिक्षा ही पर विचार करें तो उस समय वह शिक्षा भी बहुत कम थी। साधारण अक्षर ज्ञान सरल गणित, हिंसाब और थोड़ासा संस्कृत का ज्ञान ही उस समय के श्रेणी के गृहस्थ की शिक्षा का पठन क्रम था।

भौतिक सुधार के लिए जिस प्रकार साहित्य प्रसार आवश्यक होता है। उसी प्रकार व्यवहार चातुर्य प्राप्त करने के लिए परदेश गमन भी आवश्यक है, परन्तु मराठों

ने परदेश गमन को वर्जनीय माना था और स्वदेश में भी इधर उधर यात्रा कर सृष्टि निरीक्षण करने और दूसरों की कला कुशलता सीखने की ओर ध्यान नहीं दिया था। अतएव उपयोगी वस्तुओं के लिए उन्हें दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। यद्यपि राज्य सत्ता की धुन में उन्हें स्वदेशी वस्तु व्यवहार की आवश्यकता नहीं दिखाई दी होगी, पर आगे जाकर वे अपना परावलम्बितपन खूब अच्छी तरह समझ गये होंगे, पल्लेदार पोपें, बन्दूकें, पानीदार तलवारें, कटारी, होलायन्त्र, दूरबीन आदि युद्धोपयोगी पदार्थ इसी प्रकार घड़ियां, काँच के झड़ (झूमर), काँच, उत्तम रेशमी कपड़ा, बारीक मलमल आदि व्यवहारोपयोगी पदार्थों के लिए मराठों को अंग्रेरेज, चीनी, मुसलमान प्रभृति लोगों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। परदेशी व्यापारी मराठों की खरीद से मालदार बने थे। विलासी अथवा उपयोगी पदार्थों को न लेने की मराठों के मन में इच्छा नहीं थी ऐसा समझना भूल है, परन्तु यह सत्य है कि इन पदार्थों को स्वयं उत्पन्न करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी।

मराठाशाही की शिक्षा पद्धति आज से बहुत भिन्न प्रकार की थी। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उस समय सार्वजनिक शिक्षा संस्था थी नहीं। व्यावहारिक शिक्षा के लिए गुरू के और वेदादि की शिक्षा के लिए शास्त्रियों के घर में पाठशाला होती थी। गुरूजी को अमावस पुनो और त्योहार पर कुछ देने की प्रथा थी और पाठशाला में सब शिक्षा धमार्थ दी जाती थी। इतना ही नहीं, किन्तु जो घर की दाल रोटी से खुश होते थे उन्हें भी शास्त्रियों के यहाँ से भोजन दिया जाता था और पढ़लिखकर विद्वान हो जाने वाले शिष्य अपने गुरू का नाम अभिमान पूर्वक ले और गुरू के घराने की परम्परा को स्मरण करते रहें, यही गुरू के विद्यादान का बदला होता था। सरकार ने यद्यपि पाटशालाएं नहींखोली थी, परन्तु सरकार की ओर से वार्षिक वृत्ति और जागीर आदि दी जाती थी और उससे अप्रत्यक्ष रीति से शिक्षा को सहायता मिलती थी। पेशवा के रोजनामचे और अन्य स्थानों पर भी वैदिक शास्त्री पण्डितों को जमीन आदि इनाम में देने का प्रमाण मिलता है। उनसे विदित होता है कि केवल सुख से रह कर स्नान सन्ध्या करने और राज्य का अभीष्ट चिन्तन करते हुए आशीर्वाद देते रहने के लिए ही इनाम दिये जाते थे। उस समय केवल और धर्माचरण करने वाले और स्नान सन्ध्या, पठन पाठन आदि में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीय करने वाले बहुत से लोग थे। वैदशास्त्र का अध्ययन और पण्डिताई की शिक्षा देने वाले विद्यापीठ मुख्य मुख्य तीर्थ स्थानों पर होते थे और आदयपीठ काशी में थे। कर्म, धर्म संयोग से काशी, प्रयाग, गया आदि उत्तर प्रान्त के तीर्थ स्थान विजातीय लोगों के शासन में रहे। मराठों ने अपनी सत्ता के बल उन पर अधिकार करना चाहा, पर उनका प्रयत्न सफल न हो सका। तो भी विद्या की दृष्टि से महाराष्ट्र और काशी

का सम्बन्ध तीन चार सौ वर्षों तक अबाधित बना रहा। काशी में जो विद्वान प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे उनमें दक्षिणी पंडित बहुत प्रसिद्ध थे। सन १९११ में "संस्कृत विद्या पुनरुजीवन इस विषय पर केशरी में इस ग्रंथ के मूल लेख प्रकाशित हुए थे जिसमें काशी में दक्षिण के पंडितों के घराने पर भी एक लेख लिखा था। उसे पढ़ने पर पाठकों को इस सम्बन्थ में बहुत कुछ परिचय प्राप्त होगा।

वेद शास्त्रों का शिक्षण ब्राम्हणों ही तक था और यह बात शिवाजी महाराज को भी मान्य थी। अंगरेजी विद्या और अंगरेज लोगों से परिचय हो जाने से आज में जातुर्वण्य व्यवस्था मान्य नहीं है। जन्मसिद्ध चातुर्वण्य व्यवस्था और उसके ठहराये हुए अधिकार तो आजकल के विद्वानों में से बहुत कम मानते हैं। उन्हें अपने आज के मत निर्विवाद दिखते हैं, परन्तु कोई भी विचार त्रिकालाबाधित नहीं जंचती उनमें से बहुत से लोग यदि पूर्वकाल में होते तो उन्हें आज का मत उचित नहीं दीखता। नदी के वेग में जिस तरह पत्थर के टुकड़े भिन्न भिन्न रूप के बन जाते हैं उसी तरह काल के वेग से विचार भी भिन्न भिन्न बनते है। शिवाजी यदि ब्राम्हणों को निःसन्तान करना चाहते तो कर सकते थे और रामदास के पास जाकर उन्हें गुरू बनाने का आग्रह भी किसी ने शिवाजी से नहीं किया था, परन्तु शिवाजी ने स्वयम् ही नैतिक कर्म करने की इच्छा की और तदनुसार राज्याभिषेक के पहले उन्होंने अपना मौजी बन्धन करवाया। यद्यपि आज की विचारसारणी के अनुसार उन्हें इस प्रकार के कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, परन्तु उन्होंने ऐसा किया और इसका कारण यही है कि उनके मन पर वैदिक संस्कृति का प्रभाव पड़ा था और इसीलिए राज्यारोहण की विधि शास्त्र सम्मत करने के लिए उन्होंने विचार किया ही, इसमें कोई आश्चर्य है। सारांश यह नहीं हैं कि शिवाजी ने जो कुछ किया वह तन मन धन से किया और इस विषय में वे भीतर बाहर से एक थे। अर्थात् आजकल जिस तरह कुछ क्षत्रिय ऊपर से बहुत काम करने की अभिलाषा रखते और भीतर से ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं। ऐसा दुमुंही व्यवहार शिवाजी ने इस सम्बन्ध में नहीं किया क्षत्रिय और ब्राह्मण शब्द एक प्रकार के अनुयोगी सम्बन्धों के कारण स्थायी रीति से एक दूसरे से जकड़ गये हैं। इसलिए यदि कोई चाहे तो चातुर्वण्य व्यवस्था सारी की सारी अमान्य कर सकता है। जिस चातुर्वण्य व्यवस्था में क्षत्रिय भूषण रूप माने गये हैं इसी में ब्राह्मणों को भी विशेष स्थान दिया गया है और इसीलिए मराठाशाही में क्षत्रिय लोग अपने को क्षत्रिय प्रगट करते हुए भी ब्राह्मणों को उचित सम्मान देना चाहते थे। एक दृष्टि से उनका ब्राह्मणों को इस प्रकार गुरुत्व का सम्मान देना चातुर्वण्य व्यवस्था के अनुसार ठीक है। मराठाशाही के समय में मराठों के द्वारा ब्राह्मणों का सम्मान वर्ण व्यवस्था के अनुसार होने के ही प्रमाण प्राप्त होते है और ऐसा सन्मान करने

वालों में शिवाजी सबसे आगे थे। इस प्रकार जब मराठाशाही में क्षत्रियों ने ही ब्राम्हणों का अभिमान रक्खा तो पेशवाई में ब्राम्हणों के अपने अभिमान करने में क्या आश्चर्य है ?

इस विवेचन पर से यह सिद्ध होता है कि उस समय मराठाशाही में यही मान्यता जोरों पर थी कि चातुर्वर्ण व्यवस्था के कारण पढ़ने लिखने का काम ब्राम्हणों का ही था उन्होंने अपना यह काम सम्हाल लिया था, अतः उन्हें शिक्षा के अर्थ धर्मादाय की रकम में से बहुत कुछ मिल जाया करती थी। इस सम्बन्ध में पेशवा ने भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तर भेदों का अभिमान कभी नहीं किया। काशी से रामेश्वर तक पेशवा के धार्मिक दान पहुँचते थे। श्रावण मास में सम्पूर्ण भारत में पंचद्राविड़ी ही नहीं, किन्तु पंचगौडों का भी सन्मान किया जाता था। वेद विद्या की शिक्षा के सिवा जाति भेद का प्रश्न उस समय अन्य बातों में नहीं दिखलाई देता था। क्योंकि मराठाशाही में मुसलमानों के फकीर औलिया आदि साधु, सन्तों तथा देवस्थानों को दान दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह धर्मार्थ वैद्यकी करने वालों, शस्त्र क्रिया करने वालों, अथवा बावड़ी बनाने वालों या मार्ग में छाया करने के लिये पेंड़ लगाने वालों और पानी की टंकी बैठाने वालों को उनकी जाति का लक्ष्य न देकर इनाम दिया जाता था। शाहू महाराज के रोजनामचे में असई के रण-छोड़ नामक वैद्य, राजे मुहम्मद हकीम, बागलाण वाले नरहर के पुत्र नारोराम वैद्य, भवानीसंकर वैद्य गुजरात, फीरमाहजीग वैद्य, रेवडण्डा, मीरअबुतलब आदि लोगों के नाम मिलते हैं, जिन्हें सरकार की ओर से दिये गये थे। इस पर से हमारे अनुदान जाति भेद सम्बन्धी उक्त मत की सत्यता प्रगट हो जायगी। सारांश यह कि व्यवहार की किसी भी बात में जाति भेद का विद्रोह अधिक कहीं था और जाति के अनुसार व्यापार की बँटनी होने के कारण व्यापार को जो उत्तेजना दिया जाता था वह प्रकारान्तर से उन्हीं जातियों को मिलता था।

दसवाँ अध्याय

मराठों की बादशाही नीति

किसी भी राष्ट्र की कार्य परम्परा के अन्तरङ्ग में एक निश्चित नीति रहती है। इसी तरह मराठों का इतिहास देखने से भी विदित होता है कि उनके शासन काल के भिन्न-भिन्न भागों में भी उनकी निश्चित नीति अवश्य कार्य कर रही थी। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि सन् १६४६ तक मराठों की नीति, मुसलमान बादशाहों के आश्रय में अपनी-अपनी जागीर का उपभोग करते हुए परतन्त्रतापूर्वक, किन्तु सुख से, रहने की थी। शिवाजी के समय में मराठों की नीति, एक छोटी ही क्यों न हो, किन्तु स्वतन्त्र स्वराज्य स्थापित करने की हुई। फिर शिवाजी महाराज की मृत्यु के बाद शाहू महाराज के दक्षिण में लौटने तक शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य की रक्षा मुगलों के आक्रमणों से करने की मराठों की नीति रही। फिर शाहू महाराज से सवाई माधवराव पेशवा तक स्वराज्य को सम्हालते हुए सम्पूर्ण हिन्दुस्थान पर सत्ता स्थापित करने और दिल्ली की बादशाहत को औपचारिक रीति से बनाये रखकर प्रत्यक्ष व्यवहार में हिन्दू बादशाहत का उपयोग करने की मराठों की नीति हुई। दूसरे बाजीराव के समय से मराठी नीति फिर संकुचित हुई और अंगरेजों आदि से राज्य की रक्षा करते हुए, बन पड़े तो नवीन राज्य प्राप्त करने की नीति, मराठों ने स्वीकार की। सन् १८१८ से मराठा नीति ने फिर अपना वही मूल क्रम पकड़ा और आज तक मराठे रजवाड़ों ने यही नीति ग्रहण कर रक्खी है कि अंगरेज सरकार के आश्रय में रहकर येनकेन प्रकारेण अपने वैभव की रक्षा की जाय और बादशाह से सन्मान प्राप्त करके बादशाहत की रक्षा की जाय।

मराठों की यदि कोई बादशाही नीति रही है तो वह सन् १७०७ ई० से १७८४ तक रही और इसी नीति के वास्तविक स्वरूप का विचार करना यहाँ आवश्यक है। "बादशाही नीति" इस पद के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि दिल्ली के बादशाहों के साथ मराठों की नीति। दूसरा यह कि अपने को बादशाह समझने या बनने की नीति, परन्तु अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली की बादशाहत ही मराठों की नीति मध्यवर्ती आधार वस्तु थी। दिल्ली की बादशाही डुबा कर मराठी बादशाहत स्थापित करने की नीति ग्रहण करने के विचार मराठों के मन में भले ही उठे हों,

परन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने एक शब्द भी अपने मुंह से बाहर नहीं निकाला। राजकीय महत्वाकांक्षा की मर्यादा नहीं हो सकती और वह होना भी क्यों चाहिए? 'अहम्ब्रह्मास्मि' और ब्रह्म हूँ, ऐसी जो भावना धर्म में उचित है उसी प्रकार यदि कोई जगत् का राजा होने की भावना करे तो राजनीति की दृष्टि से उसे नाम नहीं रक्खा जा सकता। सम्पूर्ण जगत् का राज्य यदि मिले तो उसे लेने की इच्छा कोई भी कर सकता है। अथवा जिसके शरीर में बल हो वह प्रयत्न भी कर सकता है। यह बात दूसरी है कि वस्तु स्थिति ही इस प्रकार की हो कि सम्पूर्ण जगत् का राज्य न तो आज तक किसी को मिला और न भविष्य में किसी को मिलेगा। इसी दृष्टि से मराठों की बादशाही महत्वाकांक्षा का न्याय हमें करना चाहिए।

अंग्रेजों को और उनके पहले मुसलमानों को भारत में अपनी साम्राज्य सत्ता स्थापित करने का जितना अधिकार था, उतना ही मराठों को मराठा साम्राज्य स्थापित करने का था। यह बात अलग है कि किसी का अधिकार सिद्धि को प्राप्त हो सका और किसी का न हो सका। इसलिये इन सबों में मराठों का अधिकार ही अधिक ठहरेगा। क्योंकि मराठे हिन्दू थे। और इस दृष्टि से हिन्दू बादशाहत इनके पूर्वजोपार्जित थी। न्याय और नीति तत्वज्ञान की दृष्टि से कार्य सिद्धि पर अवलम्बित नहीं हो सकती, क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि अन्याय अथवा अनीति पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाता है और न्याय एवं नीतिपूर्ण यों ही रह जाता है। अठारहवीं शताब्दी में मराठों ने जो भारतवर्ष भर में मराठी सत्ता स्थापित करने का नाम तक नहीं लिया उसका कारण केवल परिस्थिति थी, जो बात सर्वथा असम्भव दिख रही ह उसे कहो कर दिखाने में कोई चातुर्य नहीं है। क्योंकि अशक्य बात कहने वाले के धैर्य का सत्कार न कर लोग उसकी हंसी ही करते है। अठारहवीं शताब्दी में मराठों के मन की जो बात छिपी हुई थी उस पर हमें विचार करना नहीं है, किन्तु व्यवहार में उन्होंने जिस नीति से काम लिया उसी का यहाँ विचार करना है। अतः दिल्ली के बादशाह के साथ उनकी जो नीति थी उसे ही उनकी "बादशाही नीति" का अर्थ समझ कर यहाँ विचार करना उचित है। उनकी यह नीति एक शताब्दी के लगभग रही। उसी पर से उसके महत्व, व्यापकत्व और विस्तार की कल्पना की जा सकती है।

दिल्ली की बादशाहत के सम्बन्ध में मराठों की नीति क्या थी इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि मराठे दिल्ली की सत्ता को नष्ट न कर उसकी दीवानगीरी या उसका सेनापतित्व अपने हाथ में लेकर संयुक्त (मराठों के और बादशाह के) अधिकारों के बल पर अपने राज्य की रक्षा और वृद्धि करने के साथ-साथ भारतवर्ष के सब राजा महाराजाओं पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। अर्थात् नाम से नहीं, परन्तु काम

से हिन्दू राज्य स्थापित करने की उनकी नीति थी। इस पर से यदि कोई यह कहे कि स्वत: अपने नाम का राज्य स्थापित करने और केवल कार्य में राज्य का अधिकार भोगने में कुछ विशेष अन्तर नहीं है तो यह कथन ठीक न होगा, क्योंकि दिखावे को भी बहुत महत्व प्राप्त होता है। शक्याशक्य का विचार करने में दिखाऊपन को भूल जाने से काम नहीं चलता। कानूनीपन में न्याय का नव दशमांश रहता है, परन्तु कानूनी व्यवहार के लिए दिखावे की ही बहुत सहायता रहती है। मराठों ने दिल्ली का राज्य नष्ट करने का ही निश्चय क्यों नहीं किया? इसका सरल उत्तर यह है कि उस समय वे वैसा कर ही नहीं सकते थे और यदि उनके प्रयत्न का लोगों को संशय हो जाता तो जो काम कर सके वह भी न कर पाते। साथ ही उन पर उनके राज्य के नष्ट होने का प्रसंग भी आ गया होता।

पहले तो भारतवर्ष भर में हिन्दुओं का राज्य स्थापित करने का काम ही कठिन था। उसमें भी केवल मराठी राज की सत्ता स्थापित करना और भी अधिक कठिन था। शिवाजी की एकतन्त्री राज सत्ता जो महाराष्ट्र में स्थापित हुई और दो सौ वर्षों तक उनके घराने में रही इसका कारण एक तो मराठी राज्य का अधिक विस्तृत न होना था, दूसरे अपने राज्य कार्य भार में दूसरों को सम्मिलित करने के लिए शिवाजी महाराज ने अष्ट प्रधान की रचना कर राज्य को संगठित कर दिया था। तिस पर भी शिवाजी महाराज की तीसरी पीढ़ी में ही वास्तविक सत्ता उनके घराने में न रहकर पेशवा के हाथ में आ गई और पहले बाजीराव पेशवा के समय में यह विश्वास होने लगा कि केवल अपने घराने में यह सत्ता न टिक सकेगी। अत: उन्होंने यद्यपि शिवाजी महाराज का अनुकरण कर अष्टप्रधानों का पुनार्नर्माण नहीं किया तो भी राज्य के आधार भूत बड़े-बड़े सरदारों का निर्माण किया। शिवाजी महाराज के समय में राज्य विस्तार अधिक नहीं था, अत: स्वयम् महाराज अष्टप्रधानों के कामों की डोर अपने हाथ में रख अपनी जगह पर बैठे-बैठे हाथ की रेखाओं के समान अपने राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था को देख सकते थे, परन्तु यदि राज्य का विस्तार दिन पर दिन उन्हीं के सामने बढ़ा होता तो फिर उन्हें भी एकतन्त्री राज्य सत्ता चलाना कठिन होता और लाचारी से सरदारों को न्यूनाधिक स्वतन्त्रता देनी ही पड़ती।

पेशवा की स्थिति स्वयम् शिवाजी महाराज की स्थिति से भी अधिक विकट थी। क्योंकि शिवाजी महाराज के उत्ताराधिकारियों में कर्तृत्व शक्ति न रहने के कारण उन्हें राज्य का उत्तरादायित्व पूना में अपने ऊपर लेना पड़ा था। इसके लिए यद्यपि वे एक दृष्टि से निर्दोष भी माने जा सकते हैं तो भी जो लोग उनके इस कार्य को अधिकार लालसा का रूप देते थे। वे पेशवा से स्पर्द्धा और ईर्ष्या करते थे। पेशवा क

घराना इतिहास प्रसिद्ध घराना न था। ये तो कोकण प्रान्त से आये हुए थे। जो लोग सैकड़ों वर्षों से महाराष्ट्र के खान्दानी रईस थे वे यही समझते थे कि शाहू महाराज को भुलावे में डालकर षड़यन्त्रकारी पेशवा ने राज्य सत्ता अपने हाथ में ले ली है। भले ही पेशवा यह कहें कि "मराठी राज्य सत्ता की धुरी हमने अपने कन्धों पर ली है।" पर प्रतिस्पर्द्धियों का यही कहना था कि ब्राह्मणों ही को पेशवा पद क्यों मिले और उसमें भी इन कोकणस्थ-ब्राह्मणों को ही क्यों दिया जाय, परन्तु पेशवा के घराने में दो तीन पीढ़ियों तक, एक के बाद एक कर्म्मण्य, पुरुष उत्पन्न होने से प्रति पक्षी उनका कुछ न कर सवे और उनके हाथ से सत्ता छीनना कठिन हो गया। पहले पेशवाई पद वंश परम्परा गत नहीं था परन्तु इनके जमाने में वह भी ऐसा ही हो गया अतः पेशवा के शत्रु मन ही मन और भी अधिक जलने लगे। उसकी जलन कम नहीं हुई केवल एक इसी कारण से दाभाड़े, गायकवाड़, भोंसले, आदि अनेक सरदार पेशवा से शत्रुता रखते थे। पेशवा हर समय यह जानते थे कि राज्याधिकार हरण करने का आरोप हमारे ऊपर लगाया जाता है, अतः जो बात शिवाजी को न करनी पड़ी वह पेशवा को करनी पड़ी अर्थात् सरदारों को स्वतन्त्र जागीर और सरंजाम देकर उनकी महत्वाकांक्षा का समाधान करना पड़ा।

हम ऊपर दिखा चुके हैं कि पेशवा के समय में शिवाजी की अपेक्षा राज्य का विस्तार अधिक बढ़ गया था, अतः उन्हें अधिक विभाग के साथ साथ सत्ता विभाग करना पड़ा। क्यों कि पेशवा पूना में रहते थे। वहां से बैठे बैठे दिल्ली, कलकत्ता और त्रिचनापल्ली के आसपास का प्रान्त जीतना कठिन था और यदि जीत भी लिया जाता तो फिर उसकी व्यवस्था करना और भी कठिन था। अतएव वह काम सरदारों के द्वारा ही प्रायः कराना पड़ा और जो काम करता है उसे अधिकार और सत्ता कुछ न कुछ अपने आप ही मिल जाती है। इसी न्याय से मराठा सरदारों को थोड़ा बहुत स्वातन्त्र्य लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया था। पेशवा का राज्य इतना बड़ा था कि उसके वहुत भाग से प्रायः कर वसूली ही नहीं हो पाती थी। यदि प्रजा नियमानुकुल दे देती थी तो तहसील और जिले के अधिकारी उसे चुकाने में चाल चलते थे और जहां की प्रजा जाट, राजपूत आदि अप्रसन्न और शूर होती उससे वसूल करने, तथा निजाम जैसे बलिष्ट सूबेदारों से चौथ वसूल करने का अवसर पड़ता तब मारामारी और सैनिक चढ़ाई की नौबत आती थी। इन चढाइयों के लिए ही सिंधिया, होलकर प्रभृति सरदारों की आवश्यकता के कारण ही उनका महत्व भी बढ़ा।

यदि कानूनी भाषा में कहा जाय तो सिन्धिया और होलकर राज्य नौकर थे और रीत्या-नुसार सरदारों से जागीर और सरंजाम का हिसाब लेने का अवसर पड़ने पर अर्थ विभाग का एक साधारण कर्मचारी भी हिसाब समझने के लिए इन पर आँखें

लाल पीली कर सकता था, परन्तु इन सरदारों का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि पेशवा का सरंजामी और जागीरी हिसाब मांगना ही उन्हें अपमानजनक प्रतीत होता था और इस प्रकार सरदारों का प्रभाव अधिक बड़ जाने के कारण पेशवा को इन सरदारों की सम्मति के बिना राज्य की व्यापक नीति निश्चित करना कठिन हो गई थी। भोंसले राजघराने की मूल सत्ता पेशवा का सर्वाधिकार, फड़नवीस (अर्थसचिव) की सम्पति और सरदारों की तलवार इस प्रकार मराठी राज्य के चार विभाग हो जाने से एकतन्त्री राज्य चलना कठिन हो गया था। सरदार लोग युद्ध में विजय प्राप्त कर शत्रु को सन्धि के लिए विवश करते थे। अर्थसचिव राजकीय पद्धति पर विचार कर शत्रु के साथ होने वाली सन्धि की शर्तें रचते थे, पेशवा इन सब बातों पर विचार करते थे और सतारा के महाराज की मुहर उस पर लगाई जाती थी। इस प्रकार चौतन्त्री राच्य पद्धति चल रही थी। इसमें प्रत्येक तन्त्र को अपने से भिन्न तीन तन्त्रों का भी ध्यान रखना पड़ता था। जब तक ये चारों तन्त्र परस्पर आदरपूर्ण व्यवहार करते रहे तभी तक मराठाशाही में अन्तस्थ बल बना रहा। अंग्रेज लोग मराठाशाही का वर्णन करते हुए मराठी राज्थ न कहकर "मराठा संघ" कहा करते हैं और यही कहना उपयुक्त भी है। यह संघ जब तक रहा तब तक सारे भारत में सत्ता स्थापित करने की सम्भावना भी रही और इसके नष्ट होते ही वह सम्भावना भी नष्ट हो गई।

अस्तु, अब इस पर विचार करें कि संघ के अस्तित्व के समय मराठों ने जो सम्पूर्ण भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया सो किस प्रकार किया। उस समय एक ओर तो मराठों की मूल राजगद्दी सतारा में जीवित थी और उसे पूना में लाना पेशवा को इष्ट और शक्य नहीं था। दूसरी ओर से सतारा ही के समान निर्धन और निर्बल मुसलमानों की गद्दी दिल्ली में थी। ऐसे समय में पेशवा को, और व्यापक भाषा में कहा जाय तो सम्पूर्ण मराठों को, अपनी सत्ता भारतवर्ष भर में स्थापित करना कठिन था। इसलिये सतारा की गद्दी नष्ट करने में जितने विघ्न थे उनसे मुगलों की गद्दी नष्ट करने में कहीं अधिक थे। कुछ अंशों में राजनिष्ठा की भावना से पेशवा सतारा की गद्दी नष्ट नहीं करना चाहते थे, पर मुसलमानों की गद्दी के सम्बन्ध में यह बन्धन नहीं था। क्योंकि प्रतिपक्षी होने के कारण वे उसे नष्ट करना ही उचित समझते थे, तो भी उसे नष्ट करना उनके लिए कठिन था। अतः गद्दी नष्ट न कर उनकी सत्ता अपने हाथ में किस तरह ली जाय यही एक प्रश्न उनके सम्मुख था और शीघ्रता न कर धीरे धीरे उन्होंने उस प्रश्न को हल कर लिया। यह तो प्रसिद्ध ही है कि शाहू महाराज की मृत्यु के समय नाना साहब पेशवा ने उनसे राज्य

का सर्वाधिकार पत्र प्राप्त किया था। इस तरह सतारा की गद्दी के अधिकार हस्तगत करने में भी इन्होंने इसी युक्ति का अवलम्बन किया था। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि सतारा की सत्ता पूना में आने के बहुत वर्ष पहले दिल्ली की सत्ता रायगढ़ में लाने का प्रयत्न किया गया था। यह प्रयत्न स्वयं शिवाजी महाराज ने किया था और यह कहना उचित होगा कि इसी साध्य को अर्थात दिल्ली की बादशाहत की सत्ता को सिद्धि प्राप्त करने के साधन के रूप में सतारा की सत्ता पूना लाई गई थी। जिस समय पहले बाजीराव ने अपनी मराठी बादशाही पद्धति का विवेचन पूर्ण रीति से किया उस समय उसे समझने वाला राजा स्वयं शाहू महाराज सतारा की गद्दी पर था, परन्तु जब शाहू के बाद इस मर्म को समझने वाला राजा या चतुर नीतिज्ञ शासक सतारा में नहीं देखा गया होगा तभी नाना साहब को पूना में सत्ता लाने की सूझी होगी। शाहू का मृत्यु पत्र सच्चा हो या झूठा, परन्तु मुगलों की कार्यकारी सत्ता मराठों के हाथ में लाने का जो शिवाजी महाराज का विचार था, उसे ही सिद्ध करने के लिए उन्हें यह सब करना पड़ा। यद्यपि उन्होंने निजी महत्व बढ़ाया, तो भी साथ ही प्राचीन बादशाही पद्धति को भी आगे चलाया यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बादशाही नीति की कल्पना का यश शाहू महाराज के समय में करने वाले बालाजी विश्वनाथ पेशवा को प्राय: दिया जाता है, परन्तु इस नीति की मूल कल्पना बालाजी विश्वनाथ की न होकर महाराज शिवाजी ही की थी।

शिवाजी यह अच्छी तरह जानते थे कि कोई एक हक प्रतिपक्षी दूसरे हकों से अच्छी तरह मारा जा सकता है। मुगल शत्रु तो थे, पर वे जानते थे कि अपने स्वराज्य का और उनके राज्य में सत्ता प्राप्त करने का अधिकार भिन्न है। भेद विवेक उनके मन में भले ही न रहा हो, पर प्रगट में यही उन्होंने किया था। उनका पहला अर्थात स्वराज्य का अधिकार निसर्ग सिद्ध था, अत: उसके लिए शिवाजी मुगलों से लड़े। इस अधिकार के सम्बन्ध में आपस में समझौता होना असम्भव था। शिवाजी के पिता का भी मुगलों और मराठों में आपसी समझौते का ही व्यवहार रहा। इसके दो कारण कहे जा सकते हैं कि या तो शाहजी तक महाराष्ट्रीय राजा शिवाजी के समान ढीठ, साहसी अथवा प्राणपन से चेष्टा करने वाले नहीं रहे होंगे, दूसरे या उसके समय की परिस्थिति अधिक विकट रही होगी। कुछ भी हो, यह बात ठीक है कि शिवाजी के पहले के राजाओं ने छोटे से राज्य का ही क्यों न हो परन्तु स्वतन्त्र राजा बनने का हठ प्रत्यक्ष रीति से नहीं किया। अतएव मनसबदारी अथवा सरदारी के सन्मान से ही उन्हें सन्तोष होता रहा, परन्तु शिवाजी इस बहुमान से सन्तुष्ट न हो सके और अपने असन्तोष को यशस्वी बनाने की उनमें हिम्मत भी थी। अत: उन्होंने युद्ध में उतर कर स्वराज्य प्राप्त किया। शिवाजी की महत्वाकाँक्षा यद्यपि इतने से ही तृप्त होने वाली

नहीं थी, तो भी ऐसा दिखाई देता है कि जिस प्रदेश पर पहले मराठों का किन्चित भी अधिकार नहीं था और मुगलों ने उसपर अपनी सत्ता स्थापित कर रक्खी थी उसे अपने हाथ में लेने के लिए वे युद्ध करना उचित नहीं समझते थे।

मालूम होता है कि इसके लिए वे दोनों मराठे और मुसलमानों के समझौते से ही चलना उचित समझते थे। अर्थात् मुगलों के राज्य में उनकी सत्ता अस्वीकार न कर उनकी सत्ता का अंश मात्र, उनके प्रतिनिधि बनकर प्राप्त करना ही, इस समझाते की नीति थी। शिवाजी महाराज मुगलों के अनेक अथवा अनन्त अधिकारों में से चौथ या सरदेशमुखी के हक प्राप्त कर उसी के बल पर अन्त में सम्पूर्ण रुप से, या बहुत अँशों में, सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। सम्भव है कि इस युक्ति की स्पूर्ति शिवाजी महाराज के ही मस्तिष्क में प्राचीन इतिहास के परिशीलन से प्राप्त हुई हो। क्योंकि राजनीति और राजकरण कुशलता मनुष्य जाति के इतिहास के समान ही सनातन है इतिहास में भी 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' का न्याय ही बारम्बार दृष्टिगत होता है और तो क्या, न्यायमूर्ति रानड़े के, मराठी इतिहास के निबन्ध में, यह लिखने के समान कि:—उपाधिकारियों की सहायता से राज्य प्राप्त किया जाता है और एक अधिकार से दूसरा अधिकार मारा जाता है।" अंग्रेजों ने भी शिवाजी के सौ सवा सौ बर्षो के बाद इसी युक्ति का अवलम्बन किया अथवा उन्हें करना पड़ा। रानड़े महाशय कहते हैं कि:—"मुसलमान बादशाहीं के हाथों से निकलकर जो सर्वसत्ता अन्त में मराठा मन्डल के हाथ में आई उसकी समता का उदाहरण भारत के प्राचीन इतिहास में शायद ही दिखाई पड़ता हो, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दो के प्रारम्भ में मार्क्विस आफ वेलेस्ली ने जो एक बहुत बड़ा कार्य किया उसे इस घटना का साहश्य बहुत कुछ दिखलाइ पड़ता है। माक्फिस आव वेलस्ली ने भारतीय राजा महराजाओं के साथ, खर्च लेकर सेना की सहायता देने की सन्धियां कर, उनसे यह ठहराव किया था कि प्रत्येक संस्थानिक अपने खर्च से अपने सहायतार्थ अंग्रेजी फौज रक्खे। इस प्रकार की संधियों के कारण अन्त में ब्रिटिश कन्पनी ने सम्पूर्ण भारत पर स्वामित्व प्राप्त किया।

रानड़े इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दे सकते थे। अर्थात् इस सन्धि के भी चालीस वर्ष पहले ईस्ट इण्डिया कन्पनी ने दिल्ली के बादशाह से जो दीवानगीरी प्राप्त की थी उसका क्या यह हेतु नहीं था कि कनिष्ठ अधिकारों द्वारा वरिष्ठ अधिकार प्राप्त किये जायं ? यदि रानड़े के शब्दों में ही कहा जाय तो अंगरेजों की यह कल्पना शिवाजी की कल्पना की पुनरावृति ही थी। मुगलों के दास अथवा नौकर कहलाते ही अंग्रेजों को स्वामित्व प्राप्त हो गया था इस कल्पना में शिवाजी की कल्पना से केवल इतना ही अन्तर था कि यह अधिक सुधरे हुए तत्वों पर प्रारम्भ की गई थी, पर अंगरेजों ने जो बात सरंजामी फौज रखकर सिद्ध करनी चाही थी वही बात मराठों

ने चौथ और सरदेशमुखी की सनदों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। यह बात अलग है कि इनमें से एक का प्रयत्न सिद्ध हुआ और दूसरे का न हो सका, परन्तु दोनों के प्रयत्नों की मानसिक भूमि एक ही थी, दोनों के साध्य साधन की योजना भी एक ही स्वरूप की थी और दोनों की पद्धति भी भिन्न नहीं थी। चौथ तथा सरदेशमुखी का वास्तविक स्वरुप क्या था, इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए मराठों ने किस प्रकार प्रयत्न किया तथा उसका फल क्या हुआ इस पर अब यहां विचार करना उचित होगा।

चौथ के अधिकार का पूर्ण विवरण इस प्रकार है कि मुसलमानों के आने के पहले समस्त देश हिन्दूओं के अधिकार में था। दशवीं और ग्यारहवी शताब्दी के बाद इस देश पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारम्भ हुआ। पहले ही पहल उन्होंने पंजाब प्रान्त पर अधिकार किया। उसके बाद गंगा और यमुना नदियों के किनारे पूर्व की ओर जाकर बंगाल प्रान्त सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। फिर मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों को क्रमशः लेकर सम्पूर्ण भारत पर अपना सिक्का जमाया। परन्तु इतने प्रान्तों पर सैनिक शक्ति द्वारा अधिकार बनाये रखना उनके लिए कठिन था। ऐसी दशा में वे सदा के लिए राजकीय व्यवस्था भी नहीं कर सक्ते थे इसलिए उन्होंने व्यवस्था के लिये सूबेदारों को भेजना प्रारम्भ किया। समय पाकर ये सूबेदार लोग स्वयं स्वतन्त्र नवाब बन गये। ये लोग बीच बीच में कभी कभी राज्य कर वसूल करके भेज देते थे और बाकी खर्च में बतलाते थे, परन्तु बादशाही सत्ता को अस्वीकार कोई नहीं करता था। बादशाही अधिकारों का इस प्रकार उपमर्दन करने वालों को दंड देने की शक्ति दिल्ली के दरबार में नहीं रही थी। इसके सिवा दिल्ली में जो राज्य क्रान्तियाँ होती थीं, उनके कारण बादशाह को राज्य के अन्य प्रदेशों का शासन करने को और लक्षय देने का अवसर ही नहीं मिलता था। औरङ्गजेब के बाद कोई भी बादशाह सेना लेकर प्रान्त के अधिकारियों का विद्रोह नष्ट करने अथवा प्रान्त जीतने के लिए दिल्ली से बाहर नहीं निकला। यह कहना अनुचित न होगा कि अंग्रेजों के बाद दिल्ली में अराजकता ही उत्पन्न होती रही।

मुसलमान सूबेदारों को स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का हक नहीं रहा होगा, परन्तु जिनका राज्य मुसलमानों ने जीता था उनको अर्थात् शिवाजी प्रभृति मराठों को अपना राज्य जीतकर या अन्य रीति से वापिस लेने का अवश्य अधिकार था, और शिवाजी ने ऐसा किया भी। अर्थात् बीजापुर और दिल्ली के मुसलमानों से अपना स्वराज्य शिवाजी ने जीत लिया। परन्तु शिवाजी की इतने से ही तृप्ति नहीं हुई और यह है भी ठीक। क्योंकि जब हिन्दू बादशाहत पर हिन्दू राजाओं का निसर्ग सिद्ध

हक था तो भला शिवाजी अपने राज्य की मर्यादा महाराष्ट्र तक ही संकुचित कैसे कर सकते थे ? परन्तु शिवाजी की यह महत्वाकांक्षा उनके सन्मुख सिद्ध न हो सकी। क्योंकि उनके मरण समय तक दिल्ली के बादशाह का शासन जोरों पर था। इसलिये बड़े कष्टों से वे स्वराज्य के छोटे से प्रदेश पर ही स्वतन्त्र राजा हो सके यद्यपि औरंगजेब के जीते जो शिवाजी का, स्वत: का राज्याभिषेक करवाना, अपने नाम के सिक्के चलाना, अपना सम्वत् शुरू करना छत्रपति कहलाना कुछ कम पराक्रम की बात नहीं नहीं थी, तो भी वे समस्त देश पर सन १६७४ तक सत्ता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा को पूरी करने में समर्थ न हो सके।

स्वराज्य के सिवा शिवाजी ने जो अहमदनगर और बीजापुर के बादशाहों के किले और प्रदेश जीते थे, उन पर अधिकार करने की मनाई औरङ्गजेब नहीं कर सकता था। क्योंकि ब्राम्हणी राज्य पर दिल्ली के बादशाह का क्या अधिकार था ? परन्तु सन् १६६५-६६ में औरंगजेब ने जयसिंह को भेजकर जब शिवाजी को रण-कुंठित किया तब शिवाजी ने वे किले और प्रदेश दिल्ली के बादशाह की आज्ञा से अपने अधिकार में रखने का विचार किया। मुगलों का जो प्रदेश शिवाजी ने ले लिया था वह तो शिवाजी को वापिस करना ही पड़ा, साथ ही अहमदनगर राज्य के ३२ किले तथा अन्य प्रदेश शिवाजी ने बादशाह की दी हुई जागीर के नाते से रखना, चाहे साथ ही आठ वर्ष की अवस्था के सम्भाजी (शिवाजी के पुत्र) का बादशाह की पांच हजार की मनसबदारी और बीजापुर राज्य के कुछ हिस्से से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त करना चाहा और वह मिला भी। अन्तिम अधिकार के लिये शिवाजी ने बादशाह को ४० लाख रुपये १३ किस्तों में देना स्वीकार किया। अर्थात् अपने राज्य के स्वतन्त्र राजा, बादशाह के जागीरदार तथा बादशाही मनसबदार के पिता इस प्रकार तीन नाते शिवाजी में एक जगह एकत्रित हुए थे। इससे विदित होता है कि उनका मुख्य लक्ष्य राज्य प्राप्त करने पर था और ये नाते उसके साधन थे। ये शर्तें कर शिवाजी बादशाह के पास गये और वहाँ वे कैद कर लिये गये, परन्तु वहाँ से लौटकर जब वे आये तब उन्होंने मुगलों के किले जीते।

बादशाह से सनद लेने का प्रयत्न शिवाजी ने १६५० में प्रारम्भ किया। इस वर्ष शिवाजी ने सरदेशमुखी के बदले में ५ हजार सेना रखकर बादशाह की नौकरी करने की प्रार्थना शाहजहाँ से की, परन्तु उसका कुछ उपयोग नहीं हुआ। सन १६५७ में यही प्रार्थना जब औरंगजेब दक्षिण में आया तब फिर शिवाजी ने की। औरंगजेब ने एक सेना रखकर दाभोल आदि कोंकन के बीजापुर राज्य के थाने जीतने और दिल्ली की ओर कोई झगड़ा होने पर दक्षिण की ओर का मुगलों का राज्य सम्हालने

की शर्त पर शिवाजी को शाहजहां से सरदेशमुखी की सनद दिलाने का भरोसा दिया और इसके लिये शिवाजी की ओर से रघुनाथ पन्त और कृष्णाजी पन्त बातचीत करने के लिये दिल्ली भेजे गये, परन्तु उसका भी कुछ फल नहीं हुआ। इसके बाद सन १६६६ में शिवाजी ने जयसिंह की मध्यस्थता में सरदेशमुखी के साथ साथ हक भी माँगा, परन्तु यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। इसके बाद सन १६६७ में शिवाजी को बरार में एक जागीर और राजा की पदवी देकर बादशाह ने गौरवान्वित किया और इसे लेकर चौथ की सनद मिलने के पहले ही शिवाजी ने बीजापुर और गोलकुन्डा में मुसलमानी राज्यों में चौथ वसूल करने का प्रारम्भ भी कर दिया और राज्याभिषेक के बाद पोर्तुगीजों के देश में भी शिवाजी ने इस अधिकार का उपयोग किया। इसके दो वर्ष बाद शिवाजी ने कर्नाटक पर चढ़ाई की और वहां भी यह हक वसूल करना प्रारंभ किया। शिवाजी ने हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं से खंडनी लेकर बदले में उनकी रक्षा करने की पद्धति को भी प्रारंभ कर दिया था। शिवाजी ने सनद मिलने की बाट न देख यही कहना शुरू कर दिया था कि ऐसी सनद का मिलना हमारा अधिकार है और उसे बादशाह अस्वीकार नहीं कर सकते।

यद्यपि बीजापुर के राज्य से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने और इस प्रकार मुसलमानी राज्यों में अपनी सत्ता का बीजारोपण करने की पद्धति शिवाजी के समय में सफल न हो सकी थी तो भी मराठे इसे भूले नहीं थे और जो अधिकार शिवाजी को बीजापुर के राज्य में न मिल सका वह उनके वंशज शाहू महाराज ने मुगलों के राज्य में प्राप्त किया। सन १७०६ में औरङ्गजेब ने शाहू महाराज की मार्फत दक्षिण के छः सूबों में से प्रतिशत दसवां हिस्सा को देने की शर्त पर युद्ध बन्द करने की बातचीत शुरू की। शाहू महाराज पहले दिल्ली में कैद थे। परन्तु उन्होंने उस कैद से लाभ उठाया। अर्थात मुगल दरबार से अपना संबंध जोड़ लिया। सन् १७०७ से शाहू महाराज ने दिल्ली के दरबार में अपना वकील भेजना प्रारंभ किया। इसी वर्ष मुगलों के सूबेदार दाऊदखाँ ने मराठे सरदारों से सन्धि कर कुछ प्रान्तों में चौथ का हक दिया। १७०९ से १७१३ तक शाहू महाराज के अधिकारियों ने इस चौथ को वसूल भी किया। सन १७१५ में मुगलों की ओर से शाहू महाराज को दस हजारी मनसबदारी मिली और अन्त में १७१८ में स्वयं बालाजी विश्वनाथ पेशवा दिल्ली गये और बादशाह से चौथ, सरदेशमुखी और स्वराज्य की सनद लाये। वहाँ से आते समय दिल्ली में मराठों के वकील को सदा के लिये नियत कर आये। यही सनद, आगे जाकर, मराठों ने जो भारतवर्ष को जीता और खंडनी वसूल की उसकी नियमानुकूल जड़ थी।

चौथ की सनद से (१) औरङ्गाबाद, (२) बरार, (३) बीदर, (४) बीजापुर, (५) हैदराबाद, (६) खानदेश—इन छः सूबों की एक चतुर्थांश आमदनी का हक शाहू को मिला। इसके बदले में बादशाह के रक्षार्थ १५ हजार फौज रखने का अधिकार था। शाहू के वकील ने बादशाह को जो अधिकार पत्र लिख दिया था उसका अनुवाद इस प्रकार है कि—"स्वामी की सेवा में लवाजमें सहित मन, वचन, कार्य से तत्पर रहकर प्रजा की वृद्धि करने और सरकारी राज्य की सवाई बात रखने के साथ साथ शत्रु और विद्रोहियों का नाश करेंगे और १५ हजार सेना सूबेदार के पास रखकर प्रजा को आप के प्रति भक्त बनाये रखेंगे। उजाड़ गाँवों को तीन साल में बसा देने का प्रबन्ध करेंगे और दुष्टों का उपद्रव न होने देंगे। यदि किसी के घर में चोरी होगी और किसी का माल चोरी जायगा तो चोर को दंड दिया जायगा। तथा जिसका माल होगा उसको दिलाया जायगा! चोर को दंड हो जाने पर चोरी का माल नहीं मिलेगा तो हम उसका पता लगायेंगे सरदेशमुखी से अधिक और किसी प्रकार का कर नहीं लेंगे। यदि इससे अधिक ले लें भी तो जितना अधिक लेने का सुबूत होगा उतना सरकार में जमा कर देंगे।" चौथ की सनद के दस दिन बाद सरदेशमुखी की सनद दी गई। यह सनद वंश परम्परागत थी। अतः इस सनद की भेंट में पौने बारह करोड़ रुपये देना शाहू महाराज की ओर से स्वीकार किया गया था जिसमें से २ करोड़ ९३ लाख रुपये पहले देने का करार था बाकी के आठ करोड़ ८२ लाख रुपयों की किस्तबन्दी की गयी थी। सरदेशमुखी की वार्षिक आय अनुमानतः १ करोड़ ८० लाख थी। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यह अंक कागज ही में थे वास्तव में आमदनी इससे बहुत कम थी।

बालाजी विश्वनाथ के बाद बाजीराव पेशवा हुए। उसकी नीति पहले से ही उत्तर की ओर राज बढ़ाने की थी। १७२४ में उन्होंने मालवा में फौज भेजी। बाजीराव पेशवा अपने पिता के साथ दिल्ली हो आये थे अतः उन्हें वहाँ के दरबार की परिस्थिति का ज्ञान अच्छी तरह हो गया था। इसके सिवा वे नीतिज्ञ शासक होने के साथ साथ तलवार रण-कुशल बहादुर भी थे। इसलिये शाहू के दरबार में जब बादशाही नीति के सम्बन्ध में विवाद उपस्थित होता, तब बाजीराव का कहना शाहू महाराज के सहित अन्य बहुत से दरबारियों को मान्य होता, इस विवाद का वर्णन इतिहासकार ने अच्छी तरह किया है।

शाहू को निजाम हैदराबाद के सूबे से भी चौथ वसूल करने का अधिकार था। बादशाह से मिलकर उसने इस बात पर बहुत दुःख प्रगट किया और वह सदा इस बात के प्रयत्न में रहने लगा कि किसी तरह भी पेशवा को नीचा दिखाकर अपना राज चौथ की वसूली के हक से छुड़ा लूं, अतः प्रतिनिधि की सहायता से

निजाम ने शाहू को इन्द्रापुर की जागीर देकर चौथ माफ कराने का षड़यन्त्र रचा और यह कह कर कि शाहू के समान सम्भाजी भी चौथ वसूल करने का अपना अधिकार प्रगट करते हैं, अत: वास्तविक अधिकारी का निर्णय होने तक वसूली को बन्द कर दिया और वसूली के लिये आये हुए शाहू के कर्मचारियों को भगा दिया, तब युद्ध कर बाजीराव ने निजाम को पराजित किया और चौथ तथा सरदेशमुखी का अपना अधिकार निजाम से स्वीकार कराया (१७३२)। इस घटना के तीन वर्ष पहले सरबुलन्दखां ने सूरत छोड़कर सम्पूर्ण गुजरात प्रान्त के लिए चौथ और सरदेश-मुखी वसूल करने का अधिकार पेशवा को दिया। इन अधिकारों के बदले में पेशवा ने बादशाह की रक्षा के लिए २५०० सेना रखना स्वीकार किया। इस प्रकार निजाम और कोल्हापुर वालों से युद्ध कर तथा बादशाह से एक पर एक नवीन सनदें प्राप्त कर कायदा और बल के भरोसे चौथ का महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त किया और उसे सम्पूर्ण भारत से स्वीकार कराया। १७३० में बाजीराव ने महम्मदखाँ को पराजित किया और बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल को मुक्त किया। अत: छत्रसाल ने उन्हें झाँसी के समीप सवा दो लाख की जागीर देना स्वीकार किया तथा अपने राज्य का तीसरा हिस्सा भी दिया। इसके आगे के वर्ष में आगरा और मालवा प्रान्त के नये सूबेदार जय सिंह ने बाजीराव को मालवा प्रांत की सूबेदारी देना स्वीकार किया और इसके अनुसार बाजीराव ने मालवे में चौथ वसूल करना प्रारम्भ किया। इतना ही नहीं किन्तु बाजीराव ने मालवा प्रान्त पर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमाने का निवेदन करना आरम्भ किया और इस समय दौरानखां ने बाजीराव को सरदेश-मुखी की सनद गुप्त रीति से भेजी भी, परन्तु जब बाजीराव को यह मालूम हुआ तो उसने और भी अधिक मांग बादशाह के सन्मुख उपस्थित की। बाजीराव ने मांडू और धार के किले चम्बल नदी के दक्षिण प्रदेश की जागीर फौजदारी के अधिकार और खर्च के लिये पचास लाख रुपये मांगना प्रारम्भ किया। परन्तु बादशाह ने छ: लाख रुपये नकद लेकर पेशवा को छ: सुबों की सरदेशमोडगीरी ही दी। निजाम ने जब देखा कि खान दौरान ने अपना शत्रुत्व सिद्ध करने के लिए ये सब बातें की हैं, तब वह बाजीराव से लड़ने के लिए सेना के साथ दिल्ली पहुँचा और बाजीराव से लड़ने का विचार करने लगा। बाजीराव भी अस्सी हजार सेना के साथ लम्बी लम्बी मंजिलें मारते हुए दिल्ली पहुँचे। मुगल भी सेना सहित बाहर निकले, परन्तु उनकी पराजय हुई। बाजीराव दिल्ली में इससे अधिक न रह सके और जरूरी कामों के आ पड़ने से वे दक्षिण को लौट आये और वह कार्य सिद्ध न हो सका। १७३८ में बाजीराव फिर नर्मदा उतर कर गये और भोपाल के युद्ध में निजाम को पराजित किया। तब अन्त में दौराईसराई नामक गांव में दोनों की सन्धि हुई और निजाम

ने बाजीराव को ५० लाख रुपये नकद तथा चम्बल और नर्मदा के बीच का प्रदेश बादशाह से दिलाना स्वीकार किया। सन् १७६९ में मराठों ने पोर्तगीजों से युद्ध कर बसई प्रभृति किले छीन लिए। उनकी यह बात भी बादशाही नीति ही की द्योतक है।

इसी वर्ष ईरान के बादशाह नादिरशाह ने दिल्ली लेकर वहाँ कत्ल किया। उसी समय यह अफवाह भी उड़ी कि वह १ लाख सेना लेकर दक्षिण पर चढ़ाई करने वाला है। इस संकट के समय दिल्ली के बादशाह को बाजीराव के सिवाय अन्य किसी का आश्रय नहीं था। अतः बाजीराव एक बड़ी भारी सेना के साथ दिल्ली के लिए निकले। इस सेना में हिन्दुओं के समान मुसलमान भी शामिल हुए। सिन्धिया और होलकर उनसे आते ही मिले थे तथा बसई को ले लेने के बाद चिमाजी अप्पा भी उनमें जाकर मिलने वाले थे, परन्तु इतने में ही नादिरशाह, बादशाह को तख्त पर बैठाकर दिल्ली से चला गया। तब बाजीराव ने बादशाह को पत्र लिखकर उनका अभिनन्दन किया और १०१ मुहरों का नजराना भेजा। बादशाह ने भी बाजीराव के लिए हाथी, घोड़ा जवाहिरात और पोशाक सहित आभार—प्रदर्शक-पत्र भेजा, परन्तु बादशाह की इस भेंट में भी मालवा की सनद पेशवा को नहीं मिली। यह देखकर और इसमें निजाम का कपट समझ कर उसको दक्षिण में पराजित करने का विचार बाजीराव ने किया। परन्तु इतने ही में नर्मदा के तट पर सन् १७४० में उनकी मृत्यु हो गई।

नादिरशाह ने काबुल, मुल्तान आदि प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये और इस तरह दिल्ली के बादशाह का तेज फीका पड़ गया। दिल्ली से सौ सौ मीलों पर मुसलमानी राज्यों का उदय होने लगा। खान दौरान मारा गया और कमरुद्दीन खां प्रभृति तूरानी मुसलमानों के जाल दिल्ली के आसपास फैलने लगे। राजपूत भी धीरे धीरे स्वतन्त्र होने लगे। जाट, मराठों के स्नेही बन गये और रूहेलों ने स्वतन्त्र सूबा स्थापित करने का विचार किया। अंग्रेज और फ्रेंच इस समय अशक्त थे। वे मराठों से युद्ध कर अपना निर्वाह करना कठिन समझते थे। अतः व्यापारी पद्धति से आरजू मिन्नतों के द्वारा अथवा रिश्वत देकर अपना काम निकालते थे। इन कारणों से बाजीराव के पुत्र नाना साहब पेशवा को अपनी बादशाही नीति का उपयोग करने का अवसर मिला। इसी समय के लगभग भोंसले ने बंगाल पर चढ़ाई की और नाना साहब ने इलाहाबाद पर चढ़ाई करने का विचार किया। बंगाल में अलीवर्दीखाँ और मराठों की सेना का परस्पपर युद्ध हुआ और भोंसले के कारभारी भास्कर पन्त ने हुगली शहर पर अधिकार कर लिया। तब अलीवर्दीखाँ ने बादशाह और पेशवा से सहायता मांगी। भास्कर पन्त के पीछे भोसले बंगाल में घुसने लगे। तब उनके पन्जे

से बंगाल को छुड़ाने के लिए बादशाह ने नाना साहब पेशवा को पत्र लिखकर प्रार्थना की कि मैं खर्च के लिए कुछ नकद रुपये और मालवा की सनद तुम्हें देता हूँ, तुम किसी भी तरह भोंसले के संकट से बंगाल को मुक्त करो। यह विनती स्वीकार कर नाना साहब इलाहाबाद से मुर्शिदाबाद गये और वहाँ से नीचे जाकर राघो जी भोंसले को पराजित किया। पेशवा का यह कार्य देखकर तथा पूर्व इतिहास पर ध्यान देकर मुहम्मदशाह बादशाह को मालवा की सनद पेशवा को देना आवश्यक हुआ। परन्तु इतना भारी प्रदेश देने से अपनी अप्रतिष्ठा समझ बादशाह ने ऊपर से दिखाने के लिए अपने पुत्र शहजादा अहमद को मालवा का सूबेदार बनाया और पेशवा को उसका दीवान अथवा मुतअल्लिक नियत किया। नाना साहब ने चार हजार के बदले १२ हजार सेना रखना स्वीकार किया। इस आठ हजार सेना का खर्च बादशाह पर था। यह सन्धि इस प्रकार करा देने में पेशवा को राजा जयसिंह और निजाम की सहायता थी। इस सन्धि की शर्तों का पालन करने के लिए मुहम्मदशाह बादशाह की जामिनी राजा जयसिंह ने ली और पेशवा की ओर से मल्हारराव होलकर, राणो जी सिन्धिया तथा पिलाजी जाधव जामिनदार बने।

इसके बाद अहमदशाह की भोंसले और पेशवा की काम चलाऊ मैत्री शाहू महाराज की अध्यक्षता में हुई और उसमें यह ठहरा कि बङ्गाल भोंसले को दिया जाय। पेशवा को सतारा के महाराज ने सनद दी तथा पेशवा को उनकी पहले की दी हुई जागीर, कोकण तथा मालवा प्रान्त का आधिपत्य, इलाहाबाद, आगरा और अजमेर की खण्डनी, पटना प्रान्त के तीन ताल्लुके, अर्काट जिले की खन्डनी में से २० हजार रुपये और भोंसले के राज्य में से कुछ गाँव दिये। लखनऊ, पटना, दक्षिण बंगाल, बिहार और बरार से कटक पर्यन्त की खन्डनी वसूल करने का अधिकार भोंसले को दिया गया। इसके बाद शाहू महाराज का मृत्युकाल नजदीक आ गया। उस समय महाराज ने नानासाहब पेशवा के नाम पर इस प्रकार सनद दी कि "अब से सम्पूर्ण मराठी राज्य का कारबार पेशवा करें। परन्तु सतारा की गद्दी का पूर्ण सन्मान सब तरह से रक्खें।" मराठाशाही में इस प्रकार सदा के लिए दीवानगीरी की सनद पेशवा को मिल जाने से उनकी बादशाही नीति को और भी अधिक बल प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात बादशाह के शासनकाल में उनके वजीर सफ़दरगंज ने उन्मत रूहेलों का दमन करने के लिये शस्त्र उठाये। इस कार्य में मल्हारराव होलकर और जयप्पा सिन्धिया ने मराठों को गंगा और यमुना नदी के बीच का प्रदेश पारितोषक में दिया (१७४८)। इसी समय के लगभग अहमदशाह अबदाली ने भारत पर चढ़ाई करने का फिर प्रारम्भ किया और बादशाह से मुलतान तथा लाहौर शहर छीन भी लिये। इसलिये वजीर सफदरगंज को मराठी सेना की आवश्यकता हुई। तब रूहेलों से

युद्ध करने में जो खर्च पड़ा उसके बदले ५० लाख रुपयों का कागज लिखवाकर मराठी फौज ने सहायता दी। दिल्ली के अधिकारी लोगों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया था अतः दिल्ली के आसपास वजीरों में परस्पर युद्ध होने लगा। तब होलकर दिल्ली गये और उनकी सहायता से दूसरे आलमगीर बादशाह सन् १७५४ में गद्दी पर बैठे। सन् १७५६ में नाना साहब ने रघुनाथराव को बड़ी भारी सेना देकर उत्तर भारत में भेजा। इनकी सहायता से वजीर शहाबुद्दीन ने दिल्ली शहर और आलमगीर बादशाह को अपने कब्जे में कर लिया। तब अवदाली के प्रतिनिधि नजीबुद्दौला को भाग जाना पड़ा। रघुनाथराव बहुत दिनों तक दिल्ली के पास पड़े रहे। फिर लाहौर से आदिनावेग ने इन्हें बुलाया और वहाँ जाकर इन्होंने उसकी सहायता से लाहौर ले लिया (१७५८) तथा आदिनावेग के सहायतार्थ कुछ सेना रखकर आप दक्षिण को लौट आये। इस चढ़ाई में रघुनाथराव ने ७० लाख का कर्ज कर लिया था। अतः राज्य कार्य सम्हालने वाले सदासिवराव भाऊ और रघुनाथराव में झगड़ा हुआ तब यह ठहरा कि आगे से सदाशिवराव भाऊ ही चढ़ाई पर जाया करें। मराठों के लाहौर ले लेने के समाचार जब अबदाली को मिले तब उसने फिर भारत पर चढ़ाई की। इधर दिल्ली में भी राज्य क्रान्ति हो गई और उधर अब्दाली की फौज ने लाहौर छीनकर मराठी सेना को भगा दिया। इसके बाद वह जमुना नदी उतर कर रूहेलों की सेना में मिलने को चला। उस समय होलकर और सिंधिया के साथ थोड़ी ही सेना थी। अतः वे भी पीछे हट गए। जब ये समाचार दक्षिण पहुँचे तब मराठों ने फिर उत्तर पर चढ़ाई करने की तैयारी की। उदयगिरि के युद्ध में विजय पाये हुए सदाशिवराव सेनापति, नाना साहब पेशवा के पुत्र विश्वासराव को साथ सेना लेकर, उत्तर भारत की ओर रवाना हुए और १७६१ में प्रसिद्ध पानीपत की लड़ाई हुई जिसमें मराठों की बड़ी भारी हार हुई और उस समय यह दीखने लगा कि दिल्ली के बादशाह से मराठों का जो संबंध हो गया है वह सदा के लिये टूट जायगा और उनकी बादशाही नीति का अन्त भी यहीं होगा।

परन्तु यह स्थिति भी बहुत दिनों तक नहीं रही। पानीपत में अपनी पराजय से यद्यपि मराठों की बहुत हानि हुई थी पर जिसके लिये वह युद्ध हुआ था वह कारण था दिल्ली के बादशाह की निर्बलता और दिल्ली दरबार के षडयन्त्रकारी अमीर उमरावों में परस्पर की अनबन। दिल्ली की ओर मराठों का सेना लेकर जाना बालाजी विश्वनाथ पेशवा के समय में प्रारम्भ हुआ था। परन्तु उस समय भी और पानीपत के युद्ध के समय में मराठे निज के लिए नहीं, किन्तु बादशाह की प्रार्थना से उनके रक्षार्थ दिल्ली गये थे। दिल्ली में पानीपत के युद्ध के ५० वर्ष पहले से दो पक्ष

थे। यदि स्थूल शब्दों में कहा जाय तो इन दोनों का नाम मुसलमान अभिमानी और हिन्दू अभिमानी कहना उचित होगा। इनमें से पहले पक्ष का कहना था कि हिन्दू, विशेषत: मराठों को उत्तर भारत में बिलकुल आश्रय नहीं देना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता था जैसे हो सके वैसे भारतवासियों के हाथ से ही बादशाहत की रक्षा करनी उचित है चाहे बादशाह के ऋणानुबन्धी मित्र हिन्दू ही क्यों न हों।

स्वयं दिल्ली की बादशाहत के विचार भी इस दूसरे दल के विचारों के अनुसार थे। उन्हें ईरान और अफगानिस्तान के स्वधर्मियों की अपेक्षा हिन्दू लोगों की सहायता अधिक ग्राह्य प्रतीत होती थी। इसका कारण यह हो सकता है कि अफगानिस्तान और ईरान के मुसलमान राजाओं में दिल्ली हस्तगत कर अपना राज्य स्थापित करने की इच्छा का होना बहुत सम्भव था, परन्तु हिन्दुओं के संबंध में बादशाह का यह संशय नहीं था कि वे प्रबल हो जाने पर भी दिल्ली की बादशाहत नष्ट कर हिन्दू बादशाहत स्थापित करने की आकांक्षा करेंगे, शाहजहां बादशाह के समय से हिन्दुओं को सहायता लेना प्रारम्भ हुआ था और सब हिन्दुओं में मराठों को प्रबल देखकर अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से बादशाहत की रक्षा का कार्य मराठों को दिया गया था। अफगानिस्थान के राजा के समान हिन्दुस्थान के मुसलमानी नवाबों को भी स्वार्थी समझकर उन पर विश्वास करना उचित न समझा गया और दक्षिण के छ: सूबे की चौथ का अधिकार मराठों को देखकर संकट के समय बादशाहत की रक्षा का भार मराठों को दिया गया। तब इसी अधिकार के बल पर मराठे सेना लेकर दिल्ली की ओर जाने लगे।

नादिरशाह और अबदाली ने मुसलमानाभिमानी पक्ष के उसकाने से दिल्ली पर चढ़ाई की थी। परन्तु वे लोग दिल्ली में न तो स्वयं स्थायी रीति से रह सके और न अपनी सेना ही रख सके। इसलिए पानीपत के बाद फिर दिल्ली से मराठों का आमन्त्रण आने लगा। यद्यपि पानीपत में मराठों का पतन हो गया था और उनकी एक पीढ़ी की पीढ़ी मारी गई थी और न मराठा संघ ही टूट पाया था। पर आगे की पीढ़ी में पानीपत के अपयश को धोने की मराठों की प्रबल आकांक्षा भी थी अत: उनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। इधर १७६१ के बाद भी दिल्ली में अराजकता दिन पर दिन बढ़ ही रही थी और इसलिए कितने ही दिनों तक दिल्ली के बादशाह को भी दिल्ली छोड़कर इधर उधर भटकना पड़ा था। बादशाह के दीवान और उमरावों का दिल्ली में तुमुल युद्ध हुआ और पानीपत के युद्ध में वर्ष के भीतर ही बादशाह ने अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानगीरी देकर मराठों के समान और दूसरा मित्र बना लिया, परन्तु अंग्रेजों में अभी इतना आत्म-विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था कि वे अपने को देहली के राज-काज में हाथ डालने के

योग्य समझते तथा बंगाल, अयोध्या और रुहेलखन्डी में इनका दबदबा भी नहीं जमा था, इसलिए आत्मरक्षा के लिए बादशाह को मराठों के सिवा अन्य किसी से आशा नहीं थी और मराठों को भी पानीपत में संकट देने वाले नजीबखाँ प्रभृति शत्रुओं को पराजित करना था। अतः शाहआलम के अपनी रक्षार्थ प्रार्थना करने पर मराठों ने बड़े आनन्द से उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया।

१७६८ में दक्षिण में शान्ति हो जाने पर सिन्धिया और तुकोजीराव होलकर उत्तर भारत में आये। १७७० में नजीब खाँ के मर जाने से मराठों का प्रबल शत्रु कम हो गया, तब महादजी सिन्धिया ने शाहआलम बादशाह को दिल्ली के तख्त पर बैठाया। शाहआलम इस समय अँग्रेजों के सैन्य समूह में ठहरा हुआ था और वहाँ से वह बड़े प्रभाव के साथ सिंधिया के सैन्य समूह में आया था। यह बात यहाँ ध्यान में रखने योग्य है, क्योंकि इससे उस समय के मराठा और अंगरेजों के बलाबल का पता लगता है। बादशाह का मराठों के पास जाना अंगरेजों को सहन नहीं हुआ इसलिए उन्होंने बादशाह को मराठों की संगति न करने का उपदेश भी दिया, परन्तु बादशाह ने उसे मान्य नहीं किया, क्योंकि एक तो मराठों की सहायता लेने की परम्परा बादशाही घराने में चली आती रही, दूसरे अंगरेज उन्हें तख्त पर बैठने का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं थे। फिर स्वयं भी सहायता न देकर दूसरों की सहायता लेने की मनाई करने वाले स्वार्थी अंग्रेजों की बात, दिल्ली जाने के लिए तत्पर बादशाह को कैसे पसंद हो सकती थी।

महादजी शाहआलम को दिल्ली ले जाकर तख्त पर बिठला दिया। परन्तु स्वयं महादजी वहाँ अधिक दिनों तक न रह सके, क्योंकि पूना में (१७७३) नारायण-राव का खून हो जाने से नानाफड़नवीस को महादजी की आवश्यकता हुई और सालबाई की सन्धि होने तक पेशवाई राजकार्य में लग जाने से दिल्ली की ओर ध्यान देने का महादजी को अवसर नहीं मिला, परन्तु इन आठ वर्षों में ही महादजी ने दिल्ली में अपना पांव अच्छी तरह जमा लिया था और वह इस तरह कि अंग्रेज और पेशवा के परम्परा के सम्बन्ध में महादजी ने अगुवा का मान प्राप्त कर अंग्रेजों से यह स्वीकार करा लिया था कि हम दिल्ली के राजकाज में हाथ न डालेंगे और केवल सिन्धिया को ही बादशाह की व्यवस्था करने का अधिकार रहेगा। १७७४ में वारन हेस्टिंगज गवर्नर जनरल हुआ। इसका और महादजी का परम्परा में प्रेम बहुत कुछ हो गया था और वह प्रेम उसके बिलायत वापिस जाने तक अबाधित बना रहा। यद्यपि इस बीच में अंग्रेजों ने भी दिल्ली के एक शाहजादे को अपने हाथ में कर लिया था, परन्तु वे इस मोहरे का उपयोग यथेष्ट रीति से न कर सके।

सालवाई की सन्धि के बाद दक्षिण से अवसर मिलते ही महादजी फिर दिल्ली को गए और वहाँ की स्थिति देखकर वर्तमान अधिकारों से अधिक अधिकारों के प्राप्त किये बिना काम चलना कठिन देख बादशाह से उन्होंने और अधिक अधिकार मागे। तब बादशाह के पेशवा के नाम पर 'वकील मुतलकी' देकर पेशवा की ओर से सिंधिया को काम काज करने का अधिकार देने का निश्चय किया। परन्तु इस समय दक्षिण के विरुद्ध उत्तर की स्पर्द्धा उत्पन्न हुई अर्थात राजपूत, जाट और मुसलमानों ने एका कर महादजी से युद्ध प्रारम्भ किया। सन १७८५ में लालसोट के युद्ध में राज पूतों ने महादजी को पराजित किया इस समय महादजी बादशाही सेना को लेकर बादशाही सरदार के नेता से लड़ते थे परन्तु उन्हें तुरन्त ही यह विश्वास हो गया कि सेना पर विश्वास करना उचित नहीं है, क्योंकि एक दो बार ठीक मौके पर यह सेना विश्वास-घात कर शत्रु से जा मिली थी तब अपनी विश्वास मराठी सेना के आये विना दिल्ली जाना उचित न समझ महादजी ने पेशवा से सेना की सहायता माँगी और इस सहायता के आने तक आप मथुरा के आसपास रहे। कई लोगों का कहना है कि बादशाह के कई बार आग्रहपूर्वक बुलाने पर भी महादजी बादशाह के सहायतार्थ नहीं गए। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इतिहास संग्रह में जों दिल्ली के राजकरण सम्बन्धी पत्र व्यवहार प्रसिद्ध हुआ है उससे विदित होता है कि स्वयं बादशाह का उस समय महादजी को दिल्ली में टिकना कठिन प्रतीत होता था और वे महादजी को उस समय न आने के लिए लिखते थे। इसके सिवा दिल्ली दरबार के पेशवा वकीलों का भी यही मत था कि महादजी के साथ विना दूसरे मराठा सरदारों के आये काम नहीं चलेगा।

सन १७८८ में गुलाम कादिर के अत्याचार ने हद कर दी। उसने बादशाह शाहआलम की आंखे निकाल ली और बादशाही जनानाने की बेइज्जती की। तब महादजी सिन्धिया ने अपने सरदार राणाखाँ को भेजकर गुलाम कादिर को पकड़ बुलाया और उसका शिरच्छेद किया। इस समय भी दिल्ली की स्थिति डावांडोल थी, क्योंकि महादजी को पूना आना था। १७९२ में महादजी पूना आये और १७९३ में पूना ही में उनकी मृत्यु के कारण दिल्ली दरबार से मराठों के पांव उखड़ने का भय नाना फड़नवीस को होने लगा था परन्तु वह भय इतनी शीघ्रता से सत्य न हो सका। महादजी की मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने दिल्ली में अपना प्रवेश करने की तैयारी की और दौलतराव सिन्धिया की मूर्खता तथा निर्बलता के कारण अंग्रेजों को सफलता प्राप्त हुई। सन १८०३ में अंग्रेजों ने देहली ले ली। इस प्रकार प्रायः दो सौ वर्षों तक मराठों की बादशाही नीति दिल्ली में चलकर अन्त में समाप्त हुई।

दिल्ली के राज कार्यों में अंग्रेजों का हाथ इसके भी पहले घुसने वाला था, परन्तु वारन हेस्टिंग्ज के धैर्य के कारण वह घुस न सका। बहुत से अंग्रेज टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में हेस्टिंग्ज को दोष दिया है और कितनों ने तो उस पर महादजी से एक बड़ी भारी रिश्वत लेने का अभियोग भी लगाया है। वह अभियोग झूठा हो या सच्चा पर इतना अवश्य है कि वारन हेस्टिंग्ज का यह पूर्ण विश्वास था कि पूना दरबार से राजनीतिक बातचीत में महादजी का उपयोग बहुत अच्छी तरह हो सकेगा और वह सहायता देगा और ऐसी समझ होना भ्रमपूर्ण भी नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्हीं के प्रयत्न से सालवाई की सन्धि हुई थी। यह प्रत्यक्ष है कि सन १७७१ से १७८६ अर्थात १२ वर्ष तक हेस्टिंग्ज ने देहली की ओर ध्यान ही नहीं दिया। १७७१ में जब कि अंग्रेजों के विश्वासी मित्र नजीबखाँ की मृत्यु हो गई थी। अंग्रेजों ने तुरन्त ही मेजर ब्रखन और मेजर डेवी नामक अपने वकीलों को बादशाह से गुप्त रीति से मिलने को भेजा, परन्तु इस मुलाकात से कुछ लाभ नहीं हो सका। १७८४ में शाहआलम बादशाह का लड़का वारन हेस्टिंग्ज से मिला और अपने पिता की गद्दी पर बैठाने के लिए सहायता देने को कहा, परन्तु उन्होंने शाहजादे को उत्तर दिया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर और कलकत्ते के अन्य कौन्सिलर देहली के राजनैतिक झगड़ों में पड़ता नहीं चाहते इसलिए तुम फिर महादजी सिन्धिया से मिलकर सहायता मांगो। परन्तु यह ठीक है कि हेस्टिंग्ज ने यह उत्तर महादजी के वकील से गुप्त भेंट करने के बाद दिया था। उनकी इस गुप्त भेंट में क्या बातचीत हुई, यह हमें विदित नहीं है।

जब महादजी की ओर अंगरेजों ने भी अंगुली दिखाई तब महादजी ने फिर एक/बार बादशाह का पक्ष लिया। इसमें महादजी का कोई अपराध नहीं था। तो भी अंगरेज इतिहासकार महादजी को ही दुष्ट और कारस्थानी कहते हैं। इस बार महादजी ने पहले से एक बात ज्यादा की और वह उनकी चतुरता को प्रगट करती है। यह बात यह थी कि महादजी ने बादशाह से पेशवा के लिए वकील मुतलकी और अपने लिए 'मुखतारूल्मुल्क' की पदवी ली और यह पदवी लेना ठीक भी था क्योंकि जिसके बल पर बादशाह, तख्त पर बैठने वाले थे उसे वजीर की अपेक्षा श्रेष्ठ अधिकार मिलना ही चाहिए, ऐसी हालत में तो अवश्य ही मिलना उचित है जब कि वजीरों ने ही बादशाह के विरुद्ध सिर उठा रक्खा हो। ऐसी दशा में वजीरों को कहने में रखने के लिए तलवार के साथ साथ अधिकारों की आवश्यकता भी बहुत होती है। अंगरेजों को सिन्धिया का इतना अधिकार प्राप्त करना सहन नहीं था, परन्तु उस समय अंग्रेज स्वयं ही दिल्ली के राजकीय झगड़ों में पड़ने के लिए तैयार नहीं थे। फिर पीछे से

अंगरेज इतिहासकारों का महादजी पर कोप प्रगट करना उचित नहीं है। महादजी को मिले हुए अधिकारों का वर्णन अंगरेज इतिहासकार मिल ने इन शब्दों में किया है— "मिले हुए अधिकारों के कारण महादजी सिंधिया, स्वयं दीवान पर भी हुकूमत करने लगे और इस तरह मराठों के हाथों में भारतवर्ष के अधिराज्य की नियमानुकूल सत्ता पहुँच गई।"

हेस्टिंग्ज ने जब बादशाह को सिन्धिया से सहायता लेने के लिए कहा था तब हेस्टिंग्ज को आशा नहीं थी कि सिन्धिया इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर लेंगे, परन्तु जब उन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिए तब इसी कारण पर से मराठों से युद्ध करना हेस्टिंग्ज ने उचित नहीं समझा होगा।

अपनी सफाई देते समय हेस्टिंग्ज ने इस सम्बन्ध में यह कहा था कि— "यह बात असत्य है कि हमारी और महादजी की गुप्त सलाह हो जाने के बाद हम बादशाह को सहायता देना अस्वीकार किया परन्तु हमने बादशाह को आश्रय देने और उसके बाद बादशाह से सर्वाधिकार प्राप्त करने पर हम मराठों से इसके लिए युद्ध नहीं कर सकते थे।" इसमें सच्ची बात तो यह है कि महादजी दिल्ली के राजकार्यों को अपने हाथ में लेना चाहता था और अंग्रेज इस काम को खर्चीला न कर सकने के योग्य समझकर अपने ऊपर नहीं लेते थे। अतः महादजी ने इसे लिया और उसके लेने से बादशाह का कल्याण भी था। मिल के इतिहास पर टिप्पणी करते हुए बिल्सन ने कहा है कि 'बादशाह का स्वास्थ्य, सुख और मान सन्मान देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि बादशाह का महादजी के आश्रय में जाना अच्छा ही था, क्योंकि दरबार में वंश परम्परागत वजीरों और उमरावों ने बादशाह को कष्ट ही दिये थे।"

अस्तु, सर्वाधिकार मिलने पर महादजी ने बादशाह के विरुद्ध अंगरेजों से बंगाल की चौथ माँगी। यदि इसमें बादशाह की इच्छा न होती तो भी वजीर से उच्च अधिकारी होने के कारण यह माँगने का अधिकार उन्हें था। महादजी की इस माँग से अंगरेजों को बहुत दुःख हुआ और महादजी ने भी इस सम्बन्ध में स्नेह भाव से काम नहीं लिया। इधर अंग्रेजों के समान दिल्ली के अमीर उमरावों को भी बादशाह का महादजी को सर्वाधिकार देना असह्य हुआ। परन्तु सहन हो या न हो महादजी ने तो अधिकार प्राप्त कर ही लिये। शिवाजी के समय में चौथ के हक रूप से बादशाही नीति का जो वृक्ष विस्तृत हो गया था उस पर महादजी के अधिकार प्राप्त कर लेने से बौर लग गया। परन्तु दुर्दैव से दौलत राव सिंधिया के समान नादान व्यक्ति के सिंधिया की गद्दी का उत्तराधिकारी बनने से तथा उधर बाजीराव जैसे

व्यक्ति को पेशवा की गद्दी मिलने से यह बोर झड़ गया और बोर के साथ साथ वृक्ष भी नष्ट हो गया। लेकिन यह बात दूसरी है। क्योंकि जगत् में यश-अपयश सबके हिस्से में समान रीति से बंटे हुए नहीं है। इस प्रकरण में हमने जो बादशाही नीति का वर्णन किया है उसमें हमें यही दिखाना था कि बादशाही सत्ता को जिस रूप से कायम रख वास्तविक सत्ता अपने हाथ में लेने की नीति शिवाजी ने प्रारम्भ की थी वह राजनीतिक पुरुषों के एक के बाद एक के उत्पन्न होने से मराठों ने किस तरह कायम रक्खा और उसकी वृद्धि की। हमें आशा है कि यह प्रकरण पूरा पढ़ने पर पाठकों को हमारी मीमांसा उचित प्रतीत होगी।

अन्त में, हमने जिस विषय की चर्चा की है उस पर कुछ और प्रकाश डालना उचित समझकर कुछ प्रमाणों को यहाँ उद्धृत कर इस लम्बे प्रकरण को पूरा करेंगे। यह अंश, अन्त के दिनों में दिल्ली में रहने वाले, मराठों के वकीलों के उन पत्रों के हैं, जो उन्होंने नानाफड़नवीस को पूना भेजे थे। इनका महत्व पाठकों की ध्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

दिल्ली में रहने वाले मराठों के वकील गोविन्द राव पुरुषोत्तम १७८३ में, सेप्टेम्बर मास को २६ वीं तारीख को उत्तर भारत की परिस्थिति के सम्बन्ध में नाना फड़नवीस को लिखते हैं, कि—"इस समय उत्तर भारत खाली पड़ा है। अफराश खां और नजबकुली खाँ, ये दोनों सरदार नजब खाँ की ओर हैं जो कोई सरदार सेना सहित यहाँ आवेगा, उसे काम सिद्ध करने का अच्छा मौका है। हिन्दुस्तान में तलवार की लड़ाई अब नहीं रही। इसलिये इधर सेना भेजना आवश्यक है। नहीं तो सिख अथवा अंगरेज आकर दिल्ली, पर अधिकार कर लेंगे। फिर बड़ी कठिनाई पड़ेगी। फिरंगियों की इच्छा है कि दिल्ली जाकर बादशाह को अपने प्रेम से वश में कर लें और सर्वोपरि हो जावें। इसलिये शीघ्रता से अपनी सेना दिल्ली आवेगी तब ही बादशाह और हिन्दुस्तान अपने काबू में रहेगा। यदि इसमें देरी होगी तो फिर बात भारी पड़ेगी। अतः प्रार्थना की गई है।"

(१७८४) "आपने अपने पत्र में बादशाह के इलाहाबाद में रहने के समय और उसके पहले तथा उसके बाद अंग्रेजों से और बादशाह से क्या क्या करार हुये हैं और किन प्रदेशों की सनदें किस किस प्रकार दी हैं तथा अन्तर्वेदी में कितनी आमदनी का राज्य दिया और उनकी सनद दी या नहीं आदि बातों का पता लगाने की आज्ञा दी है। अतः इस आज्ञा के अनुसार हमने बादशाही दफ्तर में पता लगाया तो विदित हुआ कि जिस समय बादशाह इलाहाबाद में थे, उस समय अंग्रेज तोपों आदि के सिवा २६ लाख रुपये प्रति वर्ष देते थे और इलाहाबाद का सूबा तथा कड़ा प्रान्त ये दोनों स्थान

सुजाउद्दौला से छुड़ा कर बादशाह को दिलाये गये थे। उनसे बादशाह को प्रतिवर्ष ३३ लाख रुपये की आमदनी होती थी। बादशाह ने अंग्रेजों को दो सनदें दी हैं। जिनमें से एक बर्दमान और इस्लाम नगर की कमाबीसदारी की सनद है और दूसरी सनद बंगाल तथा पटना के सूबे की दीवानगीरी की है। इनके अलावा अन्तर्वेद वगैरह कहीं की भी सनद बादशाह ने नहीं दी। बादशाही दफ्तर की फारसी में लिखी फेहरिस्त दफतर के पेशकार राय सिद्ध राय से लेकर आपके पास भेजी है। उस से सब ध्यान में आवेगा। यहाँ के दफतर में इतना उल्लेख है कि बंगाल और पटना की दीवानगीरी की सनद अंग्रेजों को दी गई और अलौवर्दी खाँ के नाती मुबारक जङ्ग बहादुर को सूबेदारी दी गई तथा वर्दमान और इस्लाम नगर का प्रबन्ध कमावीसी के द्वारा करने को कहा गया है। इसके सिवा जिस समय बादशाह उनके आश्रय में थे उस समय क्या लिखा पढ़ी हुई इसका पता नहीं चलता। कार्यालय में इसके विशेष उल्लेख नहीं हैं। इसके सिवा पठान मुहम्मद खाँ प्रभृति भी बादशाह को दिया करते थे। दफतर में मिली हुई फारसी फ़ेहरिस्त भेजी है, उस पर से आपको सब विदित होगा अधिक क्या।"

(१७८४) आस्टिन साहब वादशाह-जादे को लेकर काशी गये तब यह समाचार बिलायत पहुँचते ही कम्पनी ने उन्हें लिखा कि—"अपने साथ बादशाह-जादे को ले जाने से तुम्हारा क्या प्रयोजन था? दक्षिण के सरदारों से हमारी मैत्री हो गई है। ऐसी दशा में उनकी सम्मति के बिना उनसे वदसलूक कर तुम बादशाह-जादे को ले गये सो यह अच्छा नहीं किया। इस लिये पत्र देखते ही बादशाह जादे को तुरन्त पाटिलबाबा के पास वापस भेज दो। वे बादशाह से प्रार्थना कर बादशाह-जादे का अपराध क्षमा करवा देंगे और शाहजादे को बादशाह के सुपुर्द कर देंगे। तुम्हें लिखा गया था कि तुम इन झगड़ों में मत पड़ना, कंपनी की इस आज्ञा पर से आस्टिन साहब ने दो पल्टन के साथ शाहजादे को श्रीयुक्त सदाशिवपन्त बख्शी और श्रीयुक्त पाटिलबाबा के पास भेजा है और वे लखनऊ आ गये हैं।"

"आस्टिन साहब की इच्छा हिन्दुस्तान में बादशाहजादे को लाने की है और पाटिलबाबा और आस्टिन में खूब मेल है। इन्द्र सेन साहब और मैजर ब्राउन साहब इन्हीं के पास हैं। इनके और सदाशिवपन्त बख्शी की उपस्थिति में मुलाकात होने पर क्या सलाह होती है यह देखना है।"

(१७८५) "इन दिनों मेजर ब्राउन के यहाँ दो बार गये थे और उनके पास जो मौलवी वकील है उससे भी बहुत सलाह होती है, परन्तु उसका भेद मिला नहीं, क्योंकि कोई कुछ नहीं कहता।"

"बादशाह ने जब श्रीयुक्त पाटिलबाबा के विचारानुसार श्रीमान् पन्त प्रधान साहब को 'मुख्तारल्मुल्क' को पदवी दी तब श्रीमन्त को ओर से १०१ मोहरें बादशाह की नजर की गई। श्री मन्त की खिलत पूना को भेज दी गई। चन्द्र २१ (१ मई, १७८५) के दिन श्रीमन्त पन्त प्रधान स्वामी के मुख्तारी के यहाँ ले लिए गए हैं। बादशाह ने चारकुवा और नालखी दी है। चारकुवा एक अंगरखा होता है। इसमें बाहें नहीं होती। केवल कन्धे तक का आगा पीछा होता है। इसमें आगे और कन्धे पर मोती की झालर लगी रहती है। चारकुवा खिलत कहते हैं। यह खिलत और "मुख्तारूल्मुल्क" अर्थात वकील मुतलक का पद जिसे मिल जाता है उसके घर बादशाह-जादे को भी अपने काम के लिए आना पड़ता है। चिन्ता की कोई बात नहीं। राज्यश्री पाटिलबाबा (महादजी सिंधिया) के पास सेना बहुत कम है और काम सारे हिन्दुस्थान भर का है। मुख्तयार बादशाह का प्रतिनिधि होता है वह बजीर और मीर बख्शी तक की नियुक्त और बर्खास्तिगी कर सकता है। ऐसी दशा में इनके पास जो सेना है वह इनके अधिकारोंके अनूरूप नहीं है।"

(१७८६) पाटिलबाबा की कार्य शीलता और हिन्दुस्थान की परिस्थिति के सम्बन्ध में गोविन्दराव पुरुषोत्तम दिल्ली से १७८६ में लिखता है कि:—"यहाँ की दशा देखकर कहना पड़ता है कि हिन्दुस्थान क्षत्रिय शून्य हो गया है। सिक्खों में भी फूट है। कोई किसी के अधीन नहीं है। यदि दबाव पड़ता है तो जमींदारी करने लगते हैं, नहीं तो लूटपाट तो करते ही हैं, यह सिक्खों की दशा है। वजीर की यह हालत है कि अंग्रेजों पर ही उनका भरोसा है। उन्हें बर्तमान के अंग्रेजों की दशा हीन दीखती है। आस्टिन साहब बिलायत को गये। उसकी जगह बड़े साहब आये हैं। इनका प्रबन्ध आस्टिन के समान नहीं है और न खजाने ही की पहले जैसी दशा है। पहले जैसा कुप्रबन्ध था उससे बढ़कर आज है। बादशाह की हालत देखी जाय तो वह तो एक लाख तीस हजार रुपये मासिक का नौकर है। इतना पैसा उसे बराबर मिलता रहे तो फिर उसे एक गाँव और बीता भर जमीन की भी आवश्यकता नहीं है। यह तो हिन्दुस्थान की दशा है। और ऐसे समय में हिन्दुस्थान के प्रबन्ध का सम्पूर्ण भार अकेले पाटिलबाबा महादजी सिन्धिया पर ही है। जितना यह प्रबन्ध कर सकते थे किया और जो करने योग्य है वह करेगें, परन्तु इनके आश्रय में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो उनकी सरदारी की आड़ में रहकर मुल्क का प्रबन्ध कर सके और आमदनी बढ़ाकर राज्य को सम्हाले। इसलिए सूचनार्थ स्वामी की सेवा में विनती की गई है कि जो बातें प्रत्यक्ष में देखी गई हैं और जिनका अनुभव हो चुका है उन्हीं के सम्बन्ध में यह पत्र लिखा जाता है।"

(१७६७) पाटिलबाबा, सम्पूर्ण हिन्दुस्थान का सब कारभार चलाने के योग्य नही हैं। अतः किसी चतुर सरदार की नियुक्ति इस स्थान पर कराने की सूचना देते हुए गोविन्दराव लिखता हैं कि–"बादशाह की इच्छा है कि पेट के लिए केवल लाख ड़ेढ़ लाख रुपया मासिक मिलते जाँय तो फिर हमें राज्य और उसके कारभार की कोई आवश्यकता नहीं है। इनका ऐसा ही स्वभाव है। इनके पुत्रादि मिलाकर घर में सौ, ड़ेढ़ सौ आदमी हैं, परन्तु उनमें भी कोई हिम्मत वाला और भाग्यवान नहीं दिखता जो बादशाहत और राज्य को संभाल कर सके। श्रीमंत राजश्री रावसाहब (पेशवा) प्रारब्धवान और प्रतापवान हैं, सुदेव से बादशाह की मुख्तारी आपको प्राप्त हुई है। इसलिए हजार उत्तम, तैयार सेना श्रीयुक्त त्रयम्बकराव मामा अथवा बीसाजीपान्त विनी वाले के समान चतुर ओर कार्य कुशल सरदार के साथ भेजी जाय और उत्तर भारत में जितने छोटे बड़े हैं, उन्हें पेट से लगा कर प्रेम पूर्वक उनका यदि पालन किया जाय तो जिस प्रकार सतारा का राज्य आपके हाथ में है उसी प्रकार दिल्ली का राज्य भी आपके हाथ में आ जाय। इस राज्य के पीछे दो रोग हैं। एक अबदाली और दूसरा अंग्रेज। इनमें अबदाली तो दूर है और उसका यहाँ आना भी कठिन है, रहे अंग्रेज सो भी अभी दिल्ली के काम काज में मुख्तार नहीं बनना चाहते। विलायत को पत्र दिया गया है। उसका उत्तर आने पर फिर वे उसके अनुसार चलेंगे। परन्तु अंगरेजो का पांव यदि दिल्ली में जमा तो फिर अपने हाथ से हिन्दुस्थान निकल जायगा। जब तक जो आपकी इच्छा हो उसके अनुसार प्रबन्ध करें। यदि यह राज्य और अधिकार अपने हाथ में रहा तो बंगाल आदि अंग्रेजी राज्य पर भी अपनी मालकियत और हुकूमत रह सकेगी। इधर बहुत बड़ा राज्य है, परन्तु तीन वर्षों से दुष्काल पड़ने के कारण पाँच छः सेर के भाव से अन्न बिका है अतः प्रजा बहुत मर गई और चारों ओर उजाड़ हो गया है। कुछ दिनों तक यदि उत्ताम प्रबन्ध किया जाय तो करोड़ों रूपयों की आमदनी हो सकती है। धन की कमी नहीं है। अभी तो फौज भी चाहिए और कुछ थोड़ा धन भी चाहिये। तब तो जो यहां रहेगा उसकी प्रतिष्ठा होगी, और बन्दोवस्त होने से अन्त में बादशाहत श्रीमन्त की हो जायगी। ऐसा समय फिर नहीं आवेगा।"

बादशाह की निर्वलता का वर्णन करते हुए ता० २६ अप्रैल सन १७८८ को गोविन्दराव ने लिखा था कि—"यहां यह हालत है कि जो बादशाह के पास रहता है उसी के मन के अनुसार प्रबन्ध किया जाता है। बादशाह में खमीर (आत्मज बल) नहीं है। उनकी नाक मोम की है जो जबरदस्त पास आकर रहता है उसी के कहने के अनुसार बादशाह चलते हैं।"

१७८८ के जुलाई मास में दिल्ली की परिस्थिति तथा पाटिल बाबा के गुण दोष के सम्बंध में गोविन्दराव ने लिखा था कि—"बादशाह की इच्छा है कि यदि हरिपन्त तात्या के समान एक सरदार के अधिकार में पच्चीस हजार सेना यहां आकर रहे और राज्य का प्रबन्ध करे तो हम सुख से रोटी खा सकते हैं। पाटिलबाबा ने जिस प्रकार हिन्दुस्थान प्राप्त किया था उसी प्रकार थोड़े ही दिनों में उन्होंने अपने हाथ से निकाल भी दिया, परन्तु यदि अब भी जब तक किले आदि हैं तब तक अर्थात् दो तीन माह में अपनी सेना आ जायगी तो अपनी सरकार का अधिकार हो जायगा। पर सरदार दूसरा आये बिना बादशाह सन्तुष्ट नहीं होंगे। क्योंकि पाटिलबाबा का स्वभाव खुद पसन्द और खुशामद पसंद है, उनके पास कोई वजनदार आदमी काम करने वाला नहीं है। वे हर एक काम स्वत: करते हैं; उन्हें किसी का भी विश्वास नहीं है। छोटे दरजे के मनुष्यों को मुंह लगा लिया है। उन लोगों ने लोभ के वश होकर सब काम बिगाड़ रक्खा है। बादशाह उनके कारण दिक हो गये हैं। इसमें से एक रत्ती भर बात भी यदि पाटिलबाबा के वकील या उनके प्रेमी मनुष्यों में से किसी को विदित हो जायगी तो वे हमारा प्राण ले लेंगे, क्योंकि वे अपने सिवा किसी दूसरे का हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में लिखना और कहना सहन नहीं कर सकते और ऐसा करने वाले को मार डालने का उनका विचार रहता है।

सन् १७९४ में उस समय यह बात कितने ही दूरदर्शी व्यक्तियों के ध्यान में आ गई थी कि पाटिलबाबा की सेना अन्य देशी सेना से कितनी ही बढ़ी चढ़ी है तो भी डिवाइन सरीखे विदेशी मनुष्य पर अकारण विश्वास करने से अंगरेजों से प्रसंग पड़ने पर उसका उपयोग कुछ न हो सकेगा। और यह बात पाटिलबाबा की मृत्यु के बाद तुरन्त ही सन् १७९४ के सेप्टेम्बर मास में सत्य सिद्ध हुई। डिवाइन का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो गया। इसका वर्णन करते हुए गोविन्दराव लिखते हैं कि:—

"जब पाटिलबाबा ने डिवाईन के अधिकार में अपनी सेना दे दी तब शाह जी ने दूर-दर्शिता से विचार कर यह प्रगट कर दिया कि डिवाइन का विश्वास न किया जाय। क्योंकि अन्य स्थानों पर तो यह नौकरी बजाने में नहीं भूलेगा, परन्तु अंगरेजों से काम पढ़ने पर तुरन्त पीठ फेर खड़ा हो जायगा। तीन कैम्प (सेना की पलटनें) देने से सब राजे रजवाड़े इसके पेट में घुस कर विद्रोह करने को खड़े हो जायेंगे और फिर उन्हें सम्हालना कठिन होगा। इसका कुटुम्ब आदि सरंजाम अंग्रेजों के शामिल में हैं। पाटिलबाबा का अकस्मात देहान्त हो गया और आठ हीं महीने में डिवाइन आदि सब लोगों की नियत बदल गई। डिवाइन ने जयपुर वाले, माचेड़ी के बखतावरसिंह, भरतपुर के रणजीत सिंह जाट तथा अंगरेज आदि से भीतर ही भीतर साजिश कर सबको अपने वश में कर लिया है और सरदारी में परस्पर झगड़ा पहले से ही हो गया है।" इस समय दिल्ली का स्वामित्व हरण करने के लिये कौन कौन-

लोग मुँह फाड़े बैठे हैं। इसका वर्णन स्वयं बादशाह ने इस प्रकार किया है कि—"हम फकीर हैं। कहीं भी बैठकर अपना निर्वाह कर लेंगे। चिन्ता नहीं है। इस राज्य के लेने की इच्छा विलायत वाले अंग्रेज रूहेले आदि राजा रजवाड़ा की है। इससे पाटिलबावा के पीछे आपस के झगड़े से राज्य बर्बाद कर देना अप्रतिष्ठा का कारण है।"

सन् १७०० के लगभग दिली के राजकार्यों पर मराठों का बहुत प्रभाव पड़ा था, उस समय बादशाह के निर्बल हो जाने के कारण मराठे, अंगरेज और नजीब खां ऐसे तीन की कैंची में फँसा था। इनमें मराठों के तो वह अनुकूल था और अंगरेजों से प्रतिकूल था परन्तु असल में बादशाह था नजीब खाँ के अधीन और वह जिस तरह नचाता उस तरह उसे नाचना पड़ता था। मराठों या अंगरेजों के हाथ में बादशाह का जाना नजीब खाँ पर ही अवलम्बित था। इस महत्व के राज्य कार्य के सम्बन्ध के कुछ पत्र राजवाड़ा खण्ड १२ में प्रकाशित हुये हैं, वे बहुत ही मनोरंजक हैं। उदाहरण देखिये, एक पत्र में वकील पेशवा को लिखता है कि "स्वामी की आज्ञानुसार बादशाह को उत्तेजना देकर अंग्रेज और बादशाह का सम्बन्ध छुड़ा दिया है। सेवक से बादशाह और नवाब नजीब खाँ ने शपथ पूर्वक कहा है कि नाना ने जो लिखा है वही हमारे मन में है" वजीर की फौज बादशाह के पास रहती थी। पेशवा का वकील पेशवा की सेना भी इसी तरह रखना चाहता था और अंग्रेज भी फौज और पैसा देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध में वकील ने लिखा है कि "हमने स्वामी के आज्ञानुसार बादशाह को अंग्रेजों का धन नहीं लेने दिया। दिल्ली और आगरा में आपका प्रबन्ध होने से बादशाह को सुख होगा। बादशाह नजीब खाँ को नहीं चाहते। अतः सेवा में प्रार्थना है कि राजश्री हरिपंत अथवा राजश्री महादजी सिन्धिया को दिल्ली में रखा जाय। वे दो लाख रुपये मासिक बादशाह को देते रहें और करोड़ों की आमदनी का स्थान हस्तगत करें। यदि अंग्रेज ने हस्तगत कर लिया तो फिर हिन्दुस्तान गया। फिर किसी का भी लाभ नहीं है। ईश्वर ने जिसे बड़ा बनाया है उसे महत्व के और कीर्ति के योग्य कार्य करना उचित है। इत बात को यदि आप गई गुजरी कर देंगे तो टोपी वालों के हाथ में बादशाहत चली जावेगी। फिर पश्चाताप होगा और फल कुछ न निकलेगा।" पेशवा के मुत्सद्दियों के इस प्रकार के विचार थे। १७८० के अक्टूबर मास में अंजरेजों ने दिल्ली और आगरा में कोठी खोलने के लिये जगह माँगी और बादशाह को दो लाख रुपये मासिक देने का प्रयत्न किया। इस विषय में वकील लिखता है कि पहले से ही अँगरेज कोठी के लिए जयपुर देहली, आगरा आदि स्थानों पर जगह चाहते थे। ग्वालियर उनके हाथ में चला ही गया है। यदि इन स्थानों पर भी अंगरेजों का शासन हो गया तो समझना चाहिये कि परमेश्वर की इच्छा बलवान् है।"

सन् १७८१ में बोरघाट का युद्ध हुआ। इसमें अंगरेजों का पतन हुआ। जब ये समाचार दिल्ली पहुँचा तो पेशवा के वकील और नजीव खाँ ने पत्र का भाषान्तर फारसी में करके बादशाह को समझाया। इस सम्वन्ध में वकील में लिखा है कि :—
"पढ़कर बहुत सन्तोष हुआ और कहा कि इश्वर की कृपा से श्रीमन्त की इस प्रकार विजय होती रहे और अंगरेजों का पाँव बादशाहत से निकल कर बादशाहत बनी रहे, ऐसा आशीर्वाद प्रेम पूर्वक दिया और नजवखाँ को आज्ञा दी कि तुम भी कुछ उद्योग करोगे या नहीं। अंगरेजों के पराभव करने की तजबीज नवाब बहादुर कहते तो बहुत हैं ? परन्तु वह सुदिन होगा जब उन्होंने आपको जो कुछ लिखा है या मुझसे लिखाया है वह सत्य ठहरेगा।"

सन् १७८० के अगस्त मास के एक पत्र में पेशवा का वकील नाना को लिखता है कि "बादशाह पेशवा के कारभारियों पर बहुत प्रसन्न है और उन्हें बारबार आर्शीवाद देते हैं। बादशाह के स्तुति शब्द इस भाँति है कि आज आठ वर्ष हुए कि एक तो स्वयम् मालिक अज्ञान बालक है और दूसरा घर का एक घाती विद्रोह कर रहा है। अंग्रेजों का पराभव करने के बाद भी वे लड़ने को उद्यत ही हैं। ऐसी दशा में ठहरे रहना यह दक्षिण के सरदारों ही का काम है। ईश्वर ! राज्य में यदि सरदार और कारभारी हो तो ऐसे ही हो। अंग्रेजों का सर्वनाश करने में ही सब की प्रतिष्ठा है। नहीं ती जलचरों (अंग्रेजों) के पृथ्वी पति ही जाने से पगड़ी की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। पगड़ी की इज्जत छोड़ कर जब टोपी पहनोगे तब तुम्हारा प्रभाव जम सकेगा।" तो भी अंग्रेजों से मन ही मन डरते सब थे। परन्तु दिल्ली के वकील के मतानुसार जब तक "सिंधिया के द्वारा अंगरेज का पतन नहीं होता तब तक उनसे दुश्मनी करने से डरते हैं।" इसी महीने में वकील ने फिर नाना को लिखा था कि नजीब खाँ केवल शर्म से अब तक नहीं मिला, नहीं तो वह पहले से ही अंग्रेजोंसे मिल गया होता।

मराठों ने एक मात्र चौथ की सनद पर सारे भारतवर्ष में धूम मचा दी थी। इस सनद से उन्हें कर्नाटक, गुजरात, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखन्ड, आगरा, दिल्ली, बंगाल, रूहेलखन्ड आदि सब प्रान्तों पर चढ़ाई करने का अधिकार मिल गया था। यह अधिकार उन्हें बादशाही नीति की दृष्टि से स्वराज्य की सनद से दिये हुये अधिकार से भी अधिक मूल्यवान प्रतीत होता था। इसी से स्वराज्य की सनद के पहले इस सनद के अनुसार काम किया। श्री युत खरे शास्त्री ने एक स्थान पर कहा है कि "मराठों ने १७४१ में त्रिचनापल्ली और १७५२ में त्र्यम्बक का किला लिया। सन् १७५८ में उनका लाहौर में शासन हुआ और १७५६ में अहमदनगर हाथ में आया। स्वराज्य की सदन उन्होंने बादशाह के पास से ली थी। उनका यह स्वराज्य

दक्षिण में खानदेश के पास बागलाण, मध्य महाराष्ट्र और उत्तर कर्नाटक तक फैला हुआ था। इन्हें तुरन्त लेने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। परन्तु मौका मिलते ही स्वराज्य और उसके साथ परराज्य भी उन्होंने ले लिया।" मराठों का स्वराज्य प्रान्त पहले मुगलों ने लिया। उसके बाद वह उनके नवाब के अधिकार में चला गया। तब उसे मुगलों और नवाब से लेने के लिए मराठों को युद्ध करना पड़ा और उन्हें यश प्राप्त हुआ। ऐसी दशा में केवल स्वराज्य पर हो सन्तुष्ट होकर कैसे रह सकते थे ? यद्यपि उन्हें स्वराज्य तो प्राप्त करना ही था। परन्तु परराज्य को न लेने की उन्होंने प्रतिज्ञा नहीं की थी। बहुत दिनों तक तो उन्हें स्वराज्य का थोड़ा भाग भी नहीं मिला था, जैसे तंजोर। और ऐसे प्रान्तों में अर्थात एक दृष्टि से स्वराज्य ही में मराठों को चौथ वसूल कर उसी पर संतुष्ट रहने का अवसर था।

चौथ के सूबे के आधार पर मराठों ने सम्पूर्ण राज्य सत्ता प्राप्त करने की जो आकांक्षा की थी, उसके उदाहरण भारत वर्ष के सब प्रान्तों में मिलते हैं। दूसरे के घर के झगड़े में पड़ने की प्रवीणता मराठों में अंग्रेजों ही के समान थी। कहीं तो उनका यह दाँव सिद्ध हुआ और कहीं कहीं असफल। परन्तु रीति सब एक ही थी। मुगलों से चौथ का अधिकार न मिलने पर भी मराठे अपने को जहाँ तहाँ चौथ का हकदार बताते थे। इसका एक उदाहरण मैसूर राज्य का है। मैसूर में हिन्दुओं का राज्य था। उसे मुसलमानों ने जीता न था। इसलिए नियमानुकूल मुसलमानों की ओर से इस राज्य से चौथ वसूल करने का हक मराठों को नहीं था।। फिर मैसूर में मुसलमानी राज्य हुआ क्योंकि हिन्दू राज्य के एक नौकर मुसलमान ने बेइमानी कर राजा को पदच्युत किया और आप उसके पद पर बैठ गया। इस मुसलमान से दिल्ली के मुसलमानों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। ऐसी दशा में भी मराठों ने इस राज्य से चौथ माँगने में कमी नहीं की। कर्नाटक में चौथ वसूल करने का उन्हें हक था। इसके सिवाय उस प्रान्त में उनका स्वराज्य भी था परन्तु मैसूर में खन्डनी लेने का कुछ अधिकार नहीं था। १७५७ में सदाशिवरावभाऊ एक बड़ी सेना के साथ कर्नाटक गया और श्री रंगपट्टम को घेर कर मैसूर के राज से बेशुमार खँडनी माँगी। तब लाचार हो मैसूर के कारभारी और सेनापति नन्दराज ने राज्य के १४ महाल जो कि अच्छी पैदावारी वाले थे मराठों को दिये। फिर हैदरअली के प्रबल होने पर नन्दराज ने उसकी सहायता से फिर मराठों से छीन लिये। इसके बाद नन्दराज और हैदरअली में मनमुटाव हो गया। तब मराठों ने अपना घोड़ा फिर आगे बढ़ाने का विचार किया। इस समय मैसूर के दरबार में जो पेशवा का वकील था उसने पेशवा को एक पत्र लिखा था। यह पत्र १९१० के अप्रैल मास के इतिहास संग्रह में प्रकाशित हुआ है। इस पत्र से मैसूर सम्बन्धी मराठों के कार स्थान का पता लगता है। वकील लिखता है

कि "स्वामी ने आज्ञा पत्र भेजकर लिखा था कि नन्दराज सर्वाधिकारी और हैदराबाद में मनमुटाव हो गया है सो इस समय उससे मिलकर एक एकरारनामा लिखा लो कि चौथ और सरदेशमुखी का शासन उसे स्वीकार है। इस मुताबिक एकरारनामा दे अपनी मुहर के साथ लिख देने पर हम हैदरनायक का पारिपत्य कर नन्दराज को गद्दी दिला देंगे। आज्ञानुसार आदमी भेज कर उससे करारनामा लिखा लिया है और मुहर लगवा ली है। वह हमारे पास रक्खा है। इसकी नकल और मुझ सेवक को दिया हुआ नन्दराज का पत्र इस प्रकार दो पत्र भेजे हैं। हैदर ने नन्दराज के यहाँ बातचीत चलाई थी कि एक लाख होन लेकर वह (नन्दराज) सुख से रहे परन्तु सेवक ने यहाँ से उन्हें पत्र पर पत्र लिखे और धैर्य दिलाया तथा आपका अभय-पत्र दिखलाया। तब धीरज आया और उसने हैदर नायक की बात स्वीकार नहीं की किन्तु आप के प्रति श्रद्धा रख आपके कहे अनुसार करारनामा लिख दिया। अब इस बात को ध्यान में रख हैदर नायक के पारिपत्य करने का आप प्रयत्न करें। सारांश यह कि आज का सा समय फिर नहीं आवेगा क्योंकि अभी तो थोड़े कष्ट से नन्दराज की स्थापना ही कर चौथ सरदेशमुखी का अपना शासन जमाना है, फिर आगे राज्य भी अपना हो जायगा। इसलिए इस समय आप कृपाकर पाँच हजार सेना तुरन्त भेजें।" इस पत्र पर से विदित होता है कि इस वकील के मन में यह बात अच्छी तरह समा गई थी कि चौथ रूपी पीपल के वृक्ष की जड़ एक बार जिस राज्य में जमी कि फिर वह बलवान होकर उस राज्य को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो जाती है। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त करना और आगे राज्य ले लेना ही मराठों की बादशाही नीति का महामंत्र था।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

उपसंहार

मराठों ने मुगल बादशासत नष्ट तो की, पर सम्पूर्ण भारत पर राज्य चलाने की उनकी महत्वाकाँक्षा सिद्ध न हो सकी, प्रत्युत उन पर स्वतः का राज्य गँवाने की भी बारी आई, यह बड़े ही आश्चर्य का कारण है। मराठों के जिन कारणों से मराठाशाही नष्ट हुई उसका वर्णन हम पहले कर आये हैं, परन्तु यह नही भूलना चाहिये कि केवल मराठों के दोषों के कारण ही अंगरेजों को सफलता मिल सकी, किन्तु उसमें अंगरेजों के निज के अनेक गुण भी कारणीभूत थे। अंग्रेजों का भारत में आने का मूल हेतु व्यापार था। जिस तरह बादशाही नौकरी करते-करते मराठों ने राज्य सत्ता प्राप्त की उसी तरह अंग्रेजों ने व्यापार करते-करते राज्य प्राप्त किया। मूल में उनका उद्देश्य भले ही राज्य प्राप्ति करना न रहा हो परन्तु धीरे-धीरे जब व्यापार वृद्धि के लिए राजकीय शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई तब उन्होंने राज्य प्राप्त करने का उद्योग प्रारम्भ किया। इस काम में परिस्थिति उनके बहुत प्रतिकूल थी। क्योंकि एक तो उनका मूल स्थान ठहरा इंगलैंड, जहां से हजारों मील के समुद्र मार्ग द्वारा हिन्दुस्थान में आना पड़ता था, आज के समान शीघ्र गति से आने के उस समय यन्त्र भी नहीं थे, इसके सिवा रास्ते में अन्य यूरोपियन सामुद्रियों के द्वारा बाधा पहुँचने का भी भय था, इधर भारत में मुसलमान और मराठों के समान उनके प्रबल सैनिक शत्रु भी थे जिन्हें फ्रेंचों की सहायता भी थी। ऐसी स्थिति में भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वृक्ष की जड़ यहाँ बंगाल में जमाई गई और कालान्तर में उसने भारत के राजा महाराजाओं की सत्ता रूपी भव्य इमारतें धड़ाधड़ ढहाकर धाराशायी कर दी।

ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने पहले पहल भारत में व्यापार करना शुरू किया। फिर केवल सौ वर्षों के भीतर ही राज्य स्थापित करने की उनकी आकांक्षा बढ़ने लगी। भारत की उस समय की परिस्थिति के अनुसार अंग्रेजों को अपनी कोठी आदि की रक्षा बिना स्वतंत्र सैनिक शक्ति के करना कठिन था और न वे व्यापार ही बढ़ा सकते थे। क्योंकि बिना सेना के मुगलों के अधिकारियों से रक्षा नहीं की जा सकती थी। यह बात कम्पनी के यहाँ के अधिकारियों के ध्यान में अच्छी तरह जम चुकी थी। साथ ही वे

यह भी जानते थे कि यदि सेना रक्खी जाय तो उसके लिये स्थायी आमदनी की आवश्यकता है और जब कि भारत में चाहे जो आकर स्वतंत्र राज स्थापित करता है, तो फिर हम इस से वञ्चित क्यों रहें ?

१६६० के एक खरीते में कम्पनी के अधिकारियों ने इस प्रकार लिखा था कि "हमें व्यापार के समान ही प्रजा से कर वसूल करने की ओर भी लक्ष्य देना चाहिये और बिना राज्य सत्ता स्थापित किये कर वसूल हो नहीं सकता। मान लो कि अपना व्यापार कल रूक गया तो फिर ? व्यापार रूक जाने पर भी भारत से जाना अच्छा नहीं है। इसलिए हमें मजबूत नीव पर चिरकाल तक टिक सकने योग्य राज्य ही स्थापित करना आवश्यक है।" राज्य स्थापित करने के लिए सैनिक शक्ति की अधिक आवश्यकता है। बिना सैनिक के एक बार व्यापार तो सम्हाला जा सकता है, पर राज्य प्राप्ति और उसकी रक्षा बिना सैनिक शक्ति के नहीं हो सकती। और यह शक्ति, मनमें राज्य करने का निश्चय कर सैकड़ों वर्षो तक अँग्रेज सम्पादित करते रहे। फ्रेंच और अंग्रेजों में जो बैर था वह एक प्रकार से अंग्रेजों की सैनिक शक्ति बढ़ाने में उत्तेजक हुआ। भारतवर्ष में अठाहरवीं शताब्दी के पहले सैकड़ों वर्ष तक में अंग्रेजों ने फ्रेन्चों से युद्ध करने में जो परिश्रम किया वह आगे जाकर भारतीय राजा-रजवाड़ों से कुश्ती लड़ने में उपयोगी हुआ। इस समय अंग्रेजों ने केवल इस बात की बहुत सम्भाल रक्खी थी कि अपनी पूरी तैयारी होने के पहले भारतीय राजा महाराजाओं से युद्ध न हो जाय। सर अल्फ्रेड लायल करते हैं कि "हम अँग्रेजों के भाग्य अच्छे हैं जिससे हमारी तैयारी होने के पहले मराठों और हममें युद्ध नहीं हुआ"। आगे जाकर जो युद्ध हुआ उनमें अंग्रेजों को पीछे हटने का अवसर कभी नहीं आया। मराठों से पहले छः सात वर्षों के युद्धों के अन्त में जो सन्धि हुई उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि उसमें अंग्रेजों का लाभ ही अधिक हुआ। जिस प्रकार एक के उपद्रव के भय से दूसरा उसे चुप बैठा रखने के लिए कुछ देता है उसी प्रकार मराठों ने भी किया था। इतना ही नहीं किन्तु १७७५ में अंग्रेजों ने मराठों के ठीक मध्यान्ह काल में भी निर्भयता से चढ़ाई कर साष्टी द्वीप ले लिया और मराठे उसे वापिस न छीन सके। ऐसी दस पाँच लड़ाइयाँ ही गिनाई जा सकेंगी, जिनमें अंग्रेजों की बहुत भारी हानि अथवा पराभव हुआ हो और ऐसे उदाहरण तो दो एक ही मिल सकेंगे जिनमें अंग्रेजों को बदमामी से भरी हुई सन्धियाँ करनी पड़ी हो। इतिहास के पाठकों को यह विदित ही है कि एक बार भारत के राजा महाराजाओं से युद्ध प्रारम्भ कर देने पर अंग्रेजों को एक पर एक लगातार विजय किस प्रकार मिलती गई और किस प्रकार वे राज्य प्राप्त करते गये ?

भारत में अंग्रेजों को ले दे कर सबसे वलिष्ट प्रतिस्पर्द्धी मराठा थे। जब अठाहरवीं शताब्दी के अन्त में मराठों को भी अंग्रेजो के आगे नीचा देखना पडा तो औरों की तो बात ही क्या। अंग्रेजी सत्ता की प्रखर ज्योति फूट निकलने पर उसमें भारतीय राजा महाराजा कांच के समान पिघलने लगे। बंगाल, अवध, कर्नाटक आदि स्थानों के नवाब, जाट राजपूत आदि उत्तर भारत के राज्य बहुत थोड़े परिश्रम से उनके आश्रय में जाने लगे। कितनों के ऊपर तो हथियार उठाने की आवश्यकता ही नहीं हुई और वे स्वयंम ही स्नेह की याचना करते हुये अंग्रेजों के आश्रय में आये। अंग्रेजों को प्राय: तीन ने अर्थात मराठे, हैदर व टीपू तथा सिक्खों ने ही अधिक त्रास दिया। किन्ही किन्हीं बातों में तो मराठों की अपेक्षा हैदर और सिक्खों ने ही अधिक त्रास दिया था। नहीं तो बाकी के संस्थानिकों के साथ तो अंग्रेजों ने इसी प्रकार का खेल खेला कि पकड़कर के नीचे पटक दिया और अपने तईं सिर झुकवाया था। न झुकाने पर गर्दन तोड़ दी अर्थात राज्य नष्ट कर दिया। लार्ड डलहौसी के समय में जो अनेक राज्य दत्तक लेने की इजाजत न मिलने के कारण खालसा किये गये, वे अँग्रेजों ने कुछ जीते नहीं थे। मालूम होता है कि राज्य सत्ता स्थापित करने के लिए यह बात की गई थी परन्तु इस का अर्थ यह भी हो सक्ता है कि लार्ड डलहौसी के समय के पहले ही अंग्रेजों के आगे भारतवर्ष ने ऐसा करना निश्चय कर लिया था।

अंगरेजों को बिना प्रतिबन्ध के जो यश मिलता गया उसमें उनका भाग्य तो कारण है पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसके साथ साथ उनके कुछ विशेष गुण भी कारण हुए हैं। इतिहास की चर्चा ऐतिहासिक बुद्धि से ही करना उचित है। उसमें अभिमानादि अन्य बातों की मिलावट करना उचित नहीं। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी कई ऐसी बाते हैं जिनके कारण हम मराठाशाही के सम्बन्ध में अभिमान कर सकते है। उनका हम आगे बर्णन करेंगे ही, परन्तु अंग्रेजों के चरित्र के सम्बन्ध में बोलने का अवसर उपस्थित होने पर भी हमें उनके चरित्र की परीक्षा पक्षपात रहित होकर ही करनी चाहिए। तब ही यह कहा जा सकेगा कि हममें शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि है।

अंगरेजों के सुदैव के तीन उदाहरण दिये जा सकते है। पहला उदाहरण यह है कि मराठा और अंगरेजों में जो प्रत्यक्ष युद्ध पहले पहल हुआ वह उससे बहुत पहले होना चाहिए था पर न हो सका और महादजी सिन्धिया तथा नानाफड़नवीस को अंग्रेजों के सम्बन्ध में जैसा सन्देह हुआ वैसा शिवाजी को नहीं हुआ, नहीं तो वे अंग्रेजों को बम्बई में नहीं टिकने देते। इसके सिवा अंग्रेजों का मुख्य केन्द्र बंगाल में था जहाँ कि उस समय मराठों का हाथ पहुँचना कठिन था। दूसरा उदाहरण यह है कि

अंगरेजों और फ्रेंचों का युद्ध उस समय होकर समाप्त भी हो गया जिस समय कि भारत के नरेशों का अंगरेजों के राज्य योग का स्पष्ट रूप से ज्ञान भी नहीं हुआ। तीसरा यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के पश्चिमोत्तर में सिक्ख जैसे सैनिक लोगों का राष्ट्र उदय में आया और उन्होंने उस ओर सीमा प्रान्त का द्वार बन्द कर दिया। इन तीनों में से यदि एक भी बात विरुद्ध हुई होती तो अंगरेजी राज्य के लिए भय ही था। परन्तु स्वयं काल ही अंगरेजों का पक्षपाती हुआ और उसने बड़ी सहायता की। अस्तु सुदैव के साथ यदि गुणवान की जोड़ मिले तो फिर पूछना ही क्या? और तभी सुदैव का भी वास्तविक उपयोग हो सकता है। नादान मनुष्य की सहायता दैव भी कहाँ तक करेगा। अंगरेजों में सुदैव के साथ साथ गुण भी थे और तभी वे सफलता प्राप्त कर सके। उनके गुण इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं:—

१—नियमितता और व्यवस्था से प्रेम

२—धीरज

३—एकनिष्ठता और साहस,

४—स्वराष्ट्र प्रेम और राष्ट्र की कीर्ति की इच्छा

५—लोकोत्तर कर्तव्यनिष्ठा।

इन गुणों के कारण ही प्रतिकूल परिस्थिति में भी वे इतना बड़ा साम्राज्य प्राप्त कर सके। यह बात नहीं है कि उनमें लोभ, अन्याय की अपेक्षा, ढोंग, कपट, पटुत्व आदि मुख्य दोष नहीं थे। उदाहरण के लिए देखिये कि मराठों पर जिन दूसरों का राज्य छीन लेने का अरोप किया जाता है, उस आरोप से अंगरेज भी मुक्त नहीं हैं। उन्होंने १७६४ में रूहेलों पर और अफगानिस्तान पर चढ़ाइयाँ की थी उनका समर्थन अंगरेज ग्रन्थकार भी नहीं करते।

इसी तरह रघुनाथराव का पक्ष लेकर अंगरेजों ने जो मराठों से युद्ध किया उसे भी स्वयं वारन हेस्टिंग ने भी अन्यायपूर्ण बतलाया है। इसमें अन्तर इतना ही था कि रूहेलों पर अन्याय करने का कलंक कलकत्ते वालों पर था और यह कलंक बम्बई वालों ने किया। इस कृत्य का वर्णन करते हुए अलफ्रेड लायल ने बम्बई वाले अंगरेजों को अर्थात "राज्य लेने की कीति के भूखे" बतलाया है। मराठों को भी अंगरेज यही विशेषण लगाते हैं। आगरा के युद्ध में हारने पर अपनी सैनिक कीर्ति नष्ट होने के भय से अँगरेजों ने युद्ध जारी रक्खा और फिर कलकत्ते के अंग्रेजों ने भी मराठों से युद्ध करने की मंजूरी अपने आप दी। उस समय कंपनी में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो इस प्रकार

के युद्ध के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इस व्यवहार से भारतवर्ष के सब राजा महाराजा मिलकर हमें निकाल देंगे और हमारा व्यापार भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार का भय प्रगट करने वालों के कारण ही अंगरेजों ने भारत में जो काम किये है उनके सम्बन्ध मे निन्दात्मक और निषेधात्मक साहित्य देखने को मिलता है। धीरे धीरे विलायत के व्यक्तियों का यह भय भी दूर होने लगा। क्योंकि उस समय वे समझ गये थे कि हमारे राज्य लेने से भारत के राजा महाराजा भी अप्रसन्न नहीं है। किन्तु काम पड़ने पर हमसे मिलकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और हमारी सेना भारतवासियों की सेना से भी अच्छी है। ये बातें जब उनके ध्यान में आई तब उन्होंने भी न्याय दृष्टि की उपेक्षा की। विलायत के न्यायप्रिय और स्वतंत्रमतवादी पुरुषों ने भी मौन धारण कर लिया, और कंम्पनी के व्यापार तथा पूंजी के व्याज को धक्का न पहुँचते हुए चाहें जो काम करो ऐसी नीति स्थिर हो गई। हेस्टिंगज साहब पर जो मुकदमा चला वह अन्तिम था अर्थात उस मुकदमें के बाद फिर किसी ने कम्पनी के अन्यायपूर्ण कामों का विरोध नहीं किया। इसका कारण हेस्टिंग्गज के निजी प्रतिस्पर्द्धियों की अधिकता थी। एक इसी कम्पनी को ही व्यापार करने का ठेका होने के कारण कम्पनी के भागीदारों की वृद्धि विलायतवासियों को नहीं सुहाती थी। आगे जाकर यह ठेका बन्द कर दिया गया और हर एक अंग्रेज को भारत में जाकर व्यापार करने की आज्ञा दी गई। अत: गृह कलह भी नष्ट हो गई और इधर भारत में भारत के राजा महाराजाओं का जो भय था वह भी नहीं रहा। इस प्रकार कम्पनी सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों पर जो दुहरा दवाव था उसके न रहने से लार्ड बेवेस्ली और लार्ड डलहौजी जैसे गवर्नर जनरलों ने आकर मनमाना शासन किया और मराठों को भी दबाया। उस समय अग्रेजों के विरुद्ध किसी ने चूं तक नहीं की, यह कितना भारी आश्चर्य हैं।

यह कोई भी स्वीकार नहीं करेगा कि मराठों में अन्यायवादी दोष नहीं थे। अतएव मराठों और अंग्रेजों के समान धर्मों की तुलना करने के कुछ प्रयोजन नहीं है। उन्हें तो समान समझ कर छेना ही उचित है। मराठों और अंगरेजों में यदि विषमता थी तो उन गुणों में थी और मराठों की अपेक्षा वे गुण अंगरेजों में अधिक थे। इसीलिए अंगरेज अपने अन्य दोषों से भी जितना लाभ उठा सके उतना मराठे न उठा सके। अंगरेजों के उक्त गुणों में से एक दो गुणों का अनुभव तो उस समय के मराठों को भी हो गया था। बाजीराव द्वितीय के समय में अव्यवस्था से स्वयं मराठी राज्य के लोगों को भी घृणा हो गई थी और इसीलिए जब वाजीरावशाही नष्ट हुई तब किसी मराठे ने उसके लिए अंगरेजों के विरुद्ध हाथ नहीं उठाया। यदि लोग अप्रसन्न न होते

तो क्या उन्होंने पेशवा का इतना बड़ा खानदानी राज्य आँखों देखते, बात की बात में, नष्ट होने दिया होता। इससे विदित होता है कि बाजीराव के जाने के बाद अंग्रेजों के आने पर लोगों ने इसे राष्ट्रघातक राज्यक्रान्ति न समझ यही समझा होगा कि अयोग्य और अन्यायपूर्ण कृत्य करने वाले के पंजे से भले छूट गये। जगत के इतिहास में राजा के नष्ट होने पर राज के प्रेम से नहीं पर राष्ट्र-प्रेम और स्वाभिमान के वश लड़कर राजधानी की रक्षा करने के उदाहरण कई मिलते हैं, परंतु पूना के शनिवारवाड़े के ऊपर से पेशवा का झण्डा उतार कर अंगरेजों की ध्वजा चढ़ाने वाले मनुष्य को, देशाभिमान की दृष्टि से अब अधम या नीच कुछ भी कहो पर उस समय के लोगों ने उसे अपना उपकार कर्त्ता ही समझा होगा, तभी अपनी छाती पर ऐसा कृत्य करने दिया। सुराज्य के उत्कृष्ट लाभों को भी हजम करने वाले स्वातन्त्र्य-नाश का परिणाम अब दिखने के कारण अंगरेजों के सम्बन्ध में हमारी कृतज्ञता-बुद्धि में सहज कमी हो गई, परन्तु दन्त कथा और कागज-पत्रों पर से यही विदित होता है कि आज मर्यादित स्वराज्य माँगने के समय हमारी अंगरेजों के प्रति जितनी आदर बुद्धि है उसकी अपेक्षा सौ वर्ष पहले हाथ के सम्पूर्ण स्वराज्य को खोने के समय महाराष्ट्रियों में अधिक आदर-बुद्धि थी। यद्यपि यह बात नहीं है कि अंगरेजों ने यदि बाजीराव का राज्य नहीं लिया होता तो स्वयम् पूना के लोगों ने अंगरेजों से राज्य लेने की प्रार्थना की होती। परन्तु यह बात सत्य है कि अंगरेजों के राज्य लेते समय मराठों ने युद्ध नहीं किया। सम्भाजी के बाद जब मुगलों ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई की तब मराठों ने बीस वर्ष तक अपने जीवन को मिट्टी में मिलाकर स्वातन्त्र्य-रक्षा के अर्थ युद्ध किया, परन्तु उन्हीं मराठों की चौथी पाँचवी पीढ़ी आज के समान निशस्त्र न होने पर भी अंगरेजों के राज्य लेते समय कुछ न बोली। इसका कारण अवश्य वही होना चाहिए जो हम ऊपर बतला चुके हैं। उस समय अंगरेजों से लड़ने के लिए १८५७ की अपेक्षा भी अधिक अनुकूल परिस्थिति थी। फिर भी वे अपने घर पर चुपचाप ही बैठे रहे। इसका प्रयोजन और क्या हो सकता है। यह बात नहीं है कि यदि वे युद्ध करते तो उन्हें अवश्य सफलता मिलती ही परन्तु स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए कोई राष्ट्र जब जीजान पर खेलकर लड़ने लगता है तब वह पहले सफलता असफलता का विचार नहीं करता। बोअर लोग अंगरेजों के विरुद्ध और बेलजियम के लोग जर्मनी के विरुद्ध लड़ने को जब तैयार हुए तब वे शत्रु को समान बली समझ कर या अपने को सफलता अवश्य मिलेगी इस भावना से तैयार नहीं हुए थे। प्रेसीडेन्ट क्रूगेर ने कहा था कि "हम जगत को चकित कर देंगे" इसका प्रयोजन यह नहीं था कि अंगरेजों का नाश कर जगत को चकित करेंगे, किन्तु अपने स्वातन्त्र्य प्रेम-मूलक आत्म-यज्ञ से चकित करने का प्रयोजन था। परन्तु मराठे या तो स्वातन्त्र्य से घबड़ा

गये होंगे या उन्हें अंगरेजों के आने से अधिक लाभ की आशा रही होगी इसलिए उन्होंने कुछ हलचल नहीं की।

मराठाशाही निर्दोष हो या सदोष हो, परन्तु वे उसे अपने हाथ में रख न सकें। आज की स्थिति भी उस समय की स्थिति की अपेक्षा सब तरह से अच्छी नहीं है। आज भी कई बातों में मराठाशाही का स्मरण होने और दुःख करने की जगह है। सबसे बड़ी बात तो सदोष स्वातन्त्र्य ही की है। कौन कह सकता है कि इसमें पसन्द करने योग्य दोनों नहीं है ? इसमें शंका नहीं कि मराठाशाही के सदोष होने पर भी मराठों का उस समय जो तेज था वह तेज आज नहीं है। तेज अनेक अनुकूल बातों का परिणाम होता है। और ऐसी अनुकूल बात मराठाशाही में थी। मराठाशाही में जिन-जिन बातों की कमी थी वह हम ऊपर दिखला चुके हैं, पर कई बातें ऐसी थी जो आज नहीं है। उदाहरण के लिए आज की अपेक्षा उस समय महाराष्ट्र अधिक धनवान था। स्वतंत्रता, पौरुष, पराक्रम, प्रगट करने का अवसर था और राज्य कार्य का अनुभव तथा भाग्य की परीक्षा करने के साधन और स्थान थे। और सबसे बड़ी बात राष्ट्रीय कीर्ति थी। मराठों की राजधानी पूना में होने कारण के सम्पूर्ण महाराष्ट्र की ओर से पूना में और महाराष्ट्र के सम्पूर्ण भारत में प्रवेश होने के कारण भारतवर्ष की ओर से महाराष्ट्र में सम्पत्ति का प्रवाह बहता था। यद्यपि यह बात सत्य है कि उस समय की स्वतंत्रता के साथ-साथ अस्वस्थता बेचैनी भी थी, परन्तु किन्हीं बातों में अस्वस्थता भी किसी अंश में मनुष्य को तेजस्वी बनाने में उपयोगी होती है। जिसका जन्म ठंडी जगह में हुआ हो वह छत्री के बिना घर के बाहर नहीं निकलता। आत्म समर्थ और आत्मविश्वास, वेदसंहिता के समान नित्य पाठ करने से ही जागृत रह सकते हैं। जिसे दूसरे पर चलना सिखाया जाता है कालान्तर में उसके पैर लूले हो जाते हैं। मराठाशाही में उस समय अस्वस्थता होने के कारण मराठे लोग सदा सावधान और अपने पाँवों पर खड़े रहते थे। जगत में गुण की कीमत से अवसर की कीमत दश गुनो होती हैं। आज फ्रेंच सिपाही को राष्ट्र का स्वयं सेनापति होने की और अमेरिका को अपने राष्ट्र का प्रेसीडेन्ट होने की जिस प्रकार महत्वाकांक्षा रहती है उसी प्रकार उस समय भी मराठों को पहले प्रति के सरदार और नीतिज्ञ शासक होने की महत्वकांक्षा होती थी। राणोंजी सिन्धिया एक ही पीढ़ी में जूते उठाने वाले हुजरे से पौन करोड़ के राज्य का स्वामी और पेशवा का जामिनदार बन सका। जो मल्हारराव होलकर अपनी पूर्वावस्था में भेड़े चराते और कम्बल बिनते थे, वे ही स्वयं मराठाशाही में साठ लाख के जागीरदार और मालवा के सूबेदार बन सके। बालाजी विश्वनाथ चपरासी से वजीर बन। सके राज्य कारभार और सिपाहीगीरी की पात्रता की ऐसी ही बातें हैं। मराठाशाही के अन्त के सौ वर्षों में

कितने वीर गिनाये जा सकते है ? नानाफड़नवीस के चातुर्य की प्रसंशा अंग्रेज स्वयं करते हैं, परन्तु नाना ने प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के सिवा किसी शाला में जाकर चतुरता नहीं सीखी थी और न परमेश्वर ने पैदा करते समय उसे चतुराई का कलेवा ही साथ में दे दिया था।

काम पड़ने पर उसे करने की शक्ति मनुष्य में अपने आप उत्पन्न होती है। मराठाशाही के इतिहास में इसके उदाहरण स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ते हैं। और न केवल पुरुषों ही के किन्तु स्त्रियों के भी उदाहरण मिलते हैं। शिवाजी की बाल्यावस्था का बृतान्त प्रसिद्ध ही है। पिता ने पुत्र को त्याग दिया था। सिवा माता के किसी का आश्रय नहीं था। उनका हक तीन मुसलमानी राज्यों की कैंची में फँसा हुआ था और उनके विरुद्ध कार्य न करने का पिता का उद्देश्य था। ऐसी दशा में भी बाल्यावस्था में शिवाजी ने प्रशंसा के योग्य कार्य किये और वे अपने पर आ पड़ने के कारण नहीं, किन्तु स्वयं स्फूर्ति से और उस समय के लोकमत के विरुद्ध किये। शिवाजी ने सात आठ वर्ष को अवस्था में बीजापुर दरबार में जो स्वाभिमान का काम किया वह कम नहीं था। उसे यदि दन्तकथा भी मान लें तो केवल उन्नीस चर्ष की अवस्था में शिवाजी का तोरण नामक किला लेकर राज्य पद की आकांक्षा का झंडा गाड़ना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। शिवाजी के समय में भी कृत्रिम शान्ति नहीं थी, अशान्ति ही थी। परन्तु वह तेजस्विता की पोषक थी। सम्भाजी दूसरे गुणों में कैसे ही रहे हों, परन्तु वे तेजस्वी अवश्य थे। आठ वर्ष की अवस्था में बादशाह से मिली हुई पंचहजारी मनसबदारी का काम सरल नही था। परन्तु शिवाजी महाराजके साथ इतनी छोटी अवस्था में वे दिल्ली गये और वहाँ संकट पूर्वक उन्होंने बड़ी ढीठता से काम किये। केवल २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ीं और लड़ाइयों पर जाकर शूरयोद्धा की कीर्ति प्राप्त की। राजाराम पर तो सम्भाजी की अपेक्षा और भीं कठिन प्रसंग आया था। सम्भाजी के बध हो जाने के बाद मराठों ने जो प्रचण्ड युद्ध किये उनमें राजाराम स्वयं नेता थे। और रायगढ़ से जिंजी तक जाकर उन्होंने अपनी कर्तव्यशीलता प्रकट की थी। पहले बाजीराव छोटी अवस्था से राजकीय उथल पुथल के झगड़ों में पड़े थे। नाना साहब को केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में पेशवाई मिली और उन्होंने पहले दिन से ही काम-काज को देखा। नाना साहब के समान वैभवशालिनी कार्यकुशलता विरले ही स्थानों पर देखने को मिलती

है और यह भी केवल ४० वर्ष की अवस्था तक। इसके बाद तो वे संसार ही छोड़ गये थे। बड़े माधवराव के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? उन्होंने केवल ११ वर्ष की अवस्था में राज्य प्राप्त किया और २७ वर्ष की अवस्था में उनकी यह लीला समाप्त हो गई। इतनी छोटी अवस्था में इतनी कर्तव्यशक्ति चतुरता, गम्भीर और प्रोढ़ बुद्धि क्वचित् ही दिखलाई पड़ती है। रघुनाथराव ने केवल २५ वर्ष की अवस्था में दिल्ली लेकर अटक पर झन्डा उड़ाया था। नाना फड़नवीस ने अर्थसचिव का काम संभाला था। सदाशिव राव भाऊ २५ वर्ष से कम की अवस्था में ही मन्डल में प्रविष्ठ हुए और ३० वर्ष की अवस्था में उदयगिरि के युद्ध में विजय प्राप्त की तथा इकतीसवें वर्ष में पानीपत का युद्ध किया जिनमें उन्होंने अपने शौर्य की पराकाष्ठा दिखा दी। विश्वासराव उत्तर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने १९ वर्ष की अवस्था में गये थे। दौलतराव सिंधिया को पूर्ण तरुणावस्था में सिंधिया की गद्दी मिली और उनके-भलै-बुरे पराक्रम केवल बीस ही में हुए। कर्तृत्व शक्ति का सम्बन्ध अवस्था से कुछ नही है। अतएव जो कार्य छोटी अवस्था में किए जा सकते है वे बड़ी अवस्था में नहीं किये जा सकते। ऊपर बतलाए हुए पुरुष तलवार बहादुरी, राज्य कार्य कुशलता और राजनीतिज्ञता सीखने को किसी पाठाशाला में नहीं गए थे। आधुनिक दृष्टि से देखा जाय तो उनकी शिक्षा काम चलाऊ ही थी। परन्तु किसी भी काम को करने की शिक्षा जिस तरह काम को प्रत्यक्ष करने से मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। आज भारत में ३० वर्ष से कम अवस्था के तरुण यूरोपियनों को सिविलसर्विस की परीक्षा देते देख हम आश्चर्य करते हैं परन्तु जिस समय बड़े-बड़े काम करने का अवसर था उस समय मराठाशाही में छोटी अवस्था वालों ने ही बड़े बड़े काम किए थे। जहाँ अवसर ही नहीं वहां बाल पक जाने पर भी पल्ले में नालायकी ही पड़ती है।

एक दृष्टि से मराठाशाही को नष्ट हुए यद्यपि सौ वर्ष हो गये। परन्तु यह भी कहा जा सकता हैं कि दूसरी दृष्टि से वह अभी तक जीवित सी है। क्योंकि ग्वालियर इन्दौर, धार, देवास, कोल्हापुर, अक्कलकोट, सावन्त वाड़ी, मुधोल आदि मराठों के राज्य और सांगली, जमखण्डी, राम दूर्ग प्रभूति ब्रह्मणो के राज्य अभी भी मौजूद हैं और पेशवा के वंशजों की भी छोटी सी जागीर है। इनमें से बहुतों से अंगरेज सरकार के साथ स्वतन्त्र सन्धि हुई है। इसलिए ये अपने को कायदे की भाषा में अंगरेज सरकार के दोस्त कहते हैं। परन्तु दोस्त शब्द नाममात्र के लिए है। प्रत्यक्ष रीति से देखने पर

उनसे स्वतन्त्र राजकीय सत्ता बहुत ही कम है। यद्यपि इनमें से कुछ नरेशों को अन्तर्यवस्था और न्यायादि करने का पूर्ण अधिकार है, परन्तु उनका बाहूय स्वातन्त्रय इतना संकुचित है कि उन्हें, परराष्ट्र की बात तो अलग, अपने आपस के राजाओं के साथ भी विना पोलिटिकल एजेएट की सम्मति के स्वलन्त्र रीति से कोई भी राजकीय व्यवहार करने की आज्ञा नहीं है। वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकते, और यदि कर देते हैं तो उन्हें प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कष्ट उठाना पड़ता है। कहलाते तो वे अंगरेज सरकार के बराबरी के स्नेही हैं, परन्तु स्वतन्त्रता उन्हें वृटिश प्रजा के समान भी नहीं है। अत: उनका होना न होना समान ही है। वास्तव में मराठों का स्वराज्य तो सौ वर्ष पहले ही मर चुका था।

मृत्यु के समान दूसरी हानि नहीं है। कम से कम स्वराज्ज की मृत्यु के समान तो दूसरी है ही नहीं। यद्यपि यह तत्वज्ञान ठीक है कि गत वस्तु का शोक न किया जाय। परन्तु गत वस्तु की स्मृति कौन किस प्रकार नष्ट कर सकता है? सौ वर्ष का काल कुछ थोड़ा नहीं है। तो भी इतने काल में केवल चार पीढ़ियां ही हो सकती है और पेशवाई के स्मरण की बात तो दुर्दैव से चार पांच पीढ़ियों की भी नहीं है। क्यों कि स्वयं बाजीराव बड़ी लम्बी आयु के थे। इसी तरह उनकी पुत्री बीयाबाई आपटे ने भी बड़ी आयु प्राप्त कर गत वर्ष ही (सन १९१७) में सांसारिक लीला संवरण की है। इन बाई को हमने (मूल्य ग्रन्थकार ने) स्वयम् देखा है और उनसे बातचीत भी की है। भला जिसे स्वयम पेशवा की औरत सन्तान से बातचीत करने की और उसके द्वारा पेशवा (बाजीराव दूसरे) के सम्बन्ध में वह चाहे धुंधली स्मृति पर के ही क्यों न हो प्रत्यक्ष अनुभव का वर्णन सुनने का अवसर मिला हो, वह यदि पेशवाई को बहुत प्राचीन बात न समझे तो इसमें न तो कुछ आश्चर्य ही है और न उसका दोष ही।

केवल स्मरण से कोई भी घटना आंखों के सामने मूर्ति मन्त सी खड़ी की जा सकती है। स्वत: आंखों से नहीं देखी हुई वस्तु के स्वरूप की कल्पना लोग अपने मन मुताविब कर सकते हैं; पेशवाई के किसी भी पुरूष वा स्त्री को हमने और पाठको ने नहीं देखा है और न उनके कोई चित्र ही। परन्तु आखे बन्द कर स्मरण करने से पेशवाई ही का क्या महाभारत और रामायण के पात्रों का भी हमें भिन्न स्वरूप से दर्शन प्राप्त हो सकेगा। मन वास्तव में एक दिव्य चित्रकार है और काल को भी जीत लेता है, परन्तु मन की कल्पना से निर्मित चित्रों के द्वारा किसी गत बात को प्रत्यक्ष व्यवहार में लाना हो नहीं सकता। अत: काल यहां पर अपना पूरा वदला लेता है।

मनुष्य जो गत घटनाओं का स्मरण करता है वह उन्हें प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने ही के लिए नहीं करता। क्योंकि हम अपने वन्दनीय पूर्वजों का स्मरण करते हैं। परन्तु उन्हें फिर जिलाने की नियत से नहीं। यदि हमारे स्मरण रूपी अमृत के सिन्चन से वे पुनर्जीवित हो सके तो फिर उन्हें संसार में रहने को स्थान ही पूरा न हो और भविष्य की सन्तान के लिए भी रहने की चिन्ता का प्रश्न उपस्थित हो जाय। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि मृत मनुष्यों को हम स्मृति से फिर जीवित कर सकें तो उनको दोष रहित जीवन करना ही हम चाहेंगे दोषी व्यक्तियों को जिलाने से लाभ ही क्या ? गत काल का स्मरण करना कौतुकस्पद और अभिमानास्पद है और गत काल के चुने हुए उत्तम व्यक्तियों को यदि हम जीवित कर सकें तो हम उनकी भीड़ की सहन ही न कर सकेंगे, किन्तु यदि वे बदले के सिवा न मिल सकेंगी तो हम उनके बदले में अपने प्राण भी देने को तैयार हो जावेंगे और उनके बदले के स्थान खाली कर देगें। लेकिन गत काल के होने के कारण क्या हम सदोष व्यतियों को भी जिलाना चाहेंगे ? त्र्यम्बक जी डेंगले, दूसरे बाजीराव, चन्द्रराव मोरे, सर्जेराव धाटके आदि ऐतिहासिक हैं, पर क्या आज हम इन्हें स्वीकार कर सकते हैं ? नहीं, क्योंकि जब वे अपने ही समय के पुरुषों को अप्रिय थे तो हमें प्रिय कैसे हो सकते है ? केवल इतिहास प्रसिद्ध होना ही वास्तविक कीर्ति नहीं है। जो व्यक्ति अपने निजी सदगुणों के कारण नामांकित और कीर्तिमान हो चुका है वह ही यदि फिर मिले तो हम प्राप्त करना चाहते है और जिसने अपने दुष्टाचरण से इतिहास को कलंकित किया और राष्ट्र की हानि की, उसका काल के उदर में हजम हो जाना ही अच्छा है। उसकी दुरुस्मृति जो आज भी हमारे मन में शल्प के समान ढाँचा मारती हैं उतनी ही बहुत है।

यह भी एक प्रश्न ही है कि स्वयम काल हमारे लिए योग्य व्यक्तियों को जीवित छोड़ेगा या नहीं। जिस तरह एक आध व्यवहार चतुर व्यापारी अच्छी और खराब चीजों का मिश्रण कर बेंचता है, उसमें से छाँटने नहीं देता उसी तरह काल ने कुशलतापूर्वक प्रत्येक पीढ़ी में अच्छे और बुरे तरह के मनुष्यों को मिलाया है। अतः वह हमें अच्छे अच्छे व्यक्तियों की ही कैसे लेने देगा ? यदि ऐसा नहीं होगा तो एक पीढ़ी तो सुगुणी अच्छे मनुष्यों की और दूसरी सम्पूर्ण बुरे मनुष्यों की हो जायगी और इस तरह ईश्वर की लीला वैचित्र्य सिद्ध नहीं हो सकेगी।

पूर्वजों के गत काल को हम दो दृष्टि के विन्दुओं से देखते हैं। एक तो अभिमान की दृष्टि से, दूसरे इतिहास और विवेक की दृष्टि से। अभिमान की दृष्टि में अच्छे बुरे का भेद नहीं होता और कुछ सीमा तक गुण दोष भूल कर गत का॰ अभिमान करना स्वाभाविक और योग्य भी दिखता है। अभिमान की दृष्टि से स्वकीयों के इतिहास रूपी पर्वत की शिखर कर्तृस्वरूपी शुभ हिम से ढंकी हुई और कीर्तिरूपी उज्ज्वल सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई दिखलाई पड़ती है। क्योंकि अभिमान दूर से और कौतुक बुद्धि से देखता है। परन्तु ऐतिहासिक बुद्धि पास जाकर शोधक बुद्धि से देखती है। अत: उसे स्वकीयों के इतिहास पर्वत का खड़बड़ापन, ऊँचा-नीचा भाग, उसकी भयंकर गुफाएँ और उनमें के भयंकर जन्तु, विषैले वृक्ष, कंटीली बेल आदि सब दिखता है और इनकी शोध करनी पड़ती है।

श्रीयुक्त राजवाड़े के समान मराठाशाही का अभिमान करने वाला दूसरा मराठा शायद नहीं मिलेगा, परन्तु इन्होंने भी अपने तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में निम्न लिखित उदगार प्रगट किये हैं :—

सन् १७९६ से १८१८ ई० तक बाजीराव के शासन काल में, लड़ाई झगड़े, परस्पर द्वेष, देश द्रोह, यादवी भ्रष्टाचार आदि सब कुछ हुआ और अन्त में भारत वर्ष से मराठों की सत्ता नष्ट होने का समय आ गया। दुष्ट, भ्रष्ट डरपोंक, अविश्वासी और अकर्मण्य बाजीराव से यदि सब सरदारों का द्वेष हो गया था, तो उसे निकाल कर दे अपनी संयुक्त सत्ता को बनाये रख सकते थे। सिन्धिया, होलकर, गायकवाड़ पटवर्धन प्रभृति सरदार संयुक्त सत्ता को रखने में समर्थ नहीं थे। यह बात भी नही है, वे समर्थ अवश्य थे। महाराष्ट्र के शिलेदार, सुखी गृहस्थ साधू, सन्त, भिक्षुक और शास्त्री भी कहीं भाग नहीं गये थे। अर्थात उस समय भी सब कुछ था, परन्तु यदि नहीं थे तो परस्पर विश्वास और देशाभिमान आदि राष्ट्रीय सत्ता के मुख्य अंग, और इनके न होने से सब लोगों ने बाजीराव को ब्रह्मावर्त जाते हुए बड़ी खुशी से देखा। ब्रह्मेन्द्र स्वामीं के पढ़ाये हुए, चुगली करने, लड़ने, झगड़ने और विश्वासघात करने के पाठ को दो पीढ़ी तक न भूलने ही का यह परिणाम था। औरँगजेब के समय में किस राष्ट्र के मनुष्यों ने स्वातन्त्रय रक्षार्थ प्राण पन से चेष्टा की थी उसी राष्ट्र के लोग बाजीराव के समय में स्तब्ध और उदासीन होकर बैठ गये। रामदास और परशुराम के उपदेश के ये भिन्न परिणाम हुए। १७९५ में नाना फड़नवीस के जमाने

में जो इमारत बड़ी मजबूत दिखती थी उनके पश्चात दन पाँच वर्षो में उसका धराशायी हो जाना लोगों को आश्चर्य चकित करता है। परन्तु इस राष्ट्रीय नीतिमत्ता, ब्रह्मेन्द्र स्वामी से लेकर दो तीन पढियों में गिरते गिरते बाजीराव के समय में पूर्णतया नष्ट हो गई। इस बात पर यदि ध्यान दिया जाय तो फिर आश्चर्य करने का का कोई कारणही न रहे। नाना फड़नवीस के समय में ही महादजी सिंधिया, तुकोजी, होलकर, फतेहसिंह, भौंसले पटवर्धन आदि महाराष्ट्र साम्रज्य के सरदारों ने पर राष्ट्रों से सन्धिकर अपने संयुक्त सत्ता को आधा कर दिया था। और नाना फड़नवीस सरीखे नीतिवान नीतिज्ञ के चले जाने पर यह अनीतिमत्ता अनियन्त्रित हो गई और इस तरह ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने जो वृक्ष लगाया था उसमें कडुवा फल लगा।

राजवाड़े महाशय के लिखने में ब्रह्मेन्द्र स्वामी ही मुख्य हैं, परन्तु इसे यदि एक उपलक्षण भी मान लें तो भी मराठाशाही के कट्टर अभिमानी को भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मराठा-शाही के सम्बन्ध में कितनी कठोरता से बोलना पड़ता है यह उपर के उद्धरण से विदित होगा।

हम लोग आज जो मराठाशाही का स्मरण कर रहे हैं वह जैसी की तैसी या सुधरी हुई मराठाशाही को पुन: प्रतिष्ठित करने की इच्छा से नहीं कहते। और इच्छा हो भी तो हमारी आज शक्ति नहीं है, यह हम अच्छी तरह समझते हैं। मराठाशाही रखने की शक्ति आज की अपेक्षा उस समय के लोगों में सौ गुनी अधिक थी और आज की हमारी परिस्थिति इस कार्य की दृष्टि से उल्टी सौ गुनी कम है।

सन् १९११ में हम (मूल ग्रन्थकार) बम्बई गवर्नर के एक कौन्सिलर माननीय मारिसन से कुछ कारणों से मिलने के लिए गए थे। उनसे और जो बातचीत हुई थी उसका यहाँ हमें स्मरण होता है। उस समय वे कुछ क्रोध के आवेश में थे। वे बोलते बोलते उछलकर कहने लगे कि 'तुम्हारे समाचार पत्र को हाथ में लेते ही बिना पढ़े मेरी ऐसी धारणा हो जाती है कि राजद्रोही लेख होना ही चाहिए। तुम्हारे मन में क्या विचार घुलते हैं, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ।" इस पर हमने कहा कि "आप जब मन की बातें सब जानते है तो मेरे मन में क्या है उसे स्पष्ट ही कह दीजिए न जिसमें मैं उसका स्पष्टीकरण कर सकूँ। साहब ने उत्तर दिया कि "तुम्हारे मन में दो तरह के विचार हैं, एक तो तुम्हारा स्वत: का जो मराठी राज्य नष्ट हुआ है उस विषय में तुम्हें दुख: होता है। दूसरे तुम अंगरेजों को बोरिया

बसना बाँधकर भगा देना चाहते हो।" इस पर मैंने (मूलग्रन्थकार ने) फिर उत्तर दिया कि—"आपने मुझ पर दो आरोप किये हैं । उनमें से पहले को तो मैं स्वीकार करता हूँ कि सौ वर्ष पहले इसी शहर में हमारा मराठी राज्य था इसका मुझे अभिमान है और उसके नष्ट होने से हमें हृदय से दुःख है। पेशवाई देखे हुए मनुष्यों से जिन्होंने बातचीत की है ऐसे मनुष्यों से जब कि हम आज प्रत्यक्ष में बातचीत करते हैं तब इतने नजदीक की घटना को हम भूलना चाहे तो नहीं भूल सकते। उसका स्मरण कर खेद होना मनुष्य स्वभाव के अनुकूल ही है, परन्तु मुझपर जो आप दूसरा दोषारोपण करते है, वह सत्य नही है क्योंकि पेशवाई के गुणों के साथ-साथ दोष भी हम जानते हैं। इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि हम पेशवाशाही को पुन: प्रस्थापित करना चाहते हैं तो इष्टानिष्ट, शक्यता, अशक्यता का विवेचन करने की बुद्धि मुझमें और मेरे मत के अन्य मनुष्यों में ईश्वर ने नही दी, यह आप कैसे मानते है ?"

अस्तु, मराठे अपने गत नाम के अभिमान को कभी नहीं भूलेंगे यह हमें आशा है। इसी तरह इतने मूर्ख भी नहीं बनेंगे कि नवीन परिस्थिति न पहिचाने। आज जो उनकी सम्पूर्ण भारत में प्रतिष्ठा है उसका उनके देशाभिमान के साथ-साथ समयज्ञता भी एक कारण है। पहले जिस तरह मराठे दिल्ली तक दौड़कर जाते थे उसी तरह आज भी जाते हैं और उस समय का तथा आज का कारण भी वही राजकीय महत्वाकांक्षा है। परन्तु पहले की अपेक्षा आज एक दूसरे ही अर्थ से वे सारे भारत को अपना देश समझने लगे हैं। इसी तरह देश के दूसरे भागों के निवासी भी पहले जो मराठों से द्वेष रखते थे अब नहीं रखते। प्रत्युत बन्धुत्व के नाते से व्यवहार करते हैं। कलकत्ते की सीमापर मराठा डिच अर्थात् मराठा खाई नामक जो स्थान आज भी मौजूद है उसे बंगाली और मराठे दोनों नहीं भूले हैं और मराठों का नाम जो वहाँ (बंगाल में) अपकीर्ति का कारण हो गया था वह अपकीर्ति भी नष्ट हो गई है। पालने में सोये हुए अज्ञान बंगाली बालकों को डराने में जिस शब्द का उपयोग किया जाता था उस नाम का आज तरुण और प्रौढ बंगाली भी प्रेम और कौतुक से आदर करते हैं।

अभिमान का विषय जिस तरह बढ़ता है उसी तरह स्वयं अभिमान भी बढ़ता है। इस लिए मराठों को, 'मराठा' नाम की अपेक्षा 'हिन्दवासी' यह नाम अधिक प्रिय होने लगा है। स्काच लोग स्काच नाम का उपयोग वर्ष में एक दिन अर्थात् सेन्ट

एन्ड्रूज नामक साधु पुरुष की पुन्यतिथि के दिन करते है और इसी नाम से जयघोष करते हैं। परन्तु शेष ३६४ दिनों में वे अपने को ब्रिटिश ही कहलाने में प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार मराठों में भी स्थिति के अनुसार अन्तर हो गया है और जब कि वे सारे भारतवर्ष को अपना देश मानने लगे है तब स्वतः को मराठे कहलाने की अपेक्षा 'भारतीय' कहलाने में उन्हें अधिक अभिमान होना स्वाभाविक है। पूर्व काल में मराठों ने युद्ध में विजय प्राप्त की थी, आज वे शान्ति में विजय प्राप्त कर रहे हैं, और भविष्य की विजय किस प्रकार की होगी यह परमेश्वर हो जाने।

—समाप्त—